भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रमाण-पत्र

(Certificate Course in Indian Knowledge System)

ज्ञान-मीमांसा CCIKS- 102

Indian Epistemology

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी-263139

Toll Free : 1800 180 4025
Operator : 05946-286000
Admissions : 05946-286002
Book Distribution Unit : 05946-286001
Exam Section : 05946-286022
Fax : 05946-264232
Website : http://uou.ac.in

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति **CCIKS- 102**

कुलपति (अध्यक्ष)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
प्रोफेसर ब्रजेश कुमार पाण्डेय,
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
प्रोफेसर जे. के. गोदियाल,
पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृतविभाग,
हे.न.ग.विश्वविद्यालय श्रीनगर।
प्रोफेसर देवेश कुमार मिश्र,
संस्कृत विभाग, इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

प्रोफेसर रेनू प्रकाश (संयोजक)
निदेशक, मानविकी विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
डॉ0 नीरज कुमार जोशी,
असि0 प्रोफे0-ए.सी.संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
श्री राहुल पन्त,
असि. प्रोफे-ए.सी. संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
डॉ0 सुधीर प्रसाद नौटीयाल,
असि. प्रोफे-ए.सी. संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक एवं सम्पादन

डॉ0 नीरज कुमार जोशी
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	खण्ड	इकाई संख्या
डॉ. अनुपपति त्रिपाठी,	**खण्ड 1**	(इकाई 2 एवं 3)
भारत अध्ययन केंद्र, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी	**खण्ड 2**	(इकाई 1 से 4)
प्रोफेसर देवेश कुमार मिश्र,	**खण्ड 3**	(इकाई 1 से 3)
संस्कृत विभाग, इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली		
डॉ0 वन्दना द्विवेदी,	**खण्ड 4**	(इकाई 1 से 3)
वरिष्ठ सहायक प्राध्यापक, नवयुग कन्या महाविद्यालय, लखनऊ		
डॉ0 नीरज कुमार जोशी,	**खण्ड 1**	(इकाई 1)
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग	**खण्ड 5**	(इकाई 1 से 3)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी		

आवरण पृष्ठ

डॉ0 नीरज कुमार जोशी, असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

प्रकाशक: (उ0 मु0 वि0, हल्द्वानी) -263139
कॉपीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
पुस्तक का शीर्षक- ज्ञान-मीमांसा CCIKS- 102
प्रकाशन वर्ष : 2025
ISBN No.
मुद्रक:

नोटः- इस पुस्तक में लिखित इकाइयों से सम्बन्धित किसी भी प्रकार की आपत्ति के निस्तारण का उत्तरदायित्व इकाई लेखक का होगा । इस सामाग्री का उपयोग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित प्रशासनिक अनुमति के बिना अन्यत्र कहीं नहीं किया जा सकता।

अनुक्रम

खण्ड- एक (Section-A) प्रमाण सिद्धान्त	**पृष्ठ संख्या 01-04**
इकाई-1 भारतीय दर्शन	05-29
इकाई-2 प्रमाण सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास	30-40
इकाई-3 ज्ञान एवं प्रमाण्यवाद	41-60
खण्ड- दो (Section-B) प्रमाण : अनुप्रयोग	**पृष्ठ संख्या 61**
इकाई-1 ग्रन्थ विश्लेषण में प्रमाणों के अनुप्रयोग	62-74
इकाई-2 आयुर्वेद में प्रमाणों के अनुप्रयोग	75-87
इकाई-3 विधिशास्त्र में प्रमाणों के अनुप्रयोग	88-98
इकाई-4 प्रमाणों का परिचय (षड् प्रमाण)	99-111
खण्ड- तीन (Section-C) आख्यान परम्परा	**पृष्ठ संख्या 112**
इकाई-1 आख्यान की अवधारणा	113-121
इकाई-2 वैदिक एवं पौराणिक आख्यान	122-139
इकाई-3 भारतीय ज्ञान परम्परा और कथा	140-151
खण्ड- चार (Section-D) वाद परम्परा	**पृष्ठ संख्या 152**
इकाई-1 वाद परम्परा एवं तात्पर्य निर्णय	153-165
इकाई-2 अधिकरण की अवधारणा	166-179
इकाई-3 वैदिक संवादों का परिचय	180-195
खण्ड- पांच (Section-E) ग्रन्थ निर्माण विधि	**पृष्ठ संख्या 196**
इकाई-1 अनुबन्ध चतुष्टय	197-208
इकाई-2 ग्रन्थ सम्पादन की विधियाँ	209-225
इकाई-3 तन्त्र युक्तियाँ	226-239

खण्ड- एक (Section-A)
प्रमाण सिद्धान्त

इकाई. 1 भारतीय दर्शन

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 दर्शन का अर्थ एवं महत्त्व

1.4 दर्शन का प्रयोजन

1.5 भारतीय दर्शन का प्रतिपाद्य विषय

1.6 भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय

1.6.1 आस्तिक दर्शन

1.6.1.1 साख्यं एवं योगदर्शन

1.6.1.2 न्याय एवं वैशेषिक दर्शन

1.6.1.3 मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन

1.6.2 नास्तिक दर्शन

1.6.2.1 चार्वाक दर्शन

1.6.2.2 जैनदर्शन

1.6.2.3 बौद्ध दर्शन

1.7 भारतीय दर्शनों का परस्पर सम्बन्ध

1.8 सारांश

1.9 पारिभाषिक शब्दावली

1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.12 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियो!

भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रमाण-पत्र कार्यक्रम (CCIKS-24) **ज्ञान-मीमांसा (Indian Epistemology)** नामक पाठ्यक्रम के खण्ड प्रथम से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई है। इस खण्ड में भारतीय दर्शन का स्वरूप एवं उनके प्रतिपाद्य विषय का वर्णन किया गया हैं। प्रस्तुत इकाई में दर्शन का अर्थ एवं महत्त्व तथा उनके सम्प्रदायों का अध्ययन करेंगे। दर्शन ही जीवन है। वही हमारे धर्म तथा आचार की भित्ति है। वर्तमान समाज में विद्यमान धार्मिक तथा समाजिक कलह बाहरी रुपों की और ध्यान देने का ही विषमय फल है। अतः अनेकता के अन्तर्गत हम एकता को पहचाने।

भारतीय दर्शनों का विकास उपनिषदों के बीज रुप में निहित तथा व्यक्त रुप से प्रतिपादित सिद्धान्तों को लेकर हुआ। दर्शन का परम लक्ष्य ही आत्म-दर्शन हैं। स्वयं को जान लेना ही सत्य को जान लेना है। कोई व्यक्ति अपने-आपको जानते ही आनन्द का अधिकारी बन जाता है। इस पाठ्यक्रम की इस प्रथम इकाई में इसी परिप्रेक्ष्य में दर्शन की परिभाषा उसके लक्ष्य, दर्शन-भेद, परम तत्व तथा उसके अधिकारी एवं दर्शनों की तत्व का परिचयात्मक अनुशीलन करेंगे।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- दर्शन शब्द के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- विभिन्न दार्शनिकों के मत से परिचित होंगे।
- आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन से परिचित होंगे।
- दर्शन के महत्त्व को सरलता से समझकर उसके महत्वपूर्ण बिन्दुओं को जान सकेंगे।
- दर्शन की परिभाषा तथा विचारप्रक्रिया से अवगत हो सकेंगे।
- भारतीय दर्शन के प्रतिपाद्य एवं उसकी ज्ञान परम्परा को जान सकेंगे।
- भारतीय दर्शन में उपलब्ध जीवनमूल्यों के विषय को जानने में समर्थ हो सकेंगे।

1.3 दर्शन का अर्थ एवं महत्त्व

दर्शन शब्द **दृशिर् प्रेक्षणे** अर्थ में प्रयुक्त **दृश्** धातु से करण अर्थ में **ल्युट्** प्रत्यय लगा कर बना है। जिसका अर्थ देखा जाये। यहां इतना और भी विचार करना उचित है कि देखा जाये इस पद का साक्षात् अर्थ ज्ञान प्राप्त किया जाए भी हो सकता है या नही। ज्ञान प्राप्त करने के अनेक उपाय है किन्तु सब से निश्चित अर्थात् विश्वसनीय उपाय है प्रत्यक्ष आंख से देखना। **दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्** अथवा **दृश्यते यत् तद् दर्शनम्** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा देखा जाए या जो देखा जाए वही दर्शन है। यहां देखने से अभिप्राय वास्तविकता का अवलोकन करने से है। कहने का तात्पर्य यही है कि वस्तु के सत्यभूत तात्विक स्वरुप का अवलोकन करना ही दर्शन है। दूसरे शब्दों में वह विद्या जिसके द्वारा संसार के अद्भूत सत्यों की खोज की जाए अथवा जीवन के गहन सत्यों को खोजने का प्रयत्न करें वही दर्शन है।

यद्यपि आज फिलॉसफी शब्द दर्शन के लिए प्रयुक्त हो रहा है किन्तु इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। फिलॉसफी शब्द का अर्थ है विद्या का प्रेम अथवा विद्यानुराग। दर्शन वह विद्या है जिसके द्वारा तत्व का साक्षात्कार हो सके। दर्शन की प्रमुख विशेषता व्यावहारिकता है। जीवन की समस्त समस्याओं का हल करने के लिए दर्शन का उद्भव हुआ है। सरल शब्दों में कहा जाये तो दुःखों से दूर होने का एक मात्र साधन दर्शन है। भारत में दर्शन अनुशीलन मोक्ष के लिए किया गया है। मोक्ष का अर्थ ही है दुःखों की निवृत्ति। मोक्ष को परम लक्ष्य मानने के कारण भारतीय दर्शन को **मोक्ष-दर्शन** भी कहा जाता है। आत्मा की परम महत्ता को देने के कारण भी इसे आत्म.विद्या भी कहा जा सकता है। दर्शन एक तथ्य परक सत्य की खोज है। भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषता व्यावहारिकता है। भारत में जीवन की समस्याओं को हल करने के लिए दर्शन का सृजन हुआ है। जब मानव ने अपने को दुखों के आवरण से घिरा हुआ पाया तब उसने पीड़ा और क्लेश से छुटकरा पाने की कामना की। इस प्रकार दुखों से निवृत्ति के लिए उसने दर्शन को अपनाया। प्रो0 हिरियाना के शब्दों में ‘‘पाश्चात्य दर्शन की भांति भारतीय दर्शन का आरम्भ आश्चर्य एवं उत्सुकता से न होकर जीवन की नैतिक एवं भौतिक बुराइयों के शमन के निमित्त हुआ था। दार्शनिक प्रयत्नों का मूल उद्देश्य था जीवन के दुखो का अंत ढूढना और तात्विक प्रश्नों का प्रादुर्भाव इसी सिलसिले में हुआ।’’ अतः व्यावहारिकता और आध्यात्मिकता भारतीय दर्शन की विशेषताएँ है।

जीवन एवं दर्शन- जीवन एवं दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों का एक ही लक्ष्य है निःश्रेयस की खोज करना। जीवन की मीमांसा करना ही दर्शन का उद्देश्य है। जीवन से सम्बन्धित आध्यात्मिक अधिदैविक तथा अधिभौतिक पदार्थ का तात्विक विश्लेषण करना भी दर्शन का कार्य है। ये दोनों एक ही लक्ष्य को सामने रख कर एक ही मार्ग पर साथ-साथ चलने वाले दो पथिक है।

दर्शन एवं विज्ञान- दर्शन का उद्देश्य मनोविज्ञान, भौतिकविज्ञान, शरीरविज्ञान, समाजविज्ञान आदि अन्य विज्ञान-शाखाओं में सामंजस्य स्थापित करके उन्हें एक सूत्र में ग्रंथित करना। अतः दर्शन भी एक विज्ञान है।

दर्शन समस्त शास्त्रों का संग्राहक- दर्शन समस्त शास्त्रों एवं विद्याओं का संग्राहक है। उसमे ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या या परविद्या, अध्यात्मविद्या, चित्तविद्या, तर्क या न्याय, आचारशास्त्र या धर्ममीमांसा, सौन्दर्यशास्त्र या कलाशास्त्र आदि विषयों को प्रस्तुत किया गया है।

इसी विकास के क्रम में अन्तर्भूत भारतीय दार्शनिक मनीषियों ने अपनी जिज्ञासा एवं चिन्तन के बल पर वेदों को आधारभूत करके अपने भिन्न-भिन्न दर्शनों का प्रणयन किया। इसी दार्शनिक व्युत्पत्ति को प्रायः सभी दर्शनों में स्थान प्राप्त हुआ। इसी की व्याप्ति को मानकर करणार्थक ल्युट् प्रत्यय इङ्गित करता है- मनुष्य का वस्तुओं के साथ क्या सम्बन्ध है, उन सम्बन्धों का निर्धारण कैसे करें तथा इनको जानने के साधन क्या हैं ? इन सभी प्रश्नों का एकात्मक उत्तर दर्शन ही है। वस्तुतः भारतीय दर्शनों का अध्ययन करने पर दर्शन शब्द एक अन्य अर्थ ‘‘प्रमाण’’ की भाँति प्रतीत होने लगता है, क्योंकि दोनों ही शब्द करणार्थक हैं तथा साधन के रूप में अवस्थित हैं। इनका मुख्य कार्य ऐसे साधन के रूप में है जो कि अज्ञानादि की निवृत्तिपूर्वक यथार्थ-ज्ञान कराने वाला हो। अतः भारतीय दार्शनिकों नें दर्शन शब्द के देखना, जानना और प्रमा करना इत्यादि अर्थ परिष्कार रूप में स्वीकार किये हैं।

दर्शन शब्द में अलग-अलग विद्वानों ने भिन्न-भिन्न परिभाषा देकर अपने मत प्रस्तुत किये हैं। दर्शन को विज्ञान के रूप में जाना गया है जो परम तत्व के यथार्थ स्वरूप की जांच करता है एवं सनातन स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु दर्शन को प्रथम एवं अंतिम विज्ञान मानते हैं। कुछ दार्शनिकों की परिभाषा निम्नलिखित है-

ओक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार दर्शन वह ज्ञान है जो परम सत् की व्याख्या करता है अथवा वस्तुओं के सामान्य कारणों एवं सिद्धान्तों की व्याख्या करता है।

डॉ0 राधाकृष्णन के अनुसार- दर्शन शब्द का प्रयोग अत्यन्त सोच-विचार के बाद उस विचारपद्धति के लिए किया गया जिसकी प्राप्ति तो अंतर्दृष्टिजन्य अनुभव से होती है, पर जिसकी पुष्टि तार्किक प्रमाणों द्वारा की जाती है।

डॉ0 भगवानदास के शब्दों में दर्शनशास्त्र आत्मविद्या, अध्यात्मविद्या, आन्वीक्षिकी सब शास्तों का शास्त्र, सब विद्याओं का प्रदीप, सब व्यावहारिक सत्कर्मों का उपाय, दुष्कर्मों का अपाय और नैष्कर्म्य है।

श्री अरविन्द- दर्शन का कार्य ज्ञान के भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा उपलब्ध सामग्री को कभी भी न छोड़ते हुए व्यवस्थित करना तथा उनको एक सत्य एक सर्वोच्च सार्वभौम सदवस्तु से समुचित सम्बन्ध में रखना है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के पृथक-पृथक मत दिए हैं। अतः दर्शन का अर्थ यह है कि दर्शन में सत्य पर आधारित ज्ञान की खोज की जाती है। यह जीवन की प्रत्येक वस्तु से सम्बन्धित होता है। दर्शन के अन्तर्गत इहलोक एवं परलोक की बातों को देखने का प्रयास किया जाता है।

1.4 दर्शन का प्रयोजन

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' अर्थात् बिना प्रयोजन के मन्दबुद्धि भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते, तो शास्त्रकारों की प्रवृत्ति प्रयोजन में स्वतः सिद्ध होती है। अतः भारतीय परम्परा में इस उक्ति को अत्यन्त सिद्धयर्थक स्वीकृत किया गया है। यही कारण है कि सभी भारतीय दार्शनिकों ने अपने दर्शनों में पुरुषार्थचतुष्ट्य (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) में मोक्ष को ही परमप्रयोजनार्थ स्वीकृति प्रदान की है, तथा अन्य सभी प्रयोजनों को गौण रूप में स्वीकृत किया है। यद्यपि भारतीय दार्शनिकों ने अपने-अपने चिन्तन के अनुसार प्रयोजनों को भिन्न-भिन्न रुप में स्वीकार किया है। तथापि मोक्ष को दर्शन के परम प्रयोजन के रूप में सभी में एक मत प्राप्त होता है।

अतः भारतीय दर्शनों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इनका परम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है तथा इसी को भारतीय दर्शनों में मोक्ष, ब्रह्मसाक्षात्कार, निःश्रेयस्, निर्वाण, मुक्ति आदि नामों से अभिहित किया गया है। आस्तिक दर्शनों में प्रतिपादित तत्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा का आधार हमारा वैदिक वाङ्मय ही है। इन्हीं का अवलम्बन कर भारतीय मनीषियों नें इनके आत्मज्ञान पक्ष एवं मानव के चरमभूत लक्ष्य मोक्ष के निरूपणार्थ वैदिक श्रुतियों के गूढार्थ को द्वैत और अद्वैतादि दर्शनों में विभाजित किया, जिनका परमलक्ष्य मानव के धर्मार्थ को सम्पादित कर उसे मोक्ष की प्राप्ति कराना है। वस्तुतः भारतीय दर्शनों में तत्वों के अस्तित्व एवं प्राधान्याप्राधान्य में भेद होनें पर भी लक्ष्य में एकात्मकता है तथा

भारतीय दर्शनों का यह भेद भी एकात्मवादी श्रुतियों एवं अनेकात्मवादी श्रुतियों के आधार पर ही है। यद्यपि नास्तिक दर्शनों नें वेदों को अंगीकृत नहीं किया है, तथापि आस्तिक

दर्शनों के बाहुल्य तथा प्राचीनकाल से लेकर अद्यावधि समाज में इनकी स्वीकार्यता एवं प्रबलता के कारण ही अधिकांशतः दार्शनिक भारतीय दर्शन को वेदमूलक ही स्वीकृत करते हैं।

1.5 भारतीय दर्शन का प्रतिपाद्य विषय

भारतीय दर्शन में प्रमुख प्रतिपाद्य विषय- ब्रह्म—

शंकर के मत में ब्रह्म विचार- शंकराचार्य ब्रह्म को ही एक मात्र सत्य मानते हैं। वह एकतत्ववादी है। ब्रह्म प्रकाश के सामान ज्योतिर्मय हैं, वह स्वयं में ही ज्ञान है। ब्रह्म ज्ञान से संसार का ज्ञान जो मूलतः अज्ञान है, समाप्त हो जाता है। ब्रह्म का साक्षात्कार ही परम लक्ष्य है। शंकर ने ब्रह्म को निर्गुण कहा है। उपनिषद में ब्रह्म के सद्गुण और निर्गुण दोनों रूपों में व्याख्या की गयी है। ब्रह्म अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान एवं सम्पूर्ण जगत का आधार है। ब्रह्म को अपरिवर्तनशील भी कहा गया है इसका न विकास होता है न रूपांतर होता है। वह हमेशा एक सा रहता है। उपनिषद में ब्रह्म को **नेति नेति** कह कर प्रस्तुत किया गया है। शंकराचार्य इस **नेति नेति** के आधार पर ही ब्रह्म की व्याख्या की गयी है। वह ब्रह्म को **नेति नेति** के आधार पर अद्वैत कहते है। इस प्रकार ब्रह्म, निर्गुण, निर्विशेष और निर्विकार है। ब्रह्म सत्+चित्+आनन्द= सच्चिदानन्द है।

भारतीय दर्शन में प्रमुख प्रतिपाद्य विषय- आत्मा—

भारतीय दर्शन की मुख्यतः दो धाराएँ है- आत्मवाद एवं अनात्मवाद या नैरात्मवाद। समस्त आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों ने आत्मा को अलग-अलग रूप से बताने एवं समझने का प्रयास किया है। भारतीय दर्शन का केन्द्र-बिन्दु ही आत्मा है। चार्वाक दर्शन को छोड़ कर प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है।

1- न्याय-वैशेषिक के अनुसार आत्मा- न्यायवादी ज्ञान के अधिकरण को आत्मा कहते हैं। ज्ञानाधिकरणमात्मा तर्कसंग्रह न्याय दर्शन के आत्मा के सूचक चिन्ह् बताएं है- **प्राणाप्राननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः। सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चत्मनो लिंगानि॥ (वैशेषिकसूत्र)**

अर्थात् प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर विकार, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, चैतन्य। ये दर्शन वादी आत्मा के दो रुप बताते हैं- **स द्विविधः परमात्मा जीवात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मैक एव। जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नं विभुर्नित्यश्च। (तर्कसंग्रह)** परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक और एक है। ईश्वर का दूसरा नाम ही परमात्मा है और जीवात्मा कर्त्ता, भोक्ता और व्यापक अनेक है। जितने शरीर होते हैं उतनी ही जीवात्मा होती है।

दर्शन में प्रमुख प्रतिपाद्य विषय- माया—

शंकर के मत में माया- शंकर की दृष्टि में माया, अविद्या और अज्ञान समानार्थक शब्द है। इस लिए उन्होंने अविद्या और माया में अंतर नही माना है। माया अध्यास के रूप में हैं। अध्यास का अर्थ है जहाँ जो वस्तु नही है, वहां उस वस्तु को कल्पित करना ही अध्यास है। जिस प्रकार रस्सी में साँप। माया ब्रह्म का विवर्त मात्र है। माया ब्रह्म की शक्ति है जिसके आधार पर वह नाना रूपात्मक जगत का खेल प्रदर्शन करता है। माया अनिवर्चनीय है क्योकि वह न सत् है, न असत् है, न दोनों है। माया ब्रह्म की शक्ति है जिसके आधार पर वह विश्व का निर्माण करती है। शंकराचार्य माया को ईश्वर की शक्ति मानते है। माया ईश्वर की इच्छामात्र है। इसको ग्रहण करना

एवं छोड़ना इसकी इच्छा पर निर्भर करता है। माया ब्रह्म से अभिन्न और अच्छेद्य है। वेदांत में माया को ब्रह्म की शक्ति, अविद्या, अज्ञान, अध्यास, विवर्त, भान्ति आदि शब्दों से व्यवहृत किया गया है। अद्वैत वेदांत के अनुसार प्रकृति को माया तथा परमात्मा को मयी कहा गया है। **"मायाम् तु प्रकृतिम विद्यात् मायिनंच महेश्वरम"** शंकराचार्य के अनुसार माया या अविद्या की निम्नलिखित विशेषताएँ है-

आवरण- वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ढकना ही आवरण कहलाता है। जैसे एक सघन बादल का टुकड़ा दर्शकों की दृष्टि को ढक लेने के कारण अनेक योजन विस्तृत सूर्यमण्डल को ढक लेता है। उसी प्रकार आवरण शक्ति से युक्त माया परिमित होने पर भी प्रमाता की बुद्धि को ढक लेता है।

विक्षेप- विक्षेप का अर्थ है मिथ्या आरोप। किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर किसी अन्य वस्तु के अयथार्थ स्वरूप के आरोप को विक्षेप कहा गया है। जैसे रज्जु में अज्ञान के कारण सर्प का आभास होना ही विक्षेप है।

माया ब्रह्म की अभिन्न शक्ति है। शक्ति रूप में माया ब्रह्म से उसी प्रकार अभिन्न है, अविच्छेद्य है, जैसे दाहकता अग्नि से और संकल्प मन से।

माया के कार्य- माया परमात्मा की सर्जक शक्ति है। माया अपनी विशिष्ट शक्ति से सम्पूर्ण प्रपञ्चात्मक जगत का निर्माण करती है। यह त्रिगुणात्मक एवं अविद्यारूपणि है।

माया और सगुण-निर्गुण का समन्वय- माया सगुण-निर्गुण ब्रह्म की समन्वयकारिणी है। ब्रह्म को एक ओर **नेति-नेति** कह कर निर्गुण और निराकार माना जाता है और दूसरी ओर **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** कहकर सगुण और साकार माना जाता है। अतः माया इन विरोधियों का समाधान करती है। माया रहित होने पर सगुण ही निर्गुण है, मायासहित होने पर निर्गुण ही सगुण है।

माया का भाव एवं अभाव रूप- माया भावात्मक एवं अभावात्मक दोनों है। भावरूप में भी माया सत् नही है। माया का अभावपक्ष आवरण कहलाता है, जो वास्तविक तत्व को ढक देता है। भावपक्ष विक्षेप कहलाता है। वस्तुतः माया न अभाव है और न भाव। यह तो केवल माया है।

माया की अनिर्वचनीयता- माया अनिर्वचनीय है। यह न तो सत् है और न ही असत्। सांसारिक दृष्टि से माया है, सृष्टि है और स्रष्टा भी है, लेकिन पारमार्थिक दृष्टि से न माया है, न सृष्टि है और न कोई स्रष्टा है। अतः माया की एकरूपता संभव नही है। यह व्यावहारिक दृष्टि से है और पारमार्थिक दृष्टि से नही है। इस प्रकार माया अनिर्वचनीय है।

माया और अविद्या – कुछ विद्वान माया को अविद्या या अज्ञान कहते हैं, किन्तु माया और अविद्या में भेद है। माया ब्रह्म की शक्ति है अतः भावात्मक है। अविद्या केवल विद्या का आभाव है, अतः अभावात्मक है। माया ईश्वर की उपाधि है, अविद्या जीव की उपाधि है। माया की उपाधि से परमात्मा स्रष्टा है एवं अविद्या की उपाधि से जीव कर्ता और भोक्ता है।

माया अध्यास है- माया अध्यास है। अध्यास का दूसरा नाम ही अविद्या है- **तमेतमेते लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यते।** किसी वस्तु में अनुपस्थिति किसी अन्य वस्तु का स्मृतिरूप में अवभास होना अध्यास है- **स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।** अर्थात् शुक्ति में रजत् का भान होना अध्यास है। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में अनात्मा प्रपंच का आभास होना अध्यास है- **एवमविरूद्ध प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः।** इसी अध्यास को शंकराचार्य ने अविद्या कहा है।

अतः माया ईश्वर की शक्ति है। यह माया ही है जो ब्रह्म के स्वरूप पर पर्दा डालकर उसे विश्व के रूप में प्रस्तुत करती है। यह शक्ति ईश्वर से पृथक नही की जा सकती है। जिस प्रकार लौ प्रकाश से पृथक नही रह सकती है, उसी प्रकार माया भी ईश्वर से पृथक नही रह सकती है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन के प्रमुख प्रतिपाद्य ब्रह्म के विषय में आपको ज्ञान प्राप्त हुआ। ब्रह्म प्रकाश के सामान ज्योतिर्मय हैं, वह स्वयं में ही ज्ञान है। ब्रह्म ज्ञान से संसार का ज्ञान जो मूलतः अज्ञान है, समाप्त हो जाता है। ब्रह्म का साक्षात्कार ही परम लक्ष्य है। शंकर ने ब्रह्म को निर्गुण कहा है। भारतीय दर्शन में प्रतिपादित आत्मा के स्वरूप को आप जान सके। न्यायवादी ज्ञान के अधिकरण को आत्मा कहते हैं। सांख्य एवं योग में पुरुष को आत्मा का पर्याय माना गया है। वेदान्तवादी जीव, आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नही मानते है। चार्वाक चैतन्य विशिष्ट शरीर को आत्मा मानते हैं। भारतीय दर्शन में जिस सत्ता को आत्मा कहा जाता है उसी को जैन आचार्यों ने जीव कहा है। बौद्ध दर्शन अनीश्वरवादी तथा अनात्मवादी है। ब्रह्म एवं आत्मा के अतिरिक्त भारतीय दर्शन माया का स्वरूप भी बतलाता है। शंकर की दृष्टि में माया, अविद्या और अज्ञान समानार्थक शब्द है। इस लिए उन्होंने अविद्या और माया में अंतर नही माना है।

1.6 भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय

प्राचीन काल से ही दर्शन की दो धाराएं प्रवाहित हुई है। भारतीय दर्शन एवं पाश्चात्य दर्शन। भारतीय दर्शन को पुनः दो भागों में विभाजित किया जाता है- आस्तिक दर्शन एवं नास्तिक दर्शन। वेद मार्ग का अनुसरण करने वाले दर्शन आस्तिक दर्शन कहलाए तथा वेद मार्ग का खण्डन करने वाले दर्शन नास्तिक दर्शन कहलाए। कहा जाता है- **नास्तिको वेदनिन्दकः।** अर्थात् नास्तिको को वेदनिन्दक कहा जाता है। अन्य विद्वानों ने कहा है—

नास्ति वेदोदितो लोक इति येषां मतिः स्थिरा।
नास्तिकास्ते तथास्तीति मतिर्येषां त आस्तिकाः।।

अभ्यास प्रश्न.1

1. दर्शन शब्द में कौन-सी धातु है ?

क. दृश्य ख. दृश्

ग. दृशिर् घ. दृश्यते

2. फिलॉसफी शब्द किस के लिए प्रयुक्त होता है?

क. दर्शन ख. सांख्य

ग. दृश्यत घ. योग

3. दर्शन के मुख्यतः कितने भेद होते हैं?

क. चार ख. दो

ग. तीन घ. छः

4. "वेद का अनुयायी" किसे कहा जाता है?

क. आस्तिक दर्शन ख. नास्तिक दर्शन

ग. विज्ञान घ. ज्ञान

5. "वेद का विरोधी" किसे कहा जाता है?

क. आस्तिक दर्शन ख. नास्तिक दर्शन

ग. विज्ञान घ. ज्ञान

6. सांख्य दर्शन के आदिप्रवर्तक कौन है?

क. गौतम ख. कणाद

ग. कपिल घ. पतंजलि

7. पूर्वमीमांसा कितने प्रमाण को स्वीकार करता है?

क. 5 ख. 2

ग. 1 घ. 6

8. औलूक्य दर्शन किसे कहा गया है?

क. वैशेषिक दर्शन ख. सांख्य दर्शन

ग. न्यायदर्शन घ. चार्वाक दर्शन

9. चार्वाक दर्शन कितने प्रमाण को स्वीकार करता है?

क. 5 ख. 2

ग. 1 घ. 6

10. असत्कार्यवाद किस दर्शन का सिद्धांत है?

क. वैशेषिक दर्शन ख. सांख्य दर्शन

ग. न्यायदर्शन घ. चार्वाक दर्शन

1.6.1 आस्तिक दर्शन

पूर्व प्रसंग में अपने भारतीय दर्शनों का सामान्य परिचय प्राप्त किया। अब हम आस्तिक दर्शनों की चर्चा करेंगे ताकि आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन में अंतर को समझा जा सकें। मूल रूप से दर्शन शब्द 'दृश दर्शने' धातु से करणार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है, जिसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ होता है- 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा या जाना जाए, वही दर्शन है। यहाँ देखने का अर्थ विचार करने से है। दार्शनिक चिन्तन क्रिया मननात्मक है तथा मनुष्य की अनुभूतियों से सम्बद्ध है। इस अनुभूति का सम्बन्ध तत्त्वजिज्ञासा से है, जिसके पश्चात् मनुष्य यथार्थ के विभिन्न अर्थवान् तथ्यों को चेतना में संचित एवं व्यवस्थित करने का प्रयत्न करता है। इस प्रक्रिया में जिज्ञासु विभिन्न नियमों, सिद्धान्तों तथा मान्यताओं के विषय में युक्तियों एवं तर्कों से विचार करता है। वेदप्रामाण्य को आधार बनाकर भारतीय दर्शन का द्विविध विभाग किया जाता है- आस्तिक दर्शन तथा नास्तिक दर्शन। वेद की प्रामाण्यता को स्वीकार करने वाले आस्तिक कहलाते हैं जबकि वेद की प्रामाण्यता को न मानने वाले दर्शन नास्तिक कहे जाते हैं। इस वर्गीकरण के अनुसार सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा-वेदान्त ये 6 दर्शन आस्तिक दर्शन की कोटि में आते हैं तथा चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन को नास्तिक कोटि में रखा जाता है। अब हम सर्व प्रथम आस्तिक दर्शनों के बारे में जानेंगे।

1.6.1.1 साख्यं एवं योगदर्शन

सांख्य एवं योग दोनों एक ही सम्प्रदाय के दो रुप है। सांख्य तत्वों का वर्णन एवं विश्लेषण कर उनका सैद्धान्तिक स्वरुप प्रदान करता है और योग उस तत्वज्ञान की प्राप्ति हेतु प्रायोगिक साधना का विवेचन प्रस्तुत करता है।

सांख्य दर्शन-

समस्त छः आस्तिक दर्शनों में सांख्य दर्शन अत्यन्त ही प्राचीन दर्शन है। सांख्य सिद्धान्त का उल्लेख कठोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् और मैत्रीयोपनिषद् तथा

महाभारत आदि में भी प्राप्त होता है। सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल है। **सांख्य** शब्द **सम्** उपसर्ग पूर्वक **ख्याञ्** धातु से सांख्य शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसका अर्थ है सम्यक् ख्यान्, सम्यक् विचार, सम्यक् ज्ञान। सांख्य दर्शन के विषय में विद्वानों द्वारा कहा गया है कि इसमें पच्चीस तत्वों का वर्णन होने के कारण इसे सांख्य कहते हैं। अर्थात् संख्या की प्रधानता होने के कारण इसे सांख्य दर्शन कहा जाता है। प्रकृति एवं पुरुष इसमें मुख्य दो तत्व है। जिनके सहयोग से ही जगत् की उत्पत्ति होती है। पच्चीस तत्वों के ज्ञान से व्यक्ति तीन प्रकार के आध्यात्मिक-अधिभौतिक-अधिदैविक दुःखो से मुक्ति प्राप्त करता है।

प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारस्तस्माद् गणश्चषोडशकम्।
तस्मादपि षोडषकात् पंचभ्यः पंचभूतानि।।

सांख्य दर्शन के पच्चीस तत्वों का क्रम इस प्रकार है—

प्रकृत- अन्तःकरण- मन, बुद्धि, अहंकार
ज्ञानेन्द्रियां- नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कर्ण
कर्मेन्द्रिया- पाद, हस्त, उपस्थ, पायु, त्वक्
तन्मात्राएं- गन्ध, रस, रुप, स्पर्श, शब्द
महाभूत- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश
पुरुष

योग दर्शन—

वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण आदि सभी ग्रन्थों में योग की चर्चा मिलती है। योग एक विशिष्ट दर्शन है। इसमें मुख्य रुप से शरीर और आत्मा का विवेचन किया गया है। आत्मा के यथार्थ स्वरुप की प्राप्ति ही योगदर्शन का मूल उद्देश्य है। महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए लिखा है- **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्र-2**

पाणिनिव्याकरण-अष्टाध्यायी में **युजिर् योगे** तथा **युज्-समाधौ** ऐसी दो धातुएं मिलती हैं। युजिर् योगे सम्बन्धवाचक है। यहां योग शब्द समाध्यर्थक युज् धातु से निष्पन्न हुआ है। अतः योग का व्युत्पत्ति परक अर्थ समाधि है। ईश्वर के प्राणिधान से ही समाधि का लाभ होता है। पंतजलि ने कहा है— **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः।** इसलिए इसे सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। जीवात्मा से परमात्मा का मिलना ही योग है। पांतजल योग सूत्र में चार पाद है। प्रथम समाधि पाद है। समाधि के दो भेद होते है। सम्प्रज्ञात समाधि तथा असम्प्रज्ञात समाधि। द्वितीय साधनापाद है। इसमें योग के बहिरंग का वर्णन किया गया है। क्रियायोग, क्लेश, क्लेशमुक्ति आदि के साधन का उल्लेख किया गया है। तृतीय विभूतिपाद है। इस पाद में योग के अन्तरंग का तथा योगशक्ति से उत्पन्न विभूतियों और ऐश्वर्या का वर्णन है। अन्तिम चतुर्थ कैवल्यपाद है। इसमें समाधिस्थ कैवल्य आदि का वर्णन है। **महर्षि पतंजलि योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** कह कर योग को परिभाषित करते हैं। चित्त का अर्थ है— अन्तरिन्द्रिय, अन्तःकरण, अनुसंधानकारिणी वृत्ति, मन, बुद्धि और अहंकार। इसमें सांख्यसम्मत बुद्धि, अहंकार और मन तीनों आ जाते हैं। योगदर्शन में बुद्धि, अहंकार और मन इन तीनों को मिलाकर चित्त नाम दिया गया है।

चित्त की अवस्थाएं— चित्त की पांच प्रकार की अवस्थाएं हैं-

1. क्षिप्तावस्था— इस अवस्था में चित्त रजोगुण के प्रभाव में रहता है। ऐसी स्थिति में अस्थिर चित्त रहता है।

2. गूढ़ अवस्था— गूढ़ावस्था में चित्त तमोगुण से अभिभूत होने के कारण कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध नही रखता है। निद्रा, तन्द्रा, आलस्य और प्रमाद का प्रभाव बना रहता है।
3. विक्षिप्त— इस अवस्था में चित्त चंचल बना रहता है। विक्षप्तावस्था में सत्वगुण के आाविर्भाव से चित्त अल्पसमय के लिए किसी विषय में लगता है, पुनः विषय से हट जाता है।
4. एकाग्र— बहिर्वृत्तियों का निरोध करने वाला चित्त एकाग्र कहलाता है। यह चित्त की योगानुकूल अवस्था है।
5. निरुद्ध— सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध करने वाला चित्त निरुद्ध कहलाता है। यह योग की अन्तिम अवस्था है।

चित्त वृत्तियां— चित्त की पांच वृत्तियां है-
1. प्रमाण- प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। सांख्य एवं योग तीन प्रमाण को मानते है- प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम।
2. विपर्यय- किसी चीज का मिथ्या ज्ञान ही विपर्यय है। जैसे रज्जु में सर्प या शुक्ति में रजत् का ज्ञान मिथ्या ज्ञान है।
3. विकल्प- शब्दज्ञान से उत्पन्न होने वाला सत्य वस्तुशून्य ज्ञान है। **शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।**
4. निद्रा- ज्ञान का अभाव निद्रा है। **अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।**
5. स्मृति- अनुभूत विषयों को न भूलना ही स्मृति है। अनुभूतविषया सम्प्रमोषः स्मृतिः। स्मृति दो प्रकार की होती है- यथार्थ और अयथार्थ।
अष्टांगयोग—महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंग माने है। महर्षि पतंजलि कहते है—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टागांनि।

यम- अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्या परिग्रहा यमाः। यम पांच प्रकार के है- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।
नियम- नियम भी पांच प्रकार के है- **शौचसन्तोषतपःस्वाध्येश्वरप्रणिधानानि नियमाः।**
आसन- स्थिरता और सुख-प्राप्ति को आसन कहा जाता है- **स्थिरसुखमासनम्।**
प्राणायम- श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। श्वास-प्रश्वास आदि की गति के नियन्त्रण को प्राणायाम कहते हैं।
प्रत्याहार- स्वविषयासम्प्रयोगाभावे (प्रत्याहार का अर्थ है पीछे हटना, उल्टा होना, विषयों से विमुख होना।)

1.6.1.2 न्याय एवं वैशेषिक दर्शन

न्याय दर्शन— न्याय शब्द का अर्थ जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि की जा सके **नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्यायः** भारतीय दर्शन की परम्परा में न्याय दर्शन का क्षेत्र अत्यन्त ही व्यापक है। न्याय दर्शन के साहित्य दो भागों में विभक्त किया गया है। पदार्थ मीमांसा तथा प्रमाण मीमांसा। पदार्थ मीमांसा के प्रवर्तक महर्षि गौतम हुए उन्होनें 16 पदार्थो का विवेचन किया है। प्रमाण मीमांसा का प्रवर्तन मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक गणेश उपाध्याय ने तत्वचिन्तामणि ग्रन्थ को लिखकर किया है। पदार्थ मीमांसा और प्रमाण मीमांसा को क्रमशः प्राचीन न्याय और नव्य न्याय कहते है। गौतम का न्यायसूत्र न्यायदर्शन का आधार है।

इसकी विषय वस्तु पांच अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक है। सभी दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य निःश्रेयस की प्राप्ति है। न्यायदर्शन में इस निःश्रेयस सिद्धि के लिए 16 पदार्थों की संज्ञा दी गयी है।

सोलह पदार्थ—

न्याय दर्शन प्रमाण आदि 16 पदार्थ स्वीकार करता है। जिनमें प्रमेय के अन्तर्गत वैशेषिक दर्शन के सभी पदार्थ को सम्मिलित किया गया है। 16 पदार्थ निम्न वर्णित है-

1. प्रमाण— मन तथा चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के जिस व्यापार के द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो, उसे प्रमाण कहते है। ये मुख्य चार है-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द।

2. प्रमेय— प्रमाण के द्वारा जिन पदार्थो का यथार्थ ज्ञान हो वे ही प्रमेय कहे जाते हैं। अर्थात् जो पदार्थ यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के योग्य हो, वे प्रमेय है। ये बारह है- आत्मा, शरीर, इन्द्रियां, अर्थ, बुद्धि/ज्ञान/उपलब्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेतभाव, फल, दुःख और अपवर्ग।

3. संशय— किसी एक वस्तु में यदि दो भिन्न पदार्थो के समान धर्म पाया जाए और उन दोनों को परस्पर पृथक् कर देने वाला एक भी धर्म न पाया जाए तो उसमें संशय उत्पन्न होता है।

4. प्रयोजन— जिससे प्रेरित होकर कार्य करने में लोग प्रवृत्त हो, उसे प्रयोजन कहते हैं।

5. दृष्टान्त— दृष्टान्त को उदाहरण भी कहते हैं। जिस बात में पक्ष और विपक्ष दोनों दलों का एक मत हो, वही दृष्टान्त के रुप में उद्धृत होता है।

6. सिद्धान्त— प्रमाणों के द्वारा किसी बात को मान लेना कि यह ऐसा है, इसे सिद्धान्त कहते हैं। ये चार प्रकार के है- सर्वतन्त्र सिद्धान्त, प्रतितन्त्र सिद्धान्त, अधिकरण सिद्धान्त और अभुपगम सिद्धान्त

7. अवयव— अनुमान की प्रक्रिया में जितने वाक्यों का प्रयोग करना पड़ता है, वे सब अवयव कहलाते हैं।

8. तर्क- तत्व ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रमाण का सहायक तर्क कहलाता है।

9. निर्णय— किसी विषय के सम्बन्ध में पक्ष और विपक्ष को लेकर विचार करने के पश्चात् जिस विषय पर दोनों पक्षों का विचार स्थिर हो जाए उसे निर्णय कहते हैं।

10. वाद— तत्वजिज्ञासा के लिए पक्ष और प्रतिपक्ष के रुप में विचार-विनिमय हो उसे वाद कहते है।

11. जल्प— छल, जाति और निग्रहस्थान का जिस सन्दर्भ में प्रयोग किया जाता है उसे जल्प कहते हैं।

12. वितण्डता— जिस जल्प में किसी भी पक्ष का स्थापन न किया जाए उसे वितण्डा कहते हैं।

13. हेत्वाभास— ये पांच प्रकार के होते हैं- सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत।

14. छल— किसी वक्ता के कथन के अभिप्राय को उलट कर उस वाक्य के अर्थ को अनर्थ में परिवर्तित कर देना छल है। ये तीन प्रकार का है- वाक्छल, सामान्यछल और उपचारछल

15. जति— साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा किसी वाक्य में दोष बताना जाति है।

16. निग्रहस्थान— किसी वाक्य-सन्दर्भ में वादी तथा प्रतिवादी के विपरीत ज्ञान एवं अज्ञान को निग्रहस्थान कहते हैं।

वैशेषिक दर्शन— वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद् है। यह मार्ग में गिरे हुए अन्न के कणों को चुन-चुन कर खाते थे इसलिए इन्हें कणाद कहा जाता है। **स कणाद् इति कणभक्ष इति वा नाम्ना प्रसिद्धिमवाप।** कणाद का दूसरा नाम उलूक था। वैशेषिक का अर्थ है- **विशेषं पदार्थमधिकृत्य कृतं शास्त्रं वैशेषिकम्** अर्थात् विशेष नामक पदार्थ को मूल मानकर प्रवृत्त होने के कारण इस शास्त्र का नाम वैशेषिक है। वैशेषिक सूत्र में दस अध्याय है। प्रत्येक अध्याय दो-दो आह्निको में विभक्त है। इस दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय पदार्थों का विवेचन करना है। यह सात पदार्थो को मानता है-द्रव्य, गुण, कर्म, समान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव। द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं-क्षिति,जल,अग्नि,वायु,आकाश,काल,दिक्,आत्मा एवं मन। महर्षि कणाद् कहते हैं कि पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। **धर्मविशेष प्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य वैधर्म्याम्या तत्त्वज्ञानानिःश्रेयसम्।**

पदार्थ—

1. द्रव्य- प्रथम पदार्थ द्रव्य है। क्रिया और गुण के समवायी कारण का नाम ही द्रव्य है। **क्रियागुणवत् समवायि कारणमिति द्रव्यलक्षणम्।** द्रव्य नौ प्रकार है— पृथ्वी जल तेज वायु मन आकाश काल दिक् तथा आत्मा। इसमें से पृथ्वी जल तेज वायु तथा मन ये सक्रिय और आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा ये निष्क्रिय द्रव्य माने जाते हैं।

- **पृथ्वी**— **"रुपरसगन्धस्पर्शवती पृथ्वी"** पृथ्वी में रुप, रस, गन्ध तथा स्पर्श ये चार गुण पाए जाते हैं। यह अनेक रुप है। पृथ्वी के मुख्य दो भेद है- परमाणुरुप और कार्यरुप। परमाणु रुप पृथ्वी नित्य और कार्यरुप पृथ्वी अनित्य है।
- **जल**— जल में रुप, रस, स्पर्श, द्रवत्व और स्निग्धत्व ये गुण विद्यमान रहते हैं। ये पांच गुण जल के विशेष गुण माने जाते हैं। जल के भी नित्य (परमाणु) और अनित्य (कार्यरुप) दो भेद है।
- **तेज**— अग्नि में रुप और स्पर्श दो विशेष गुण विद्यमान रहते हैं। तेज के भी प्रमुख दो भेद होते हैं- परमाणुरुप नित्य और कार्यरुप अनित्य।
- **वायु**— वायु नामक द्रव्य में केवल स्पर्श गुण विद्यमान रहता है। पृथ्वी आदि द्रव्य स्पर्श एवं दृश्य दोनों हैं परन्तु वायु अदृश्य द्रव्य है। केवल इसे स्पर्श किया जा सकता है। वायु को अदृष्टलिंग भी कहा जाता है- **न च दृष्टानां स्पर्श इति अवृष्टलिंगो वायु।** परमाणु रुप नित्य और कार्यरुप अनित्य के भेद से वायु के दो भेद है।
- **आकाश**— आकाश का विशिष्ट गुण शब्द है- **"शब्दगुणकमाकाशम्"** आकाश शब्दवान् होने के कारण द्रव्य है तथा निरवयव निरपेक्ष होने के कारण नित्य है। सर्वव्यापक तथा अनन्त होने के कारण उसको विभु कहा गया है। शब्द आकाश से उत्पन्न होने के कारण उसी में समा जाता है।
- **काल**— काल में पौर्वापर्य गुण विद्यमान होता है। पौर्वापर्य अर्थात् आगे-पीछे होना, एक साथ न होना, देर से होना तथा जल्दी होना।
- **दिशा**— दिशा द्वारा एक वस्तु से दूसरी वस्तु की दूरी का ज्ञान प्राप्त होता है। निरवयव होने के कारण यह नित्य एवं मूलतः एक है।

- **आत्मा**— आत्मा का असाधारण गुण चैतन्य है। शरीर से भिन्न ही आत्मा है। जीवात्मा एवं परमात्मा के भेद से आत्मा के दो भेद है। जीवात्मा अनित्य एवं अनन्त है परन्तु परमात्मा नित्य एवं एक है।
- **मन— साक्षात्कारे सुखादीनां करण मन उच्यते।** ज्ञान इच्छा आदि जो पदार्थ है उनके साक्षात्कार के लिए मन की आवश्यकता है।

2. गुण— द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग विभाग योर्नकारणमनोक्ष इति गुण लक्षणम्। अर्थात् गुण सदा द्रव्य के आश्रय में रहने वाला, अगुणवान्, संयोग एवं विभाग में कारण न होने वाला है। कार्य का असमवायिकारण गुण है। गुण चौबीस है-**रुपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि-पृथक्त्वंसंयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छा-द्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः।** अर्थात् रुप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म तथा शब्द ये चौबीस गुण है।

3. कर्म— क्रिया को कर्म कहते है। द्रव्य के गतिशील धर्म का नाम कर्म है। कर्म द्रव्य का सक्रिय रुप है। **एकद्रव्यमगुणं सयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्।** कर्म पांच है- **उत्पेक्षणमवक्षेपणमाकुंचनं प्रसारणं गमनं मिति कर्माणि।**

4. समान्य— एक होता हुआ भी अनेक वस्तुओं में समान रुप से समवेत रहता है, वह समान्य है। सामान्य अर्थ जाति है, वह नित्य है। सामान्य के दो प्रकार इस दर्शन में माना गया है- सत्ता सामान्य और विशिष्ट सामान्य।

5. विशेष— वैशेषिक दर्शन विशेष नामक पदार्थ को मानता है। विशेष एक नित्य द्रव्य है। जिसके कारण एक व्यक्ति संसार के सभी व्यक्तियों से अपने को अलग करता है। **अत्यन्तव्यावृत्तिहेतुर्विशेषः।** विशेष का अर्थ ही है व्यावर्त्तक। नित्य द्रव्य में रहने वाले व्यावर्त्त को विशेष कहते हैं- **नित्यद्रव्यवृत्तियो व्यावर्तका विशेषाः तर्कसंग्रह** अतः विशेष नित्य द्रव्यों में रहने के कारण नित्य है।

7. समवाय— नित्यसम्बन्धः समवायः। समवाय नामक नित्य सम्बन्ध दो अयुतसिद्ध वस्तुओं में होता है। जिन दोनों में से एक अविनश्यत् अवस्था में दूसरे के आश्रित रहता है उसे अयुतसिद्ध कहते हैं। जैसे— अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान, जाति-व्यक्ति और नित्य द्रव्य-विशेष का संबंध अयुतसिद्ध संबंध है।

8. आभाव— जिस पदार्थ का ज्ञान उसके प्रतियोगी के ज्ञान के विना न हो सके, उसे आभाव कहते हैं। कणाद ने आभाव के दो भाग किए है- संसर्गाभाव एवं अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव के तीन प्रकार का होता है— प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। अन्योयाभाव एक ही होता है। इस प्रकार आभाव चार प्रकार के होते है।

इस प्रकार कणाद ऋषि ने वैशेषिक दर्शन को स्पष्ट किया है।

1.6.1.3 मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन

मीमांसा दर्शन— मीमांसा का अर्थ ही गहन विचार। यह भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में से एक है। मूल रुप से मीमांसा को दो भागों में बांटा गया है— पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसा के आचार्य जैमिनि एवं उत्तर मीमांसा के आचार्य बादरायण है। उत्तर मीमांसा को **ब्रह्ममीमांसा** भी कहा जाता है। पूर्वमीमांसा में वेद के कर्मकाण्डपरक मन्त्रों की व्याख्या की गयी

है तथा उत्तर मीमांसा का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म अर्थात् परमात्मा की स्थिति के विषय में बताया गया है। पूर्वमीमांसा को केवल मीमांसा दर्शन कहा जाता है और उत्तर मीमांसा को वेदान्त दर्शन कहा जाता है।

मीमांसा का प्रथम सूत्र है— **अथातो धर्मजिज्ञासा** अर्थात् धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। वेदान्त का प्रथम सूत्र है- **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** अर्थात् अब ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। महर्षि जैमिनि मीमांसा-सूत्र के आचार्य माने जाते हैं। मीमांसा सूत्र दार्शनिक सूत्रों में सर्वाधिक विशाल काव्य है। इसमें 16 अध्याय है, जिसमें 12 अध्याय द्वादशलक्षणी नाम से प्रसिद्ध है और अन्तिम 4 अध्यायों को देवताकाण्ड कहते हैं। मीमांसा के धर्मजिज्ञासा, भेद, शेषत्व, प्रयोज्य-प्रयोजकभाव, क्रम, अधिकार, सामान्य, अतिदेश, विशेष-अतिदेश, ऊह, बाध, तन्त्र और प्रसंग-ये 12 वर्ण्य विषय है। इसलिए इन्हें **द्वादशीलक्षणी** भी कहा जाता है। पूर्वमीमांसा का मूल विषय- कर्ममीमांसा तथा धर्ममीमांसा है। यह दर्शन छः प्रमाणों को मानता है- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अभाव अथवा अनुपलब्धि।

मीमांसा दर्शन के प्रमुख आचार्य—

मीमांसा दर्शन के प्रमुख तीन सम्प्रदाय माने जाते हैं- भाट्टमत, गुरुमत, मिश्रमत।

भाट्टमत के आचार्य— कुमारिल भट्ट, मण्डन मिश्र, पार्थसारथि मिश्र, माधवाचार्य आदि।

गुरुमत के आचार्य— प्रभाकर मिश्र, शालिकनाथ, भवनाथ या भवदेवमिश्र आदि।

मिश्रमत— मुरारिमिश्र।

वेदान्त दर्शन— वेद का अन्तिम भाग ही वेदान्त है। भारत में जितने दर्शन हुए, उनमें सबसे महत्वपूर्ण दर्शन वेदान्त को कहा जाता है। पूर्व में वेदान्त शब्द का प्रयोग उपनिषद् के लिए ही होता था क्योंकि उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग है। वेदान्त दर्शन का आधार बादरायण का **ब्रह्मसूत्र** कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र को वेदान्त सूत्र कहा जाता है। इस नाम के अतिरिक्त इसे शारीरिक सूत्र, शारीरिक मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा भी कहा जाता है। वेदान्त दर्शन के अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए, जिनमें चार संप्रदाय मुख्य है-

अद्वैतवाद	-	**शंकर**
विशिष्टाद्वैवाद	-	**रामानुज**
द्वैतवाद	-	**मध्वाचार्य**
द्वैताद्वैत	-	**निम्बाकाचार्य**

वेदान्त के जितने सम्प्रदाय है, उनमें सबसे प्रधान शंकर का अद्वैत-दर्शन कहा जाता है।

1.6.2 नास्तिक दर्शन

भारतीय विचारपरम्परा में दर्शन का जीवन के साथ अनिवार्य संबंध है। स्वरूप और पद्धति की दृष्टि से भारतीय विचारधारा में दो परंपराएं दिखाई देती हैं, आस्तिक और नास्तिक। भारतीय परंपरा में आस्तिक ओर नास्तिक पदों को परिभाषित करने का आधार सर्व सम्मति से वेद प्रमाण की स्वीकृति और अस्वीकृति है। नास्तिक पद को यहां वेदों की निंदा करने वाले के रूप में परिभाषित किया जाता है। प्राचीन भारतीय दार्शनिक साहित्य में आस्तिक एवं नास्तिक पदों का एक अन्य अर्थ भी प्राप्त होता है।

परलोक में विश्वास करने वाले दर्शन को आस्तिक और परलोक में विश्वास न करने वाले दर्शन को नास्तिक दर्शन कहते हैं। केवल इहलोक या दृश्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करने के कारण नास्तिक दर्शन को लोकायत दर्शन भी कहा जाता है।

आस्तिक, नास्तिक पदों का अर्थ स्वीकार करने पर केवल चार्वाक दर्शन ही नास्तिक सिद्ध होता है क्योंकि इसमें परलोक की सत्ता को अस्वीकार करते हुए केवल इहलोक की सत्ता में विश्वास किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनों-सांख्य, योग न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदांत जैन एवं बौद्ध को आस्तिक परंपरा में रखते हैं क्योंकि इसमें परलोक में विश्वास किया जाता है। आधुनिक भारतीय साहित्य में आस्तिक और नास्तिक पदों का एक और अर्थ प्राप्त होता है जिसमें ईश्वर की सत्ता में विश्वास के आधार पर आस्तिक और नास्तिक पदों की व्याख्या की जाती है।

यहां उल्लेखनीय है कि यद्यपि आस्तिक और नास्तिक पदों के अनेक अर्थ किए गए हैं किंतु इनमें से वेदों के अस्तित्व में विश्वास के आधार पर जो परिभाषा आस्तिक और नास्तिक दर्शनों की की जाती है वही सर्वमान्य है और सर्वाधिक प्रचलित है। चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शनों को वेद विरोधी होने के कारण नास्तिक दर्शन कहा गया है। जबकि वैदिक परंपरा के पोषण के कारण सांख्य योग, न्याय वैशेषिक एवं वेदांत दर्शन कहा गया है।

1.6.2.1 चार्वाक दर्शन

भारतीय दर्शनों में चार्वाक दर्शन प्राचीन दर्शन है। इस दर्शन का नाम चार्वाक होने पर विभिन्न मत प्राप्त होते है। कुछ लोगों का मानना है कि चार्वाक शब्द की उत्पत्ति **चर्व** धातु से हुई है। चर्व का अर्थ है खाना। इस दर्शन का मूल ही यह है कि खाओं, पियों और मोज करों। इस आधार पर इस का नाम चार्वाक रखा गया है। इसके अतिरिक्त अन्य मत यह है कि चार्वाक शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। चारु और वाक्। चारु का अर्थ मीठा तथा वाक् का अर्थ वचन। इसलिए चार्वाक अर्थ हुआ मीठे वचन बोलने वाला। इन दो मतों के अलावा अन्य विद्वान कहते हैं कि चार्वाक एक व्यक्ति विशेष का नाम था। इस कारण इस दर्शन का चार्वाक है।

इस दर्शन के प्रणेता **बृहस्पति** माने जाते है। इसे लोकायत दर्शन भी कहा जाता है। साधारण लोगों में फैला होने के कारण इसे लोकायत कहा है। डा0 राधाकृष्णन का मत है कि चार्वाक को लोकायत इसलिए कहा जाता है कि वह इस लोक में ही विश्वास करता है। लोकायत के सन्दर्भ में शंकराचार्य कहते हैं कि देह से भिन्न आत्मा की सत्ता नही मानने वाले ही लोकायत है- **लोकायतिकानामपि चेतन एव देहे इति।** हरिभद्रसूरि ने षड्दर्शनसमुच्चय में चार्वाक को लोकायत कहा है-**लोकायत वदन्त्येनम्।** चार्वाक नास्तिक, अनीश्वरवादी, प्रत्यक्षवादी तथा सुखवादी दर्शन है। नास्तिक दर्शनों में सर्वप्रथम या सर्वप्राचीन दर्शन चार्वाक दर्शन माना जाता है। माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रन्थ में चार्वाक दर्शन के सभी तथ्यों को समेटने की चेष्टा की है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। उनके अनुसार आत्मा है ही नही। उनका मानना है कि जब तक जीवन है, मनुष्य को सुखपूर्वक जीना चाहिए। मृत्यु के पश्चात् मनुष्य जीवन धारण नही करता है।

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नस्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।। सर्वदर्शनसंग्रह

चार्वाक दर्शन के सिद्धान्त—

चार्वाक दर्शन को मुख्यतः तीन भागों में विभाजित करते हैं- तत्व, आचार और ज्ञान।

तत्वमीमांसा— चार्वाक दर्शन वादी केवल इन्द्रिय-सन्निकर्ष ज्ञानजन्य प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। यह कहता है आंखो से जो परे है वे परोक्ष है और परोक्ष असत् है। ये केवल भौतिक वस्तुओं की सत्ता ही स्वीकार करते है। इनके अनुसार चार प्रकार के भूतत्व है- पृथ्वी, जल, तेज और वायु। **पृथ्वीव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि। तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा। बार्हस्पत्यसूत्रम्।**

आत्मा— चार्वाक दर्शन वादी चैतन्यविशिष्ट देह को आत्मा मानते है। **चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः।** इन्होनें आत्मा की कोई पृथक् सत्ता स्वीकार नही की है।

ईश्वर— चार्वाक दर्शन एक नास्तिक दर्शन है। यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही करता है। इनके अनुसार ईश्वर है ही नही। यह संसार स्वतः उत्पन्न हुआ है। यह कार्य-कारणवाद और ईश्वरवाद का निषेध करते है।

कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म— चार्वाक दर्शनवादी कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म का उपहास करते हुए कहते है कि यदि आत्मा मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म ग्रहण करती है तो उसे अपने पूर्व जन्म के कर्म का आभास क्यों नही होता है। सर्वदर्शनसंग्रह में कहा गया है—

यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेव विनिर्गतः।
कस्माद्भूयो न आयाति बन्धुस्नेहसमागतः।।

चार्वाक दर्शन वादी कर्म और पुनर्जन्म सिद्धान्त का खण्डन करते हैं।

1.6.2.2 जैनदर्शन

भौतिकवादी दर्शनों में चार्वाक दर्शन के पश्चात् जैन दर्शन का स्थान ही आता है। जिन लोगों द्वारा प्रवर्त्तित दर्शन जैन दर्शन है। जिन अर्थात् विजेता के अनुयायी को जैन कहते हैं। **जि जये** धातु से **नक्** प्रत्यय लगकर जिन् शब्द का निर्माण हुआ है। **रागद्वेषादिमनोविकारांजयतीति जिनः।** अर्थात् जिसने राग-द्वेषादि मनोविकारों का दमन कर उन पर विजय प्राप्त की है वे जिन है। जिन एव उपास्य देवताऽस्येति जैनः तीनों लोकों में पूजित होने के कारण इन्हें आर्हत् कहा जाता है। इनके द्वारा प्रचारित धर्म आर्हत् कहा जाता है-

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हत् परमेश्वरः।। सर्वदर्शनसंग्रह

जिन को तीर्थकर भी कहा जाता है- **तरति संसारमहार्णवं येन तत्तीर्थम्, तं करोतीति तीर्थकंर।** जैन परम्परा में कुल 24 तीर्थकर है- 1. ऋषभनाथ, 2. अजितनाथ, 3.सम्भवनाथ, 4.अभिनन्दन, 5.सुमतिनाथ 6.पद्मप्रभ, 7.सुपार्श्वनाथ, 8.चन्द्रप्रभ, 9.सुविधिनाथ, 10.शीतलनाथ, 11.श्रेयांसनाथ, 12.वासुपूज्य, 13.विमलनाथ, 14.अनन्तनाथ, 15.धर्मनाथ, 16.शान्तिनाथ, 17.कुन्थुनाथ, 18.अरनाथ, 19.मल्लिनाथ, 20.मुनिसुव्रत, 21.नाभिनाथ, 22.नेमिनाथ, 23.पार्श्वनाथ, 24.वर्धमान महावीर।

स्याद्वाद-

प्रत्येक ज्ञान को सम्भावित रुप में समझना स्याद्वाद कहलाता है। जैन स्याद्वादवाद के माध्यम से अनेकान्तवाद का समर्थन करते है। यह प्रत्येक नय में स्यात् शब्द का प्रयोग करते है। स्यात् शब्द अस् धातु से विधिलिंग के एकवचन का रुप है। स्याद्वाद का उपयोग किसी पदार्थ के

अस्तित्व या अनस्तित्व का निर्णय करने के सात विभिन्न प्रकारों में होता है। ये समस्त ज्ञान को केवल सम्भावना के रुप में मानते है। यही जैनों का स्याद्वादवाद है।

सप्तभंगीनय—

सप्तभंगीनय से स्याद्वाद की अभिव्यक्ति होती है। **सप्तानां भगांनां वाक्यानां समाहारः सप्तभंगी।** सप्तभंगीनय एक दृष्टिकोण है।

1. स्याद् अस्ति घटः अर्थात् घट है।

2. स्याद् नास्ति घटः अर्थात् घट नही है।

3. स्यादस्ति नास्ति घटः अर्थात् घट है और नही है।

4. स्यादवक्तव्यो घटः अर्थात् घट अव्यक्त है।

5. स्यादस्ति चावक्तव्यं घटः अर्थात् घट है और अव्यक्त भी नही है

6. स्याद् नास्ति चावक्तव्यं घटः अर्थात् घट नही है और अवक्तव्य है।

7. स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः घटः अर्थात् घट है, नही भी है और अनिर्वचनीय है।

जैन दर्शन में द्रव्य—

जैन मत के अनुसार द्रव्य दो प्रकार के होते हैं- आस्तिकाय एवं अनास्तिकाय।

आस्तिकाय के दो भाग- जीव और अजीव। जीव के भी दो भेद है- मुक्त एवं बद्ध। अजीव के अन्तर्गत धर्म, अधर्म, पुद्गल एवं आकाश है।

अनास्तिकाय का केवल एक भाग काल है।

रत्नत्रय—

1. सम्यक् दर्शन— शास्त्ररी सिद्धान्तों में तथा जीवाजीव तत्वों में श्रद्धा रखना सम्यक् दर्शन कहलाता है- नं सम्यग्दर्शनमिति।

2. सम्यक् ज्ञान— भ्रम-संशयरहित मूल तत्वों का विशेष ज्ञान होना सम्यक् ज्ञान है।

3. सम्यक् चरित्र— जैन आचार्यों ने राग-द्वेष, क्रोध-प्रभृति दुर्गुणों को छोड़ने के लिए जो आचरण किया जाए, उसे सदाचार या सम्यक् चरित्र कहा है।

पंचमहाव्रत—

जैन दर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्माचर्य और अपरिग्रह को महाव्रत कहा गया है।

1. अहिंसा— समस्त प्राणियों के प्रति दयालुता का भाव रखना ही अहिंसा है। जैन धर्म में अहिंसा को परम धर्म मानता है। अहिंसा परमो धर्मः।

2. सत्य— महावीर ने सत्य को भगवान् के रुप में माना है- **तं सच्चं खु भगवं।** जैनदर्शन वादियों ने चार प्रकार के असत्य का निर्धारण किया है- 1.किसी सद्वस्तु के स्वरुप, समय, स्थानादि के सन्दर्भ में मिथ्या कथन। 2.किसी असद्वस्तु के सन्दर्भ में मिथ्या कथन। 3.किसी वस्तु के यथार्थ स्वरुप को छिपा कर उसे दूसरे रुप में प्रख्यापित करना। 4.अहित, अमंगल और अप्रिय बोलना। इनका अभाव सत्य कहा गया है।

3. अस्तेय— स्तेय का अर्थ है-चोरी करना। चोरी का सर्वथा परित्याग अस्तेय है। जैन मतावलियों के अनुसार पांच प्रकार की चौरवृत्ति के परित्याग को अस्तेय कहा गया है।

4. ब्रह्मचर्य— ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमपाघ्नत अर्थात् ब्रह्मचर्यरुपी तपस्या से देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है।

5.अपरिग्रह— विषयासक्ति का त्याग ही अपरिग्रह है। जैन दर्शन के अनुसार आवश्यकता से अधिक संग्रह करना गलत है।

सप्त तत्व—

जैन-दर्शन में जीवन के साथ कर्म का संबंध और विच्छेद दिखलाने के सात पदार्थ बताए गए है। ये सात तत्व है- जीव, अजीव, आश्रय, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष।

1.6.2.3 बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन के संस्थापक गौतम बुद्ध माने जाते हैं। बुद्ध ने कोई पुस्तक नही लिखी है। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने बुद्ध के उपदेशों का संग्रह त्रिपिटक में किया। सुत्तपिटक, अभिधम्म पिटक, विनयपिटक ये तीन पिटकों के नाम है।

चार आर्यसत्य— बौद्धदर्शन के अनुसार चार आर्य सत्य है-

1. दुःख सर्व दुःखम् — संसार दुःख की प्रतिभूति है।

2. दुःख का कारण दुःखसमुदाय— दुःख का कारण भी है।

3. दुःखनिरोध—

4. दुःखनिरोध का उपाय— दुःख निरोध के मार्ग भी है। इन्हें बौद्ध अष्टांगिक मार्ग कहते है। ये आठ मार्ग है-

प्रज्ञा— सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प

शील- सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव

समाधि- सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि

इन मार्गों पर दृढ़तापूर्वक चलकर व्यक्ति अपने दुःखों का नाश कर देता है। इसलिए समस्त मार्गों में इसे श्रेष्ठ माना गया है- **मग्गानट्ठगिंको सेट्ठो। मार्गाणामष्टागिंको श्रेष्ठः धम्मपद 20.1**

1. सम्यक् दृष्टि— वस्तु के यथार्थ का स्वरुप का ज्ञान होना ही सम्यक् दृष्टि है।

2. सम्यक् संकल्प—शुभ कर्मो के करने का एवं अशुभ कर्मो के परित्याग का संकल्प ही सम्यक् संकल्प है।

3. सम्यक् वाक्— अनुचित वचन का परित्याग ही सम्यक् वाक है।

4. सम्यक् कर्मान्त— प्राणियों की हिंसा, चोरी, व्यभिचार, कपट इत्यादि बुरे कर्मो का परित्याग कर सत्कर्म करना है ही सम्यक् कर्मान्त है।

5. सम्यक् आजीविका— अनुचित साधनों का परित्याग एवं उचित साधनों का उपयोग ही सम्यक् आजीविका है।

6. सम्यक् व्यायाम— सत्कर्म के लिए सही प्रयत्न या सुन्दर उद्योग का नाम सम्यक् व्यायाम है।

7. सम्यक् स्मृति— चार आर्य सत्यों का स्मरण रखना ही सम्यक् स्मृति है।

8. सम्यक् समाधि— चित्त की शून्य और पूर्ण जाग्रत अवस्था को बुद्ध ने समाधि कहा है।

त्रिरत्न—

बौद्ध धर्म मे प्रज्ञा, शील और समाधि को त्रिरत्न कहा गया है। ये तीनों अष्टांगिक मार्ग के प्रतीक है।

प्रतीत्यसमुत्पाद—

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध धर्म का आधारस्तम्भ है। यह द्वादश निदान, जन्म-मरण चक्र, अलातचक्र, भवचक्र का सिद्धान्त है। प्रतीत्यसमुत्पाद के 12 अंग है— अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरुप, षडायतन, इन्द्रियां, वेदना, तृष्णा, उपादना, भव, जाति, जरा-मरण।

स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशांगस्त्रिकाण्डकः।
पूर्वापरान्तयार्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूर्णता।।

अभ्यास प्रश्न.2

1. सांख्य दर्शन के आर्चाय कौन है?
क. आसुरि ख. पंचशिख
ग. सदानन्द घ. कपिल

2. सांख्य दर्शन में कुल कितने तत्व है?
क. 25 ख. 26
ग. 19 घ. 2

3. न्याय के मत में प्रमेय है?
क. 12 ख. 17
ग. 9 घ. 6

4. तर्कसंग्रह के अनुसार स्मृति कितनी प्रकार की है?
क. 1 ख. 5
ग. 2 घ. 3

5. बौद्ध दर्शन के अनुसार कितने पिटक है?
क. 4 ख. 6
ग. 3 घ. 2

6. त्रिरत्न किसमें बताए गए है?
क. बौद्ध दर्शन ख. चार्वाक दर्शन
ग. वैशेषिक दर्शन घ. जैन दर्शन

7. चार्वाक दर्शन कितने प्रमाणों को मानता है
क. 4 ख. 1
ग. 3 घ. 2

8. वैशेषिकों के अनुसार पदार्थो की संख्या है?
क. 7 ख. 9
ग. 5 घ. 12

9. चित्त की कितनी अवस्थाएं है?
क. 6 ख. 8
ग. 5 घ. 3

10. योग दर्शन के प्रवर्तक आचार्य कौन है?
क. गौतम ख. कणाद
ग. पतंजलि घ. अन्नभट्ट

1.7 भारतीय दर्शनों का परस्पर सम्बन्ध

भारतीय दर्शनों का विस्तृत अध्ययन करने पर यह प्रतीत हो जाता है कि यद्यपि सभी दर्शनों द्वारा की गई दार्शनिक मीमांसा अलग-अलग प्रतीत होती हैं तथापि इनमें एक सार्वभौमिक संबन्ध की प्रतीति होती ही है। भारतीय दर्शनों में परस्पर सम्बन्ध एवं समन्वय को द्योतित करने

वाले अनेक बिन्दु हैं जिनमें से प्रथम बिन्दु है— 'व्यावहारिकता'। भारतीय दर्शन की जितनी भी शाखाएं हैं उन सबका उद्देश्य व्यावहारिक है। वे सभी मानव के वर्तमान जीवन से सम्बन्धित समस्याओं का विश्लेषण करते हैं तथा उनसे मुक्त होने का मार्ग प्रदर्शित करते हैं। यह अत्यन्त रोचक है कि प्रत्ययवादी दार्शनिक जो कि जगत् को वास्तविक सत्ता नहीं मानते हैं; उन्होंने भी व्यवहार के स्तर पर जगत् को सत् मान लिया है। यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारत में दर्शन जीवन का प्रतिबिम्ब है। एक सच्चा दार्शनिक नित्य-प्रतिदिन के जीवन में अनुभूत होने वाली विविध अनुभूतियों को ही अपने दार्शनिक विश्लेषण का विषय बनाता है। यदि कोई दर्शन जीवन को उपेक्षित करता है तो भारतीय जनमानस उसे दर्शन की कोटि में भी नहीं मानता है।

द्वितीय बिन्दु है - 'लक्ष्य की एकता'। समस्त भारतीय दर्शनों का परमलक्ष्य अन्ततःएक ही है और वह है 'जागतिक दुःख की निवृत्ति'। विशुद्ध भौतिकतावादी चार्वाक से लेकर पराप्रत्ययवादी विज्ञानवाद तक सभी दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रधान लक्ष्य है मनुष्य को अनुभूत होने वाले दुःखत्रय (आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक) से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति। यद्यपि इस दुःखनिवृत्ति का उपाय प्रत्येक दर्श न में पृथक्-पृथक् निरुपित किया गया है किन्तु सभी दार्शनिक इस बात से सहमत हैं कि उनका प्रधान लक्ष्य मानव जीवन के दुखों की निवृत्ति ही है।

तृतीय बिन्दु है- 'अविद्या से बन्धन एवं तत्त्वज्ञान से मुक्तिलाभ'। प्रायः सभी भारतीय दर्शन यह मानते हैं कि मनुष्य के समस्त दुखों का मूलकारण अविद्या या अज्ञान है। अविद्या को भारतीय चिन्तन परम्परा में क्लेशरूप कहा गया है जिसके कारण ही मनुष्य तत्व के वास्तविक स्वरूप को पहचान नहीं पाता है तथा कर्म, कर्मसंस्कार एवं कर्मफल के बन्धन में उलझकर विभिन्न योनियों में संसरण करता रहता है। बौद्ध दर्श न में प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त द्वारा एक चक्र के माध्यम से मनुष्य के इस संसरण को सुन्दर ढंग से व्याख्यायित किया गया है। द्वादशनिदानचक्र या भवचक्र के अनुसार अविद्या-संस्कार-विज्ञान-नामरूप-षडायतन-स्पर्श - वेदना-तृष्णा-उपादान-भव-जाति-जरामरण का चक्र तब तक प्रवर्त मान रहता है जब तक व्यक्ति तत्त्वबोध के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर लेता है। जैन मतानुसार अविद्या के कारण जीव 8 प्रकार के कर्मपुद्गलों (ज्ञानावरणीय, दर्श नावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र एवं अन्तराय) से संयोग कर लेता है एवं बन्धन से ग्रस्त हो जाता है। बन्धन से मुक्त होने के लिए जीव को जैन तत्त्वमीमांसा में स्वीकृत सात पदार्थों (जीव, अजीव, आश्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा एवं मोक्ष) का त्रिरत्नों (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र) के आचरण से सिद्धि प्राप्त करने का विधान है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार अज्ञान के कारण आत्मा कर्म में प्रवृत्त होता है जिससे धर्माधर्मरूप अदृष्टसंस्कार आत्मा में संचित होते रहते हैं जिनके फलोपभोग हेतु आत्मा का संसरण होता रहता है । इस प्रकार अज्ञान ही बन्धन का मूल है। इस बन्धन से निवृत्ति के लिए न्यायदर्शन में प्रमाणादि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान का तथा वैशेषिक दर्शन में द्रव्यादि सात पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान उपदिष्ट किया गया है। सांख्य-योग दर्शन के अनुसार पुरुष विशुद्ध चैतन्यरूप, असंग, उदासीन एवं नित्यमुक्त है किन्तु बुद्धि में प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब (चितिच्छायापत्ति) के कारण वह प्रकृतिकृत धर्मों को अज्ञानवशात अपना मान लेता है तथा स्वयं को बुद्ध समझने लगता है। इस बन्धन से निवृत्ति हेतु सांख्य-योग में प्रकृति-पुरुष के

विवेकज्ञान का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। पूर्व मीमांसा दर्शन में भी अज्ञान के कारण ही आत्मा विषय के सम्पर्क में आकर सुख-दुःख की अनुभूति करता है एवं बन्धन में पड़ जाता है। वेदविहित यागादि कर्मों के आचरणपूर्वक आत्मतत्त्व का ज्ञान करने से (कर्मज्ञानसमुच्चय) मोक्ष की प्राप्ति होती है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीव एवं ब्रह्म अभिन्न हैं किन्तु जब जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न समझता है तो उसका यह अज्ञान ही बन्धन का मूलकारण है। जब कोई अधिकारी जिज्ञासु सांसारिकदुःखों से पीड़ित होकर गुरु के सान्निध्य में जाता है तो आचार्य उसे 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश करता है। इस महावाक्य के अखण्डार्थ का बोध होने पर मुमुक्षु को जीव-ब्रह्मैक्य का ज्ञान हो जाता है। इसके उपरान्त मुमुक्षु 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करते हुए 'ब्रह्मसाक्षात्कार' कर लेता है। यही 'ब्रह्मसाक्षात्कार' मोक्ष की स्थिति है।

दर्शनों में परस्पर समन्वय का चतुर्थ बिन्दु है- आचारमीमांसा का प्रतिपादन। समस्त दर्शनों में दार्शनिक तत्वों के विश्लेषण के लिए तीन प्रविधियों का प्रयोग पाया जाता है- तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा। भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा के गहन अनुशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक दर्श न में तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा के साथ आचारमीमांसा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वस्तुतः दर्शन का प्रयोजन ही मानव का नैतिक उत्थान है, जिसके लिए कर्मसिद्धान्त एवं अन्य साधनापद्धतियों का सूक्ष्म विश्लेषण हमें प्रत्येक भारतीय दर्शन में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शनों में एक सैद्धान्तिक संबन्ध भी दृष्टिगोचर होता है।

न्याय एवं वैशेषिक—

जिस प्रकार गौतम द्वारा प्रचलित न्यायदर्शन तथा कणाद द्वारा स्थापित वैशेषिकदर्शन अपनी तत्वमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा के कारण वैचित्र्यपूर्ण प्रतीत होता है परन्तु ईश्वरकर्तृ क परमाणु संयोग सिद्धान्त तथा दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति रूपी मोक्ष मार्ग जैसे प्रतिष्ठित सिद्धान्तो में साम्यता प्रस्तुत होना एवं समान रीति का अनुकरण करना न्याय एवं वैशेषिक को एक ही धारा में समाहित करता है।

साख्य एवं योग—

इन दोनों दर्शनों में एक मूलभूत समानता दृष्टिगोचर होती है कि सांख्यसिद्धान्त की तत्वमीमांसा के अन्तर्गत 25 तत्वों का विवेचन किया गया है तथा योग दर्शन की तत्वमीमांसा में उन्ही 25 तत्वों को स्वीकार करके एक ईश्वर को ही पृथक् रूप में स्वीकृत कर 26 वाँ तत्व स्वीकार किया है अन्य सभी 25 तत्व दोनों में समान हैं। इसके अनन्तर एक सैद्धान्तिक समानता भी है -जहाँ सांख्य इ श्वर की सत्ता स्वीकार नही करता है परन्तु सांख्य में प्रकृति के चाञ्चल्य स्वभाव को वर्णित करना एवं सत्व, रज, तम इन तीन गुणों का मानव के स्वभाव में भेद कारण सिद्ध करना योग को भी स्वीकार है। यही सरणि सांख्य एवं योग की एकरूपात्मकता को सिद्ध करती है।

मीमांसा एवं वेदान्त–

वेदों की कर्म मीमांसा को प्रतिपादित करने वाली पूर्वमीमांसा वेदों की ब्रह्म मीमांसा का एक विशिष्ट अंग है, क्योंकि धर्म मीमांसा से शुद्ध चित्त ही ब्रह्ममीमांसा में एकाकारित होने की योग्यता रखता है। अतः पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांसा दोनों ही मीमांसा की धारा एक ही सिद्धान्त की अवच्छिन्न दो धाराएं हैं।

इस प्रकार से ज्ञात होता है कि प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में तत्वमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा का एक सूक्ष्म भेद तो प्राप्त होता है परन्तु यह भेद वास्तविक न होकर प्रातिभासिक ही है, क्योंकि सभी दर्शनों का परम लक्ष्य मानव का कल्याण मात्र है। मानव सभ्यता के आद्य वांग्मय ऋग्वेद की सूक्ति 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' भारतीय दर्श नों के परस्पर सम्बन्ध एवं समन्वय पर पूर्ण तः सार्थ क होती है। इसी समन्वय को पुष्पदन्त के निम्नलिखित श्लोक से भी पुष्ट किया जा सकता है जिसमें यह कहा गया है कि जिस प्रकार समस्त नदियाँ अन्त में समुद्र में ही स्थान प्राप्त करती हैं उसी प्रकार प्राणियों के भेदानुसार विभिन्न दार्शनिक सरल एवं कठिन के भेद से अपने विचारों का उद्भावन करते हैं किन्तु सभी का एकमात्र उद्देश्य मानवकल्याण ही है।

1.8 सारांश

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप जान चुके हैं कि दर्शन शब्द किस धातु से बना है ? उसका क्या अर्थ होता है ? दर्शन के विषय में विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषा का अध्ययन आप ने किया जिससे आप दर्शन के स्वरूप को समझ चुके है।

दर्शनशास्त्र की सामान्य व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है कि भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में दर्शन शब्द वस्तु तथा अवस्तु के मध्य विद्यमान महान् भेद को प्रदर्शित कर मानव को वस्तु के वास्तविक स्वरूप से परिचित कराता है तथा वस्तु के सत्य ज्ञान से मानव के चरमभूत लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसारित करता है। अतः भारतीय शास्त्रों में दर्शन को सम्यक् ज्ञान की दृष्टि के रूप में परिभाषित कर प्रमाणशास्त्र के रूप में अभिहित किया गया है। वस्तुतः भारतीय दर्शनशास्त्र वेदों में निहित श्रुतियों का ही उद्भावक है, जो कि अपने प्रबल प्रमाणों एवं तर्कों के आधार पर श्रुतियों के गूढार्थ को सोदाहरण प्रस्तुत कर मानव की भौतिकवादिता से निवृत्ति कर आध्यात्मिकता में प्रवृत्ति कराता है। सम्पूर्ण भारतीय.दर्शन को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया है- आस्तिक दर्शन एवं नास्तिक दर्शन। भारतीय विचारधारा में वेद को प्रमाणिक रुप से स्वीकार करने वाले दर्शन आस्तिक दर्शन तथा जो वेद की प्रमाणिकता को स्वीकार नही करते हैं वह नास्तिक दर्शन है। इस प्रकार आस्तिक का अर्थ है "वेद का अनुयायी" और नास्तिक का अर्थ है "वेद के विपरीत "। इस दृष्टिकोण से भारतीय दर्शन में छः दर्शनों को आस्तिक कहा जाता है। यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं इसीलिए यह आस्तिक दर्शन कहलाएं। नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन आते हैं। यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही करते है। इनके अनुसार ईश्वर है ही नही। चार्वाक के मत में तो यह नश्वर शरीर ही आत्मा इसके अतिरिक्त कुछ भी नही। अतः इस इकाई का अध्ययन कर आप भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय एवं उसके प्रतिपाद्य को बता सकेंगे एवं इनका वैशिष्ट्य समझा सकेंगे।

अभ्यास प्रश्न. 3

1. भारतीय दर्शन की मुख्यतः कितनी धाराएँ है?

क. 2 ख. 4

ग. 3 घ. 6

2. न्यायदर्शन वादियों ने आत्मा के कितने रुप बताये हैं?

क. 4 ख. 2

ग. 3 घ. 6

3. सांख्य दर्शन सृष्टि की उत्पति के लिए कितने तत्व मानता है?

क. 4 ख. 6

ग. 3 घ. 2

4. कौन-सा दर्शन शरीर को ही आत्मा मानता हैं।

क. सांख्यदर्शन ख. न्यायदर्शन

ग. चार्वाकदर्शन घ. जैनदर्शन

5. जैनदर्शन के अनुसार जीव कितने प्रकार के होते है?

क. 4 ख. 2

ग. 3 घ. 6

6. अनन्त चतुष्टय का उल्लेख किस दर्शन में प्राप्त होता है?

क. सांख्यदर्शन ख. न्यायदर्शन

ग. चार्वाकदर्शन घ. जैनदर्शन

7. बुद्ध के अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्व में कितने स्कंध होते है?

क. 4 ख. 5

ग. 3 घ. 6

8. माया की कितनी शक्ति होती है?

क. 4 ख. 5

ग. 2 घ. 6

9. अध्यास का दूसरा नाम क्या है?

क. सगुण ख. निर्गुण

ग. अविद्या घ. आत्मा

10. सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष के अस्तित्व के लिए कितने प्रमाण माने है?

क. 4 ख. 5

ग. 2 घ. 6

1.9 पारिभाषिक शब्दावली

शब्द	**-**	**अर्थ**
दृश्	-	यह एक धातु है। जिसका अर्थ है, देखना।
दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्	-	जिसके द्वारा देखा जाए या जो देखा जाए वही दर्शन है।
आस्तिक	-	वेदों को मानने वाले
नास्तिक	-	वेदों को ना मानने वाले
प्रत्यक्ष	-	सामने (अक्ष के सम्मुख)
फिलॉसफी	-	फिलॉसफी का हिन्दी अर्थ दर्शन है।
पंचभूत	-	पृथ्वी, अग्नि,वायु,जल,आकाश नामक महाभूत
चौतन्य	-	चेतना से संपन्न
तीर्थंकर	-	धर्म प्रचारक जैन सिद्ध
वेद का अनुयायी	-	जो वेद को मानने वाले है।
प्रमाता	-	जानने वाला
भोक्ता	-	भोगने वाला

कर्ता - करने वाला

1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न.1

1.ख, 2.क 3.ख 4.क 5.ख 6.ग 7. घ 8.क 9. ग 10. ग

अभ्या स प्रश्न. 2

1. घ 2.क 3.क 4.ग 5.ग 6.घ 7.ख 8.क 9.ग 10. ग

अभ्यास प्रश्न.3

1.क 2.ख 3.घ 4.ग 5.ख 6.घ 7.ख 8.ग 9.ग 10.ख

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय दर्शन, दत्ता एवं चट्टोपाध्याय, पुस्तक भण्डार, पटना, 1969
2. भारतीय दर्शन, एस. राधाकृष्णन (अनु.) नन्दकिशोर गोभिल, राजपाल एंड संस,दिल्ली, 2010
3. भारतीय दर्शनः आलोचन एवं अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास,दिल्ली, 2013
4. भारतीय दर्शन का इतिहास, एस.एन.दासगुप्ता, (अनु.) कलानाथ शास्त्री एवं सुधीर कुमार, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003 (तृतीय संस्करण)
5. संस्कृत वांग्मय का बृहद इतिहास (दर्शन खण्ड), (स.) बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनउ, 1993
6. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा ओरिएण्टालिया, वाराणसी, 1976
7. भारतीय दर्श नः आलोचन एवं अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, पुस्तक भण्डार, पटना,1969।
8. संस्कृत वांग्मय का बृहद इतिहास (दर्शन खण्ड), (स.) बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखऊ, 1993।
9. भारतीय दर्शन बृहत्कोष, बच्चूलाल अवस्थी, शारदा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,2004

1.12 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय दर्शन की रुपरेखा- प्रो0 हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा- मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी
2. भारतीय दर्शन- आचार्य बलदेव उपाध्याय- शारदा मंदिर वाराणसी
3. भारतीय दर्शन- जगदीशचन्द्र मिश्र- चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. दर्शन शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए ?
2. भारतीय दर्शनों का परमलक्ष्य क्या है परिभाषित कीजिए ?
3. आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन का अर्थ बताते हुए उनका संक्षिप्त परिचय दीजिए ?
4. दर्शन का महत्त्व बताइये ?
5. न्याय दर्शन में ईश्वर की सिद्धि का विवेचन कीजिए ?
6. नास्तिक दर्शनों पर एक निबन्ध लिखिए ?
7. सांख्य दर्शन की तत्त्वमीमांसा का वर्णन कीजिए ?
8. भारतीय दर्शनों में परस्पर सम्बन्ध का विवेचन कीजिए ?

9. आस्तिक दर्शनों का विस्तृत परिचय दीजिए ?
10. न्याय-वैशेषिक दर्शन का परिचय दीजिए।
11. न्याय-वैशेषिक दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का निरूपण कीजिए।
12. सांख्य-योग दर्शन का परिचय दीजिए।
13. मीमांसा-वेदान्त दर्शन का परिचय दीजिए।
14. चार्वाक दर्शन की तत्व मीमांसा की समीक्षात्मक व्याख्या करें।
15. जैन दर्शन का परिचय दीजिए।
16. बौद्ध दर्शन की चार शाखाओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
17. चार्वाक दर्शन के सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए ?

इकाई. 2 प्रमाण सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 प्रमाण सिद्धान्त का अर्थ
2.4 वेदों में प्रमाण सिद्धान्त के बीज
2.5 प्रमाण सिद्धान्त का विकास
2.6 यथार्थ ज्ञान के विज्ञान की खोज
2.7 वेदेतर दर्शन में प्रमाण सिद्धान्त
2.8 सारांश
2.9 पारिभाषिक शब्दावली
2.10 सन्दर्भग्रन्थ सूची
2.11 बोधप्रश्न

2.1 प्रस्तावना

जैसा कि पूर्व के इकाई में आपने यह अध्ययन किया कि भारतीय दर्शन ज्ञानपरम्परा के स्रोत एक व्यापक शास्त्रीय परम्परा तथा वाचिक परम्परा के माध्यम से विकसित हुआ है। अब हम सभी इस तथ्य का अध्ययन करने जा रहे हैं कि भारत की धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक संस्थाओं, परम्पराओं तथा मूल्यों की स्थापना जिस तत्वसिद्धान्त या जिन तत्वसिद्धान्तों के द्वारा निगमित है, वे सिद्धान्त एक सुव्यवस्थित, सुचिन्तित प्रमाण सिद्धान्त पर आधारित है। यहाँ पर कोई भी परम्परा या व्यवस्था केवल इसलिये मान्य नही हुई, कि वह व्यवस्था या परम्परा किसी व्यक्ति, संगठन, संस्था की इच्छा है।

प्रमाण सिद्धान्ती भारतीय चिन्तवन परम्पपरा में एक महत्वतपूर्ण विषय है। किसी विषय के यथार्थ ज्ञान को प्रमा तथा उसके असाधारण करण को प्रमाण माना जाता है। यहां असधारण कारण का तात्पर्य एक ऐसे साधन के रूप में है, जिसकी सहायता से हम यर्थाथ ज्ञान को वैध रूप में प्राप्त करते हैं। प्रमाण सिद्धान्तह का उद्गम निर्विवादरूप से वेद को स्वीरकार किया जा सकता है। जो कालान्तर में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के साथ साथ विकसित हुआ है। भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास तत्वमीमांसीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये परस्पर सवाद और प्रमाण मीमांसीय विवेचनाओं के साथ विकसित हुआ है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप—

- प्रमाण सिद्धान्त के विकास का अध्ययन कर सकेंगे।
- हिन्दू ज्ञानपरम्परा में मौलिक तत्व के रूप में लोकतन्त्र के आधार के रूप में प्रमाण सिद्धान्त की उपयोगिता को समझ सकेंगे।
- विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय में प्रमाण सिद्धान्त, उनके तत्त्व सिद्धान्त के आलोक में विकसित हुए हैं, इस तथ्य को समझ सकेंगे।
- भारतीय ज्ञानपरम्परा या हिन्दू ज्ञानपरम्परा का विकास एक पुष्ट प्रमाण सिद्धान्त के साथ विकसित हुआ है, इस तथ्य का विवेचन कर सकेंगे।

2.3 प्रमाण सिद्धान्त अर्थ

प्रमाण शब्द व उपसर्ग पूर्वक या धातु में ल्युद् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है– प्रमा का असाधारण करण। प्रमाण शब्द सामान्यतया प्रमा के अर्थमें प्रयुत्य होता है किन्तु कहीं-2 प्रमा के अर्थ में भी इसका प्रयोग मिलता है। अनधिगतार्थ गत्रृप्रमाणम् अथार्त नये विषय का ज्ञान कराने वाला ही प्रमाण है। यहाँ प्रमाण का प्रयोग प्रमा के लिए किया गया है। मीमांसा दर्शन में प्रमा और प्रमाण दोनों को प्राय: एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। प्रमाण शब्द को समझने के पहले प्रमा को समझना आवश्यक है।

अन्य दर्शनों की अपेक्षा न्याय दर्शन में प्रमाण मीमांसा पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। न्याय मत में किसी वस्तुके यथार्थ रूप की अनुभूति प्रमा है। जो जिस प्रकार है उसका उसी प्रकार से अनुभव करना प्रमा है। सामने रस्सी हो और उसका रस्सी के रूप में अनुभूति हो तो यह अनुभूति प्रमा है किन्तु अन्धकार के कारण यदि उसकी प्रतीति सर्प के रूप में हो तो यह अप्रमा है। अद्वैत वेदान्त में अनधिगत और अवांछित विषय के ज्ञान को प्रमा माना गया है। अर्थात् ज्ञान

नवीन हो और उसका बाद में खण्डन न हो। यदि अन्धकार के कारण रस्सी को सर्प के रूप में ज्ञान हुआ तो यह अवांछित नहीं है क्योंकि प्रकाश आने पर इसका खण्डन हो जायेगा, सर्प ज्ञान बाधित हो जायेगा। अत: यह ज्ञान प्रमा नहीं है।

प्रमा जिससे उत्पन्न हो उसे करण कहते हैं। प्रमा की उत्पत्ति में अनेक कारण हो सकते हैं। रूप के ज्ञान में निर्दोष चक्षु, पर्याप्त प्रकाश निकटता एवं मन का इन्द्रिय से सन्निकर्ष, इन्द्रिय का रूपवान वस्तु से सन्निकर्ष आवश्यक है। इन सभी कारणों से नेत्र असाधारण कारण है। वस्तु हो, प्रकाश हो, ज्ञातासे निकटतामी हो किन्तु यदि निर्दोष नेत्र न होती रूप का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रमा के करण को साधकतम या अत्यन्त साधक माना गया है।

अत्यन्त साधक किसी कार्य का प्रकृष्ट उपकारक है। 'राम ने रावण को वाण से मारा'। यहां रावण को प्राण जाने में बहुत से कारण हैं – रावण द्वारा सीता हरण, राम का क्रोध, धनुष, वाण, प्रत्यज्ञा आदि किन्तु रावण की सद्य: मृत्यु वाण लगने से हुई। अत: वाण को ही असाधारण करण माना जायेगा।

प्रमा और करण को समझने के बाद प्रमाण के स्वरूप को समझा जा सकता है। न्याय मञ्जरी में लिखा है – अर्थ विषयक असंदिग्ध तथा अव्यभिचारी ज्ञान जिससे उत्पन्न हो वह प्रमाण है। यथार्थ ज्ञान (प्रमा) सविषयक होता है, ज्ञान हमें विषय का ही होता है। यह लक्षण ज्ञान को स्मृति से पृथक् करता है क्योंकि स्मृति निर्विषयक होती है। अव्यमिचारि शब्द भ्रम का निराकरण करता है क्योंकि भ्रमात्यक ज्ञान व्यभिचरित होता है, बदल जाता है, खण्डित हो जाता है। असंदिग्ध शब्द निश्चयात्मक ज्ञान को प्रकट करता है। इससे संशय का निराकरण होता है। इस प्रकार स्मृतिभिन्न, संशय, विपर्यय आदि दोष से रहित किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान जिससे प्राप्त है। वही प्रमाण है।

2.4 वेदों में प्रमाण सिद्धान्त के बीज

प्रमाण मीमांसा में दो सबसे प्रमुख शब्द है– प्रमा और प्रत्यक्ष। प्रमा का जो अर्थ दर्शनों में स्वीकार किया जाता है उसी अर्थ में वेदों में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। प्रत्यक्ष शब्द भी वेदों में उपलब्ध है। वेदों में दर्शनों की तरह प्रमाण मीमांसा पर विस्तृत चर्चा नहीं है किन्तु उनके बीज एवं स्रोत इनमें विद्यमान हैं।

अथर्ववेद में प्रत्यक्ष शब्द अनेकश: आया है – यो वेतान्विद्यात प्रत्यक्ष ब्रहमावेदितं स्यात्, एकभ्भत्वा वेद प्रत्यक्ष मिन्द्वे सर्वं समहितम्, इन्द्र त्वा वेद प्रत्यक्ष स्कम्स सर्व प्रतिष्ठितम्।
वेदों में प्रमा और प्रत्यक्ष शब्दों की विद्यमानता यह दर्शाती है कि वेद प्रमाण सिद्धान्त के उत्स हैं, उद्भव स्रोत हैं।

ऋग्वेद दसवें मण्डल का इकहत्तरवां सूक्त ज्ञान विषयक है। इसके देवता ज्ञान हैं और ऋषि वृहस्पति। इस सूक्त में ज्ञान प्रति की बाधा का निवारण तथा प्रत्यक्ष का मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक पक्ष प्राप्त होता है। इस सूक्त में ज्ञान प्राप्त करते समय किन-किन सावधानियों की आवश्यकता होती है इसका वर्णन है। यहां मन्त्र में अभिव्यज्जना करते हुए कहा गया है कि दिव्य अगिड़रस वृहस्वति अज्ञान अर्थात् ज्ञान के व्यवधान कारक पहाड़ी को तोड़ डालते हैं। जब ज्ञान के व्यवधान कारक नष्ट हो जाते हैं तो सत् ज्ञान का उदय होता है। तभी वह ज्ञान वाणी द्वारा कहने योग्य होता है और वह सप्त स्वर अर्थात् छन्दों द्वारा व्यक्त होता है।

ज्ञानसूक्त के सातवें यन्त्र में कहा गया है कि आंख और कान से सम्पन्न मित्र (देवता)

मन के भावों को विशिष्टता से व्यक्त करते हैं। यहां प्रत्यक्ष प्रमाण का अवगति प्राप्त होती है। ऋग्वेद का मन्त्र कहता है – मन के सन्तुलित व्यापारों के पश्चात् ही ज्ञाता अर्थात् प्रमाता सत्रू की भांति छानकर (सत्रू को सूप से शुद्ध करते हैं) अन्तर्मन से परिरक्षित कर ज्ञान को वाणी का विषय बनाता है। यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा के सन्तुलित व्यापार या प्रयास को उत्तम यज्ञ माना गया है।

ऋग्वेद नासदीय सूत्त में सृष्टि पूर्व की स्थिति का अनुमान किया गया है। उस प्रलय काल में न असत् था और न सत् न पृथ्वी थी न आकाश। उस समय कहां क्या आच्छादित था? किसके भाष्य से था? गंभीर जल भी कहां था?

उस समय न मृत्यु थी न अमरता। पर प्रश्न है (फिर क्या था ? फिर ऋषि ने अनुमान किया) वह एक अपनी स्वर्धा प्रकृति के साथ बिना प्राण वायु के प्राणन कर रहा था।

अथर्ववेद में अनुमृश्य एवं अनुमेय पदों का प्रयोग मिलता है। छान्दोयिपनिषद् में **वाकोवाक्य विद्या** (तर्क विद्या) का उल्लेख मिलता है जिसका प्रमाणों से गहरा सम्बन्ध है। ऐतो ब्राहमण में युक्ति पद उपलब्ध होता है। **अनुभीयन्ते अनुमीमते, अनुविना भाविनी** आदि शब्द उपनिषदों में व्याख्या सहित उपलब्ध हैं। यजुर्वेद एवं ब्राहम ग्रन्थों के साथ ही वृहदारण्यक एवं छान्दोग्योपनिषद में अनुवीक्षण शब्द प्राप्त होता है। यह अनुमान का संकेत करता है। उपनिषदों के संवाद यम-नचिकेता, प्रजापति इन्द्र विरोचन, याज्ञवल्क्य, शब्द प्रमाण को प्रमाणित करते हैं। नचिकेता, इन्द्र और विरोचन को क्रमश यम, इन्द्र एवं याज्ञवल्क्य के वचन प्रमाण हैं। छान्दोग्योपनिषद् में नारद सन्त् कुमार से आत्म तत्व की शिक्षा लेते हैं। नारद को सनत्कुमार के शब्दों पर पूर्ण विश्वास है।

2.5 प्रमाण सिद्धान्त का विकास

भारतीय परम्परा में ज्ञानमीमांसा के उद्भव और विकास का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना भारतीय दार्शनिक परम्परा। हम जानते हैं कि भारतीय दार्शनिक परम्परा को मनीषियों और वाङ्मयों को काल निर्णय द्वारा बांटकर समझ पाना संभव नहीं हो सका है अतः भारतीय ज्ञानमीमांसा के उद्भव एवं विकास को दार्शनिक ग्रन्थों की प्रकृति के आधार पर ही रेखांकित किया जा सकता है। भारतीय प्रमाणशास्त्र का इतिहास क्रम को हम निम्न क्रम में अध्ययन कर सकते हैं-

1. उपनिषद्- वाकोवाक
2. आंविक्षिकी- विद्या
3. हेतु विद्या
4. प्रमाणसिद्धान्त की स्थापना
5. यथार्थज्ञान के विज्ञान की खोज
6. बौद्ध-प्रमाणसिद्धान्त का इतिहास
7. जैन-प्रमाणसिद्धान्त का इतिहास

वेद भारतीय वाङ्मय का उत्स है। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त को तर्क का प्राथमिक उत्स माना जा सकता है। जहाँ वैदिक ऋषि ने जिज्ञासा किया है- “तब फिर जानने वाला कौन है; किसने इसकी यहां घोषणा की, कहां से यह सृष्टि उत्पन्न हुई? देवता इस सृष्टि के बाद आये, तो फिर कौन जानता है कि यह कहां से प्रादूर्भूत हुई।

जिससे इस सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ, उसने बनाया या नहीं बनाया, उच्चतम व्योम में ऊँचे से ऊँचा देखने वाला, यही यथार्थ रूप से जानता है या वह भी नहीं जानता।" उपनिषद् विश्व सभ्यता के प्रचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। वेद में संहिता ब्राह्मण, अरण्यक, उपनिषद भाग हैं। उपनिषदों में हेतु विद्या के नाम से तर्कशास्त्र या तर्कविद्या की चर्चा है। उपनिषद का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म-विद्या है। ब्रह्म-विद्या सभी विधाओं का अजस्रस्रोत है। उपनिषदों में 'वाकोवाक्यम्' के रूप में तर्कविद्या का उल्लेख है। उपनिषदों में आत्म विद्या की स्थापना में हेतु विद्या या वाको वाक्यम् का प्रयोग हुआ है। उपनिषदें संवाद शैली में तर्क की स्थापना करती है। प्रश्न पूछना और उसका उत्तर देना उपनिषदों का मुख्य शैली है।

आंविक्षिकी विद्या आत्मविद्या का अगला विकास आविंक्षिकी है। मनु ने आन्विक्षिकी को आत्मविद्या के समतुल्य स्वीकार किया है। अक्षपाद महर्षि ने इस आन्विक्षिकी विद्या की सूत्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशन किया। वे इसके स्रष्टा नहीं है। वेदविद्या की तरह यह आन्विक्षिकी विद्या भी विश्व के रचयिता का अनुग्रह दान है।

छान्दोग्य उपनिषद के सप्तम अध्याय में प्रसंग है। एक समय महर्षि नारद ने सनत् कुमार के पास जाकर विद्या प्राप्त करने की प्रार्थना की। सनत् कुमार के द्वारा पूछे जाने पर कि आपको कौन-कौन सी विद्या ज्ञात है। नारद जी ने कहा- मैं ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद जानता हूँ। पंचम वेद इतिहास एवं पुराण भी जानता हूँ। व्याकरणशास्त्र, पित्र्य (श्राद्ध कल्प), राशि (अंकगणित), देव (उत्पात विद्या) निधि, वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), देव विद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या (वेदांग, शिक्षा, कल्प आदि) सर्पविद्या (गरुड़), भूतविद्या (भूततन्त्र), क्षात्रविद्या (धनुर्वेद), नक्षत्रविद्या (ज्योतिष), देवजन विद्या अर्थात् गन्धर्व युक्ति, नृत्य, गीत, वाद्य, शिल्प, आदि विज्ञान को मैं जानता हूँ।

इस प्रकार आत्मविद्या के विकास के रूप में 'आविंक्षिकी' का विकास हुआ है। मनु ने आंविक्षिकी का प्रयोग आत्मविद्या के रूप में किया है।

कौटिल्य ने (327 ई. पू.) त्रयी, वार्ता, दण्डनीति के अलावा आविंक्षिकी को अध्ययन विद्या के एक विशेष शाखा के रूप में उल्लेख किया है।2 आंविक्षिकी की विषयवस्तु दो हैं- आत्मविद्या और हेतुविद्या (तर्क का सिद्धान्त)। तर्क के सिद्धान्त की प्रधानता होने के कारण ही आंविक्षिकी आत्मविद्या से पृथक है। कौटिल्य ने आंविक्षिकी में सांख्य योग तथा चार्वाक्मत को समाहित किया है।

2.6 यथार्थ ज्ञान के विज्ञान की खोज

न्यायभाष्य में तर्कशास्त्र को न्याय-शास्त्र के रूप में विवेचित किया गया। न्यायशास्त्र अनुमान का विज्ञान है। नारद को न्यायशास्त्र का विशेषज्ञ माना जाता है। वे अपने संवाद में पंचावयव वाक्यों का प्रयोग करते थे किन्तु उन्होंने न्यायशास्त्र पर पृथक् से कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है।

न्यायसूत्र, भारतीय तर्कशास्त्र के इतिहा का प्रथम ग्रन्थ है। जिसमें व्यवस्थित रूप में तर्कशास्त्र की विवेचना की गयी है। न्यायसूत्र के लेखक का नाम अक्षपाद ऋषि है। विद्याभूषण ने इनका काल 150 ।ण्क्ण् माना है। उद्योतकर (600 ।ण्क्ण्द्ध ने अपने ग्रन्थ न्यायवार्तिक में अक्षपाद को व्यवस्थित तर्कशास्त्र प्रस्तुत करने वाला प्रथम ऋषि माना है। इस तथ्य की पुष्टि न्याय तात्पर्य टीका और न्यायमळजरी से भी होता है।

वैदिक न्याय परंपरा का सूत्रपात ऋषि अक्ष पाद जिन्हें गौतम ऋषि भी कहा जाता हैके द्वारा होता है इन्होंने नए सूत्र की रचना की गौतम ने नया सूत्र में न्याय के समय विषय वस्तु को 16 शिक्षकों के अंतर्गत विश्लेषित किया है इन 16 पदार्थ का वर्गीकरण प्रमाण और प्रमेय के रूप में किया जा सकता था किंतु न्याय दर्शन में प्रमाण भी ज्ञान का विषय है इसलिए गौतम ने प्रमाण को भी पदार्थ के रूप में रखा और मानव के लिए प्रमाण का ज्ञान आवश्यक माना है।

वात्स्यायन इन्होंने नया सूत्र पर भाषण लिखा और अपने समय के आसपास अर्थात् 400 ई तक के सभी बौद्ध, जैन, दार्शनिकों की तार्किक सिद्धांतों के आलोक में न्याय सूत्र की पुनः व्याख्या की।

उद्योतकर-इन्होंने वास साइन की भाषा परपुनः एकग्रंथ लिखा जिसे न्याय भारती कहते हैं उद्योगकर का नया वार्षिक बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

उदयनाचार्य- इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक न्याय कुसुम अंजलि ईश्वर के अस्तित्व संबंधी तर्कों को रखा है यह भारतीय परंपरा के उन दार्शनिकों में से एक है जिन्होंने ईश्वर को तर्क के आधार परसिद्ध किया है।

गंगेश उपाध्याय- 12वीं सती में भारतीय न्याय शास्त्र के इतिहास में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आयाइस परिवर्तन की अग्रदूत बने गंगेश उपाध्याय इन्होंने तत्व चिंतामणि नामक ग्रंथ लिखा। नव विनायककी अन्य प्रमुख आचार्य में मथुरा नाथ तर्क वागीश जगदीश तर्क अलंकार गदाधर भट्टाचार्य अन्य प्रमुख नव्य न्याय शास्त्री है जिन्होंने भारतीय न्याय परंपरा को नए रीति से युगानुकूल बनाया।

2.7 वेदेतर दर्शन में प्रमाण सिद्धान्त

उपनिषदों के बाद शताब्दियों तक अक्रियावाद, यदृच्छावाद, नियतिवाद आदि अनेक अवैदिक मतों का जन्म हुआ। ये लोक में स्थापित भी हुए इन्हें सामान्यत: लोकायत मत कहा जाता है। इनके प्रतिनिधि विचार चार्वाक दर्शन में विद्यमान हैं। इनमें प्रमाण मीमांसा बड़े ही तार्किक ढंग से की गयी है।

चार्वाकों के अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। विषय एवं इन्द्रिय के संपर्क से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्दादि विषयों का ज्ञान हमें क्रमश: आंख जिहवा, नाक, त्वचा एवं कान के द्वारा होता है। चार्वाक अनुमान एवं शब्द प्रमाण का जोरदार खण्डन करते हैं। अनुमान का खण्डन करते हुए कहते हैं कि अनुमान संभावना है निश्चित ज्ञान नहीं। चार्वाक कहता है व्याप्ति की स्थापना प्रत्यक्ष से संभव नहीं है। समस्त घूम युक्त स्थानों को प्रत्यक्ष रूप में अग्नि युक्त देखना संभव नहीं है। व्यात्रि तभी संभव है जब कोई यह दावा करे कि उसने समस्त धूम युक्त वस्तुओं को देखा है और वहां आग पाया है। किन्तु ऐसा असंभव है। प्रत्यक्ष इतना व्यापक नहीं हो सकता। वर्तमान कालिक समस्त धूमयुक्त स्थान पर अग्नि को देखना असंभव है और सूतकालिक और भविष्यत् कालिक विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष से संभव नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष वर्तमान तक सीमित है।

बौद्ध-तर्कशास्त्र

उद्योतकर (न्यावातिकम्):- शैवमतस्थ पाशुपताचार्य था। वह संस्कृत का पण्डित, जैन और बौद्ध शास्त्र पारंगत और गौतमीय न्याय का विशेषज्ञ था। वह लिखित शास्त्रार्थ के क्षेत्र में उतरा उसने ग्रन्थ-न्याय वार्तिक का श्रीगणेश जिस अभिमान पूर्ण प्रतिज्ञा से की वह द्रष्टव्य है-

"मुनियों में प्रवर अक्षपाद ने जगत् कल्याण के लिए जिस शास्त्र का उपदेश किया, उसे (दिङ्नाग आदि बौद्ध) कुतार्कि ने कलुषित किया। उन कुतार्किकों के आज्ञान की निवृत्ति के लिए मैंने यह प्रबन्ध रचा है।

धर्मकीर्ति:- उसने तर्कशास्त्र के क्षेत्र में तीसरा प्रमुख वार्तिक लिखा धर्मकीर्ति का ग्रन्थ-प्रमाण वार्तिक सूक्ष्म तर्कों से भरा पड़ा है।

नागार्जुन- बुद्ध के निर्माण के बाद नागार्जुन एक प्रसिद्ध दार्शनिक के रूप में उबरते हैं इनके प्रमुख ग्रंथ हैं माध्यमिक कार्य का प्रमाण विध्वंशन उपाय कौशल विग्रह व्यवर्तनी कार्य का नागार्जुन ने अपने ग्रंथ विग्रह व्यवर्तनी में न्यायशास्त्र के प्रणेता गौतम के सिद्धांतों को खंडित करते हैं अपनी पुस्तक प्रमाण विध्वंशन में नागार्जुन ने न्याय दर्शन में प्रतिपादित 16 पदार्थ का खंडन किया है उपाय कौशल ग्रंथ में 16 पदार्थ के अंतिम पदार्थ निग्रह स्थान पर विशेष विचार किया है।

बस बंधु इनका जन्म गंधार में लगभग 410 या 490 ई के आसपास हुआ था यह गुप्त काल के प्रमुख राजा कुमार गुप्त स्कंद गुप्त पूर्व गुप्त के आसपास विद्यमान थे इन्होंने वाद विधि वाद मार्ग वाद कौशल नामक ग्रंथ लिखे इन्हीं के शिष्य आचार्य दीङ्गनाथ थे जिनका बहुत तर्क शास्त्र में बड़ा योगदान है।

दीङ्गनाथ- लगभग 480 ई के आसपास डींगनाग नामक बौद्ध दार्शनिक का जन्म कांची आज के कांजीवरम के पास सिंह वक्र में हुआ था इन्होंने प्रमाण समूचे न्याय प्रवेश हेतु चक्र डमरू प्रमाण समूचे वृद्धि आलंबन परीक्षा जैसे शास्त्रीय की रचना की।

शांत रक्षित- लगभग 705 ई के आसपास इनका जन्म बंगाल में हुआ था यह कुछ समय तक नालंदा विश्वविद्यालय में अध्यापन किए थे तथा तिब्बत में भी रहे उनके प्रमुख ग्रंथ है- वादन्यायवृति विपनचितार्थ तत्वसंग्रह।

जैन प्रमाण सिद्धान्त

जैन धर्म के लोग अपने धर्म प्रचारक सिद्धों को तीर्थंकर कहते हैं। महावीर स्वाामी इस धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर हैं। जैन धर्म का स्वधरूप बहुत कुछ इन्हीं के देन है। ऋषमदेव प्रथम तथा पार्श्वनाथ तेइसवें तीर्थंकर हैं। महावीर स्वाकमी महात्माक बुद्ध के समकालीन और उम्र में उनसे बड़े थे।

जैन परम्परा में प्रमाणसिद्धान्त के प्रमुख आचार्य:-

नाम	काल	ग्रन्थ
आचार्य कुन्दकुन्द और उमास्वाति		तत्वार्थसूत्र
समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर		न्यायावतार
अकलंक	8 वीं शताब्दी	लघीयस्त्रय, न्याय-विनिश्चय, सिद्धि विनिश्चय, तथा प्रमाणसंग्रह
विद्यानन्द		प्रमाण-परीक्षा
माणिक्य नन्दी	993-253 ईस्वी	परीक्षामुख
वादिदेवसुरि		
आचार्य हेमचन्द्र	12वीं शताब्दी	प्रमाण मीमांसा

जैनन्यायशास्त्र का विकास भी जैन दर्शन की स्थापना के लिए हुआ है जैन आगमों में जैन धर्म का वर्णन है किंतु ईशा की पहली दूसरी शताब्दी में कुंदकुंद नामक जैन आचार्य ने अपने प्रबल तर्कों के द्वारा जैन सिद्धांतों को निरूपित किया है उनकी पुस्तक प्रवचन सार है कुंदकुंद के बाद उनके शिष्य उमा स्वामी नेतत्वार्थ सूत्र नामक ग्रंथ संस्कृत में लिखिए। इस सूत्र में उन्होंने परमाणु की चर्चा की है और इस ग्रंथ के बाद जैन तर्कशास्त्रीयो का मार्ग और प्रशांत हो गया।

जिस समय भारत में बौद्ध तर्कशास्त्र के जनक डिगनाजी अपने तार्किक सिद्धांतों के द्वारा वैदिक तथा जैनमत का खंडन कर रहे थे इस काल में जैन न्याय के क्षेत्र में अनेक विद्वानों का उदय .हुआ उनमें स्वामी समर्थ भद्रप्रमुख है इनका जन्म दक्षिण भारत में हुआ था इन्होंने तत्वार्थ सूत्र परतटवर्ता अधिगमसूत्र नामक टिका लिखी। इनके बाद सिद्ध सिंह दिवाकर नामक आचार्य अकलंक

आचार्य अकलंक—

अकलंक दक्षिण भारतीय दिगंबर संप्रदाय के सुप्रसिद्ध नायक थे इन्होंने जैन परंपरा के सभी तत्वों का निरूपण तार्किक शैली से संस्कृत भाषा में इस प्रकार से किया जिस प्रकार से वैदिक और बौद्ध परंपराओं में पहले ही हो चुका था अकलंक ने बौद्ध और वैदिक ग का गहन अध्ययन कर जैन मंतव्य की पुनः स्थापना की अकलंक की प्रमुख ग्रंथ इस प्रकार से हैं सिद्धि विषय न्यायाधीश से प्रमाण संग्रह अष्टसती इत्यादि।

यशु विजययशु विजयश्वेतांबर संप्रदाय के आचार्य थे इनका जन्म 19 वीं शताब्दी में हुआ था इन्होंने नव विनय का अध्ययन करके एक नवीन पद्धति के द्वारा जैन न्याय को प्रस्तुत किया इनके द्वारा रचित जैन तक भाषा नामक ग्रंथ बहुत ही लोकप्रिय है।

मल्लवादी सूरी (संवत् 375 विक्रम) —

जब वैदिक और बौद्ध तर्कवाण चल रहे थे तब जैन विद्वान सोए नहीं पड़े थे। पश्चिम भारत में वल्लभी भी राजधानी विद्या का ख्यात केन्द्र थी। यहां बौद्ध, जैन और वैदिक सभी धर्मों के विद्यागुरू रहते थे। मल्लवादी सूरि का वल्लभी से पर्याप्त सम्बन्ध रहा। ये महात्मा न्यायशास्त्र के प्रवीण पण्डित थे। इन्होंने द्वादशार-नयचक्र नामक ग्रन्थ लिखा।

न्याय शास्त्र की उपयोगिता—

आप जानते हैं कि भारतीय दर्शन कृषियों के द्वारा तत्व साक्षात्कार से प्राप्त हुआ किंतु ऋषियों ने अपनी अनुभूतियों को तर्क के सहारे जनमानस तक पहुंचा है इसलिए भारत में न्याय शास्त्र अर्थात जिसे हम आज तर्कशास्त्र के रूप में समझते हैं विकसित हुआ जब वैदिक ज्ञान परंपरा पर अवैदी के दार्शनिकों द्वारा सांसद उत्पन्न किया गया या आयुर्वेदिक परंपरा की ज्ञान प्रणाली में वैदिक विद्वानों द्वारा संशय और प्रश्न खड़ा किया गया तो दोनों ही प्रणालियों में एक सुगठित न्याय प्रणाली और उसे प्रणाली को प्रस्तुत करने हेतु न्याय संबंधी ग्रन्थ का निर्माण हुआ इसीलिए न्याय शास्त्र को अन्य शास्त्रों को दीपक भी कहा गया है क्योंकि यह अन्य शास्त्रों में निहित रहस्य का पता लगाने के लिए सर्वाधिक समर्थ है किसी भी ज्ञान की स्थापना में पाठकों के लिए यह प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है कि वह उसे किस प्रकार सत्य माने या उसका बिना परीक्षण किया वह कैसे ग्रहण कर सकते हैं मानवी बुद्धि की यह एक मौलिक विशेषता है और यह उचित भी है कि वह सत्य को ही स्वीकार करती है तारक हमें ऐसी विवेचना जो सीधी-सीधे सत्य नहीं प्रतीत होते तो उनके सत्यांश को खोजने का कार्य तार करता है।

जो लोग श्रद्धा या विश्वास के आधार पर चलते हैं उनके लिए तारक भले ही अधिक उपयोगी ना हो पर जीवन व जगत के अधिकतर क्रियाकलापों का आधार हमें विवेक से प्राप्त होता है और इस विवेक का सबसे बड़ा विश्लेषण के न्याय शास्त्र है।

इस प्रकार भारत में न्याय का आधार संशय है जहां कहीं भी जो विषय निःसंदिग्ध हैं या अस्तित्व में ही नहीं है वहां तो न्याय शास्त्र की आवश्यकता नहीं पड़ती किंतु जहां कहीं किसी वस्तु बात या समस्या का अस्तित्व हो और हम उसका निर्णय न कर पा रहे हैं वहां पर हमें न्याय शास्त्र की सहायता अपेक्षित हो जाती है भारतीय परंपरा के ऐतिहासिक क्रम में जब-जब मनुष्यों के समक्ष अवधारणात्मक या सवितागत समस्या उत्पन्न हुआ तब तक न्याय शास्त्र का सहारा लिया गया है यही कारण है कि भारत में चाहे वैदिक हो या आवैंदिक हो या भौतिकवादी हो साभियों ने अपने सिद्धांत और विचारधारा की रक्षा के लिए न्याय शास्त्र का आश्रय लिया है और दूसरे शब्दों में कहें तो भारत को जानने का एक रास्ता भारतीय न्याय शास्त्र के विकास से होकर जाता है अतः न्याय शास्त्र न केवल शास्त्री दृष्टी से अपितु व्यवहारिक जीवन यापन के लिए भी अत्यधिक उपयोगी है और न्याय शास्त्र के विकास भारत प्राचीन काल से आज तक करता रहा है

प्रश्न: पाश्चात्य तर्कशास्त्र और भारतीय न्याय शास्त्र में क्या साम्य तथा वैषम्य है ?

उत्तर: भारत में तर्कशास्त्र और प्रमाण शास्त्र का विकास सम्मिलित रूप से हुआ है किंतु पाश्चात्य दार्शनिकों नेइन दोनों शास्त्रों का विश्लेषण अलग-अलग किया हैन्याय शास्त्रयथार्थ को उद्देश्य मानकर चलता है अर्थात जो वस्तु जैसा है उसी प्रकार प्राप्त करना जबकि पाश्चात्य तर्कशास्त्र का प्रयोजन सत्य की प्राप्ति है अर्थात विचारों की संगति किस प्रकार से हो पश्चिम में विचारों की संगति ही सत्य हैशुद्ध विचार के अनुकूल कोई वस्तु संसार में हैया नहीं इस पर पाश्चात्य तर्कशास्त्र विचार नहीं करता जबकि भारतीय न्याय शास्त्र के अनुसार किसी विचार का सत्य होने के साथ-साथ उसे यथार्थ रूप में होना भी आवश्यक हैदूसरे शब्दों में कहें तो न्याय शास्त्र में सत्य की पहचान व्यवहारिक सफलता से होती है जबकि तर्कशास्त्र में सत्य की पहचान विचारों की संगति से।

प्रश्न: तो क्या पश्चात्य तर्कशास्त्र और भारतीय न्यायशास्त्र के लिए सत्य दो है?

उत्तर: नहीं क्योंकि पाश्चात्य तर्कशास्त्र में सत्य को दो भागों में विभाजित किया गया है आकारिक सत्यता और वास्तविक सत्यता जबकि भारतीय न्याय शास्त्र में इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं है न्याय दार्शनिकों नेतो यहां तक कह दिया की वास्तविक सत्यता के अभाव में आकर एक सत्यता का कोई महत्व नहीं है जैसे यदि एक वाक्य हमले सोने का पहाड़ है तो यह वाक्य पाश्चात्य तक्षशास्त्र के अनुसार आकारिक रूप से सत्य है और पत्थर का पहाड़ है यह वास्तविक रूप से सत्य है भारतीय न्यायधीश कहते हैं कि आकारिक सत्यता का जीवन में कोई उपयोग ही नहीं है वस्तुतः वास्तविक सत्यता में ही आकर एक सत्यता भी रहती ही है अतः सत्य को दो मानने की आवश्यकता नहीं सत्य एक ही होता है और वह वस्तुतः सत्य होता है।

इस बात का क्या स्पष्टीकरण होगा की चाहे पाश्चात्य तर्कशास्त्र हो या भारतीय न्यायशास्त्र दोनों ही सत्य का कन्वेंशन करते हैं भले ही इनकी विधियां अलग-अलग है? चूंकी पाश्चात्य तर्कशास्त्र के दो भेद हैं आगमन और निगमन आगमन तर्कशास्त्र में हम विशेष तर्क वाक्य को आधार बनाकर सामान्य तर्क वाक्य की स्वरूप वाला निष्कर्ष प्राप्त करते हैं ऐसा प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में घटित होता है जबकि निगमन में सामान्य तर्क वाक्य को आधार

बनाकर हम विशेष तर्क वाक्य का निष्कर्ष प्राप्त करते हैं ऐसा सामाजिक विज्ञान धर्मदर्शन इत्यादि के क्षेत्र में घटित होता है आगमन निगमन का यह भेद भी नैयायिको को मान्य नहीं है।

2.8 सारांश

किसी विषय के यथार्थ ज्ञान को प्रमा तथा उसके असाधारण करण को प्रमाण माना जाता है। प्रमाण सिद्धान्त का उद्भव कब हुआ इस विषय में निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि वेदान्त की ज्ञान परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में देखें तो प्रमाण सिद्धान्त अनादि है। वेदान्त यह मानता है कि चैतन्य ही ज्ञान है और चैतन्य अनादि है तो ज्ञान का कारण प्रमाण भी अनादि होना चाहिए। साहित्यिक दृष्टि से निर्विवाद रूप से वेद प्राचीन ग्रन्थ हैं। वेदों में यद्यपि प्रमाण मीमांसा विधिवत् नहीं प्राप्त होती है लेकिन प्रमा एवं प्रमाण विषय पर चर्चा में यत्त-यत्त है। अत: वेद को प्रमाण सिद्धान्त का उत्स माना जा सकता है। वेद वेदान्त के बाद एक वर्ग वैदिक क्रिया कलाप और प्रमाण का खण्डन करने लगा जिसके प्रति निधि दार्शनिक चार्वाक हैं। चार्वाक ने एक मात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण माना और कुशल तार्किक की तरह अनुमान और शब्द प्रमाण (वेद) का खण्डन किया।

भारतीय प्रमाण मीमांसा अपने विकास यात्रा में विभिन्न पड़ावों से गुजरी। जहां चार्वाक ने एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार किया वहीं वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शन के अनुमान को भी प्रमाण माना। जैनियों ने शब्द प्रमाण को भी स्वीकार कर तीर्थंकारों के वचनों की प्रमाणिकता स्थापित की। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण को अनेक दर्शन प्रजालियों में स्वीकार किया गया। वैयायिरों ने उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण माना तो प्रमाकर मीमांसक अर्थापत्ति को तथा कुमारिल भट्ट एवं वेदान्ती अनुपलब्धि को प्रमाण मानते हैं।

सभी दर्शनों में विभिन्न प्रमाणों के परिभाषाओं में थोड़ा बहुत अन्तर है। जहां अन्य दर्शन इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं वहीं जैन दर्शन आत्म सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है और इन्द्रियार्थ जन्य ज्ञान को परोक्ष कहता है। अनुमान मानने वाले सभी दर्शन सम्प्रदायों में एक समसत्ता है कि सभी के ज्ञान को अनुमान मानते हैं। उपमान प्रमाण में न्याय की दृष्टि से मीमांसा और वेदान्त का दृष्टिकोण मिल है। अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि को नयाय अनुमान में समाहित करता है किन्तु मीमांसा और वेदान्त कुशल तर्क से उसे स्वतन्त्र प्रमाण सिद्ध करते हैं। इस विषय में मीमांसा एवं वेदान्त मत में समानता है। प्रमाण सिद्धान्त की विकास यात्रा इसके आगे पौराणिकों के संभव एवं एतिह्य तक जाती है। तान्त्रिक इस माला को चेष्टा प्रमाण तक पहुँचाते हैं।

इस प्रकार प्रमाण मीमांसा वेद से प्रारम्भ होकर आस्तित्व और नात्कि सभी दर्शनों का एक मुख्य विषय रहा है। इसका उद्भव वेद से है और चरम विकास मीमांसा और वेदान्त में है। न्याय का यह प्रधान विषय रहा है। उन्नीसवीं सदी तक न्याय और वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों के मानक ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं और सबमें प्रमाण एक विषय है किन्तु एक छोटे से अध्याय में सबका समावेश का पाना असंभव है।

2.9 पारिभाषिक शब्दावली

प्रमा - यथार्थ एवं नवीन अनुभव

प्रमा - प्रमाण का असाधारण कारण

व्याप्ति - दो पदार्थों का अविनाभव नियत साहचर्य

प्रत्यक्ष - इन्द्रिय एवं पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान
शब्द - किसी प्रामाणिक व्यक्ति या ग्रंथ का वचन। इसे आप प्रवचन भी कहते है।
अनुमान - हेतु से साध्य का ज्ञान जिसका आधार व्याप्ति है।
अर्थापत्ति - वह कल्पना जिसके बिना दृष्ट या श्रुत असंगति को दूर न किया जा सके।
अनुपलब्धि - अभाव के ज्ञान का साधन।

2.10 सन्दर्भग्रन्थ

1. तर्कभाषा, केषव मिश्र, मोतीलाल बनारसी दास प्रा. लि. 2017
2. द न्यायसूत्र ऑफ गौतम विथ द भाष्य ऑफ वात्सायन एण्ड द वार्तिक ऑफ उद्योतकर वैल्यूम: 1-4, महामहोपाध्याय गंगानाथ झा, मोतीलाल बनारसी दास पब्लि प्रा. लि. 2020,
3. अन्नंभट्ट द्वारा रचित तर्क संग्रह, डॉ नरेन्द्र कुमार षर्मा, हंस प्रकाषन, जयपुर, 2017
4. भारतीय दर्शन, भाग-1 तथा भाग-2, डॉ. राधाकृष्णनन, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2016।
5. न्यायदर्शन, अम्बिकादत्त शर्मा, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली, 2015।
6. जैन न्याय में प्रमाण, डॉ, वशिष्ठ नारायण सिन्हा, प्राकृत, जैनशास्त्र, और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, 2011।

2.11 बोध प्रश्न

1. भारतीय प्रमाण सिद्धान्त का उद्भव वेद से प्रारम्भ होकर अध्यावधि विकसित होता रहा है, इस कथन पर प्रकाश डालिए।
2. भारतीय प्रमाण सिद्धान्त के विकास में वैदिक और वेदेतर दोनों परम्पराओं का महत्पपूर्ण योगदान है। इस कथन पर प्रकाश डालिये।
3. वेदेतर प्रमाण सिद्धान्त के विकास की दशाओं का वर्णन कीजिए।
4. भारतीय प्रमाण सिद्धान्त के प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।

इकाई. 3 ज्ञान एवं प्रमाण्यवाद

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 ज्ञान की अवधारणा
3.4 प्रमाणों की प्रामाणिकता
3.5 सारांश
3.6 पारिभाषिक शब्दावली
3.7 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री
3.8 बोध प्रश्न

3-1 i:Lrkouk

इस इकाई में हम आदर्श ज्ञान के स्वरूप तथा तत्त्व के रूप में प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमा के स्वरूप व विशेषताओं की विस्तृत चर्चा करेंगे। साथ ही प्रमाण के फल के रूप में प्रमिति का भी वर्णन करेंगे। ज्ञान (knowledge) का अर्थ जानना, अनुभव और बोध होना होता है। सहज शब्दों में कह सकते है कि किसी चीज का रूप जैसे वह है, वैसा ही अनुभव होना ज्ञान है। ज्ञान एक तरह की मनोदशा है। जो जानने वाले के हृदय में होने वाला एक प्रकार का क्रिया प्रतिक्रिया है। ज्ञान का तात्पर्य किसी चीज के बारे में सही और अच्छी जानकारी होना है। किसी भी विषय को पूर्ण रूप से समझना उसका अनुभव करना तथा समय आने पर उसका सही इस्तेमाल करना ही ज्ञान है। यह एक विश्वास है। जिसे सत्य के रूप में स्वीकारा गया है। हम अपने किसी भी काम को आसान तरीके से किस तरह करें या किस तरह से उसको सम्भव बनाएं, ये हम ज्ञान की ही बुनियाद पर कर सकते हैं। इन सोच विचारों की क्षमता या शक्ति को हम ज्ञान कह सकते हैं जिसके नींव पर हम सारे कामों को करते हैं और आगे बढ़ते हैं। ज्ञान अन्धविश्वासों दूर करता है।किसी व्यक्ति का उचित ज्ञान ही उसे सफलता के मार्ग तक ले जाता है।

पूर्व की इकाई में आप आदर्श ज्ञान के तत्त्व के रूप में प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमा के स्वरूप का अध्ययन कर चुके है। इस इकाई में हम प्रमाणों की प्रामाणिकता के रूप में स्वतः प्रमाणवाद एवं परतः प्रमाणवाद की चर्चा करेंगे।

किसी भी प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान यथार्थ या सत्य माना जाता है उसका प्रमाण या आधार प्रामाण्य कहलाता है। जिस ज्ञान को यथार्थ या सत्य माना जाता है उसकी यथार्थता या सत्यता का प्रमाण प्रामाण्यवाद का विषय है। भारतीय दर्शन में प्रामाण्य दो प्रकार का होता है – स्वतः प्रामाण्यवाद एवं परतः प्रामाण्यवाद। **स्वतः प्रामाण्यवाद** ज्ञान का वह सिद्धांत है जिसके अनुसार ज्ञान उत्पादक साधन व ज्ञान ग्राहक साधन एक ही माने जाते हैं अर्थात ज्ञान जिन कारणों से उत्पन्न होता है उसका प्रमाण भी उन्हीं कारणों से जाना जाता है। इसके अनुसार प्रामाण्य के लिए किसी अन्य कारण की उपेक्षा नहीं पड़ती। **परतः प्रामाण्यवाद** के अनुसार ज्ञान उत्पादक साधन तथा ज्ञान ग्राहक साधन भिन्न होते हैं। ज्ञान का प्रामाणिक विषय वस्तु के कारण सामग्री के अतिरिक्त अन्य बातों पर निर्भर करती है। अर्थात ज्ञान के प्रमाण के लिए अन्य कारणों की अपेक्षा रहती है। ज्ञान के स्वरूप–विश्लेषण के साथ ही जिस एक बहुत बड़े प्रश्न पर भारतीय दार्शनिकों ने गहन चिन्तन मनन किया, वह अपने मूलरूप में इस प्रकार है कि ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है और उसकी सत्यता का पता कैसे चलता है। दूसरे शब्दों में, जब हमें किसी पदार्थ का ज्ञान होता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह कौन–सी कसौटी है, जिसके आधार पर यह पता किया जा सके कि हम जिस वस्तु को जानना चाहते थे हमें उसी का बोध हुआ। ज्ञान के सत्यत्व को कसौटी प्रामाण्यवाद है।

3-2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- प्रमाता, प्रमेय, प्रमिति, प्रमा के स्वरूप को जानने में सक्षम होंगे।
- प्रमाण की प्रमाणिकता के आधार को समझ सकेंगे।
- प्रमाण्यवाद सम्बन्धी स्वतः प्रमाणवाद की अवधारणा और विभिन्न सम्प्रदायों को मत को जानेंगे।
- प्रमाण्यवाद सम्बन्धी परतः प्रमाणवाद की अवधारणा और विभिन्न सम्प्रदायों को मत को जानेंगे।

3-3 Kku dh vo/kkj.kk

ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान क्या है? अथवा ज्ञान का क्या स्वरूप है? इस सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि से ज्ञान की विभिन्न अवधारणाएँ प्राप्त होती हैं। पाश्चात्य दृष्टि से ज्ञान को नालेज (Knowledge) कहा जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ 'किसी तथ्य या सत्य का या अस्तित्ववान वस्तु का निश्चित प्रत्यक्षीकरण, असंदिग्ध ज्ञान, पहचान, सीखना, पाण्डित्य, किसी चीज में कुशल होना, वास्तविक अनुभव करके किसी वस्तु से परिचित होना आदि है।' ज्ञान को इन विभिन्न अर्थों में वस्तु या तथ्य के सत्य ज्ञान या निश्चित ज्ञान के सन्दर्भ में ग्रहण किया गया है। ज्ञान एक अत्यन्त ही व्यापक शब्द है।

भारतीय दृष्टि से ज्ञान का अर्थ जानना, बोध, जानकारी, सम्यक् बोध, पदार्थ का ग्रहण करने वाली वृत्ति, आत्म साक्षात्कार आदि है। भारतीय दर्शन में ज्ञान को प्रमा माना गया है। मीमांसा दर्शन के अनुसार प्रमा अज्ञात तथा सत्य पदार्थ का ज्ञान है। प्रत्येक ज्ञान में एक ज्ञाता तथा एक ज्ञेय पदार्थ होता है। इसी ज्ञाता तथा ज्ञेय के सम्बन्ध का परिणाम ज्ञान है।

जब ज्ञाता का ज्ञेय पदार्थ के साथ इन्द्रियों के माध्यम से सम्पर्क होता है, तब ज्ञाता को ज्ञेय पदार्थ के सम्बन्ध में एक चेतना होती है कि उसका अस्तित्व है तथा उसमें अमुक–अमुक गुण है। सामान्यतः इसी प्रकार की चेतना को ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। ज्ञान का सदैव एक विषय होता है और किसी चेतना युक्त ज्ञाता को उस विषय का ज्ञान होता है। साधारण ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत बहुत महत्त्वपूर्ण है। परन्तु कुछ ऐसे भी असाधारण ज्ञान होते हैं जहाँ यह द्वैत समाप्त हो जाता है। ज्ञान की प्रक्रिया में द्वैत भले ही रहता है परन्तु ज्ञान प्राप्ति के बाद यह द्वैत बिल्कुल समाप्त हो जाता है। इसलिए भारतीय दर्शन में ज्ञान की उपमा एक प्रकाश युक्त दीपक से दी गई है। जिस प्रकार अन्धकार में दीपक जलने पर सामने की वस्तुएँ दिखाई देने लगती है उसी प्रकार ज्ञान भी अज्ञान के अन्धकार को दूर कर सत्य की खोज में सहायता प्रदान करता है। न्यायदर्शन में आदर्शज्ञान की परिभाषा बताई है। न्यायदर्शन भी प्राचीन न्याय तथा नव्यन्याय के रुप में विकसित हुआ है। ज्ञान की परिभाषा जो प्राचीन न्याय में दी गई, वह कालान्तर में नव्यन्याय में विकसित हुई। अतः हम आपको प्राचीन न्याय तथा नव्यन्याय दोनों द्वारा दी गई परिभाषा बताने जा रहे हैं।

न्याय दर्शन ज्ञान को ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध मानता है। बिना ज्ञाता और ज्ञेय के ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। जब भी ज्ञाता ज्ञेय के सम्पर्क में आता है तो उसमें ज्ञान का गुण उत्पन्न होता है। आत्मा या ज्ञाता

ज्ञान का आश्रय है। ज्ञान आत्मा या ज्ञाता का आगन्तुक धर्म है जिसका कार्य ज्ञेय पदार्थ को प्रकाशित करना है जिस प्रकार दीपक सभीपस्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान अपने सम्मुख उपस्थित वस्तुओं या पदार्थों को प्रकाशित करता है। ज्ञान स्व–प्रकाशक नहीं है बल्कि वह केवल अर्थ प्रकाशक है। ज्ञान का कार्य ज्ञेय या विषय को प्रकाशित करना है। जब ज्ञान को उत्पन्न करने वाली सामग्री दोष रहित है तो ज्ञान सम्यक् होगा तथा यदि विषय दोष युक्त होगा तो ज्ञान भी असम्यक् होगा। ज्ञान आत्मा को ज्ञाता के रूप में प्रकाशित नहीं करता है तथा न तो आत्मा स्व–प्रकाश है।

इसलिए प्राचीन नैयायिकों का मत है कि आत्मा का अनुमान किया जाता है। परन्तु नव्य नैयायिकों के अनुसार आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है जो अनुव्यव साथ में होता है। व्यवसाय का अर्थ है– 'ज्ञान' तथा अनुव्य साम का अर्थ है– 'ज्ञान के बाद का ज्ञान' अर्थात् 'ज्ञान का ज्ञान है।' जैसे– 'यह घट है' यह वट का ज्ञान है। 'मैं यह जानता हूँ यह घट है' यह अनुव्यवसाय है क्योंकि यह घट के ज्ञान का ज्ञान है। अनुव्यवसायात्मक ज्ञान पूर्व घट के ज्ञान को अपना विषय बनाकर प्रकाशित करता है।

पिछली ईकाई में आप लोगों ने प्रमाण के बारे में अध्ययन किया। जैसा कि आप लोग जानते होंगे, भारतीय दर्शन में 'ज्ञान के साधन' को 'प्रमाण' कहा जाता है तथा ज्ञान के विषय में 'प्रमेय' के रूप में स्वीकार किया जाता है। प्रमेय के अन्दर ऐसे विषयों को सम्मिलित किया जाता है जिनका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। न्याय दर्शन में ज्ञान को बुद्धि (Coguition) और उपलब्धि (Apprehension) का पर्याय माना गया है। वास्तव में न्याय दर्शन में ज्ञान बुद्धि और उपलब्धि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ज्ञान का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है– संकुचित अर्थ और व्यापक अर्थ। संकुचित अर्थ में यह अयथार्थ ज्ञान का सूचक है, जबकि व्यापक अर्थ में यह यथार्थ ज्ञान का सूचक है, जबकि व्यापक अर्थ में यह यथार्थ ज्ञान का बोध कराता है। उदाहरणार्थ– सायं काल में एक व्यक्ति रस्सी को देखकर रस्सी समझता है और दूसरा रस्सी को देखकर साँप समझता है। यद्यपि यहाँ ज्ञान दोनों व्यक्तियों को हो रहा है किन्तु यहाँ पर दोनों के ज्ञान में अन्तर है– एक को यथार्थ ज्ञान हो रहा है और दूसरे को अयथार्थ ज्ञान हो रहा है। इस प्रकार व्यापक अर्थ में ज्ञान शब्द का प्रयोग यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान के रूप में होता है इसके विपरीत संकुचित अर्थ में ज्ञान; यथार्थ ज्ञान का ही एकमात्र बोधक है। वास्तव में न्याय दर्शन 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग यथार्थ ज्ञान के रूप में ही करता है। न्याय दर्शन ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में तीन बातें वर्णित करता हैं–

क. ज्ञान वस्तु प्रकाशक है।
ख. ज्ञान हमारे व्यवहार का आश्रय है।
ग. ज्ञान आत्मा का गुण है।

इस प्रकार न्याय दर्शन में ज्ञान का स्वरूप प्रकाशमय माना गया है। ज्ञान का वास्तविक स्वरूप किसी वस्तु को प्रकाशित करना है। यह वैसे ही है जिस प्रकार दीपक अपने समीप रखी वस्तु को प्रकाशित करता है। ठीक इसी प्रकार ज्ञान भी वस्तु को प्रकाशित करता है। 'तर्क कौमुदी' में कहा

गया है कि ''अर्थ प्रकाशो बुद्धिः''। वस्तु के प्रकाश में ही ज्ञान निहित है। वास्तव में वस्तु का प्रकाशन यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान दोनों में हो सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि – ज्ञान का कार्य ज्ञेय वस्तु को प्रकाशित करना है।

ज्ञान हमारे कार्य का आधार है। मनुष्य सही या गलत ज्ञान के आधार पर ही कार्य करता है। इसीलिए विज्ञान को सभी व्यवहार का जनक स्वीकार किया जाता है। ज्ञान आत्मा का गुण है। न्याय दर्शन के अनुसार– ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध है। जो ज्ञान प्राप्त करता है वह ज्ञाता है, जो ज्ञान का विषय है वह ज्ञेय है। बिना ज्ञाता है, जो ज्ञान का विषय है, वह ज्ञेय है। बिना ज्ञाता या आत्मा के ज्ञान सम्भव नहीं है। जब आत्मा ज्ञेय (विषय) के सम्पर्क में आता है, तब ज्ञान सम्भव होता है। आत्मा (ज्ञाता) ही ज्ञान का आधार है।

इसी तरह संशय, भ्रम और तर्क को 'अप्रमा' भी कोटि में रखा गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन्हें 'अप्रमा' की कोटि में क्योंकि रखा गया है? इस प्रश्न का उत्तर विश्लेषणोरान्त ही प्राप्त होता है।

1. **संशय :** यह अनिश्चित ज्ञान है। इसमें मन में निश्चित और अनिश्चित को लेकर द्वन्द्व उत्पन्ना होता है। जैसे सायं काल में सुदूर स्थित वस्तु को देखकर मन में यह द्वन्द्व उत्पन्न होता है कि यह वस्तु आदमी है या खम्भा।
2. **भ्रम (Illusion) :** यथार्थ वस्तु के 0 पर अयथार्थ वस्तु का आरोपण श्रम है अर्थात् अयथार्थ प्रत्यक्ष ही भ्रम है। जैसे 'रस्सी' को 'साँप' के रूप में देखना 'भ्रम' है।
3. **तर्क :** इसके द्वारा किसी वस्तु को परोक्ष/अप्रत्यक्ष ढंग से सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। जैसे कोई व्यक्ति दूर से 'धुआँ' को देखकर कहता है कि वहाँ आग है। जब उसका प्रतिपक्षी इसका विरोध करता है, तब वह कहता है कि 'यदि आग नहीं होती तो 'धुआँ' भी नहीं होता। इस प्रकार यह 'तर्क' कहलाता है। वास्तव में तर्क अनुभवजन्य ज्ञान नहीं है, इसलिए 'तर्क' से निश्चित ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। इसीलिए 'तर्क' को अप्रमा की कोटि में रखा गया है।

'प्रमा' अर्थात् 'यथार्थ ज्ञान' की अपनी कुछ विशेषतायें भी हैं तथा– प्रथम– 'प्रमा' अनुभव आधारित है अर्थात् यह अनुभवजन्य ज्ञान है जैसे– हमारे समक्ष कोई घोड़ा विद्यमान है, जिसका साक्षात् अनुभव हो रहा है, इसलिए यह प्रमा है। द्वितीय विशेषता इसका असंदिग्धत्व हैं अर्थात् हमें घड़े का असंदिग्ध रूप से अनुभव हो रहा है। इसलिए यह प्रमा है। तीसरी एवं महत्त्वपूर्ण विशेषता इसका यथार्थत्व है। अर्थात् हमें घड़े का निश्चित ज्ञान उपलब्ध हो रहा है। यही प्रमा है।

आदर्श ज्ञान के तत्त्व

ज्ञान के सम्बन्ध में निम्नलिखित बिन्दुओं का स्मरण अपेक्षित है– ज्ञान वस्तु प्रकाशक है, ज्ञान हमारे व्यवहार का आश्रय है, ज्ञान आत्मा का गुण है।

अब हम आदर्श ज्ञान के तत्त्व यथा प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमा के स्वरूप को क्रमषः जानेंगे।

çekrk ¼Knower½

ज्ञान आत्मा का गुण है। यथार्थ ज्ञान 'प्रमा' की प्राप्ति तभी हो सकती है जब कोई ज्ञान प्राप्त करने वाला हो। ज्ञान प्राप्त करने वाले को प्रमाता कहा जाता है। प्रमा की उत्पत्ति के लिये किसी चेतन मनुष्य का रहना आवश्यक है। प्रमाता को आत्मा के अर्थ में समझा जा सकता हैं। भारतीय दर्शन जगत् का प्राण तत्त्व है–आत्मा। आत्मा के अस्तित्व, उसके स्वरूप आदि के बारे में भारतीय चिंतकों ने प्रभूत विमर्श किया है। आत्मा को केन्द्र में रखकर दो प्रकार की विचारधाराएँ विकसित हुई। एक वह जो आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार करती है और दूसरी वह जो आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती। चार्वाक के अतिरिक्त समस्त भारतीय चिन्तकों ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है। न्याययुग में आत्मा को ही प्रमाता के रूप में जाना गया है अर्थात् आत्मा के लिए प्रमाता शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रमाता को परिभाषित करते हुए कहा गया–**'स्वपरावभासी परिणामी आत्मा प्रमाता। स्वपरावभासी प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा प्रमाता।'** इन परिभाषाओं में प्रमाता के तीन लक्षण बताये गये हैं–

1. प्रमाता का स्व–परप्रकाशी होना।
2. प्रमाता का परिणामीनित्य होना।
3. प्रमाता का प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञान होना।

प्रमाता का स्व–परप्रकाशी होना–भारतीय दर्शन में आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में दार्शनिकों में परस्पर मतभेद पाया जाता है। कुछ दर्शन जैसे–अद्वैत–वेदान्त, सांख्य–योग, बौद्ध आदि आत्मा को स्वप्रकाशी मानते हैं। इनके अनुसार आत्मा स्वप्रकाशी है, पर–प्रकाशी नहीं।

मीमांसा, न्याय–वैशेषिक आदि कुछ दर्शन आत्मा को परप्रकाशी मानते हैं, स्वप्रकाशी नहीं। स्वप्रकाशी से तात्पर्य अपने आपको जानने वाला तथा परप्रकाशी से तात्पर्य दूसरों को जानने वाला है। जैन दर्शन से इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित किया और आत्मा को न केवल स्वप्रकाशी और न केवल परप्रकाशी अपितु स्वपरप्रकाशी माना। इस विषय में उनका अभिमत है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान स्व–परप्रकाशक है इसलिए आत्मा भी स्व–परप्रकाशक है।

जिस प्रकार सूर्य या दीपक अपने आपको प्रकाशित करता है और दूसरे पदार्थों–घट–पट आदि को भी प्रकाशित करता है अतः वह स्व–परप्रकाशी होता है। उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं तथा पर पदार्थों को प्रकाशित करने के कारण स्व–परप्रकाशी है। जो स्वप्रकाशी नहीं होता वह परप्रकाशी भी नहीं हो सकता। जैसे–घट, घट जड़ होने के कारण अपने आपको भी प्रकाशित नहीं कर सकता और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित नहीं कर सकता।

आत्मा ज्ञानस्वरूप होने के कारण स्व–परप्रकाशक है। अतः सूत्र में स्वपरावभावी या स्वपरप्रकाशी विशेषण उन लोगों के मत का खण्डन करने के लिए है, जो आत्मा को केवल स्वप्रकाशी या केवल परप्रकाशी मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाता स्व–परप्रकाशी है।

न्याय के चार अंगों में दूसरा अंग है–प्रमेय। दूसरे शब्दों में ज्ञान की सार्थकता के लिये कुछ विषय का रहना अनिवार्य है। ज्ञान के विषय को ही

प्रमेय कहते हैं।

i.e; ¼Objects of Knowledge½

प्रमाणेन आनेन प्रमीयते ज्ञायते यत् वस्तु तत्त्वं तत् सर्वं प्रमेयं ज्ञेयमित्यर्थः। प्रमाण–ज्ञान के द्वारा जो वस्तु तत्त्व जाना जाता है वह सभी तत्त्व प्रमेय–ज्ञेय कहलाता है। अर्थात् ज्ञान से जाने गये सभी पदार्थ ज्ञेय कहलाते हैं और ज्ञान को ही प्रमाण माना है अतः प्रमाण से जाने गये सभी पदार्थ 'प्रमेय' कोटि में आ जाते हैं। अतः प्रमेय शब्द से सम्पूर्ण चेतन–अचेतन पदार्थ आ जाते हैं। यहाँ तक कि प्रमाण भी कथंचित् प्रमेय है।

संसार में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो ज्ञान का विषय न हो, चाहे वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हो या परोक्ष ज्ञान का विषय हो किन्तु सभी चेतन–अचेतन पदार्थ ज्ञान के विषय अवश्य हैं जो ज्ञान के विषय नहीं है वे पदार्थ ही नहीं है वे तो आकाशकमलवत् असत् ही हैं। जैन दर्शन में ज्ञान को स्वसंवेदी सिद्ध किया है अतः ज्ञान जानने वाला होने से ज्ञान है एवं स्वयं के द्वारा स्वयं जाना जाता है अतः ज्ञेय भी है।

यद्यपि 'स्व' को जानने की अपेक्षा से ज्ञान 'प्रमेय' ही है फिर भी घट पट आदि बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से प्रमेय नहीं भी है अतः च शब्द से प्रमेय का भी निराकरण हो जाता है। यहाँ इस बात को समझ लेना चाहिए कि ये प्रमाता, प्रमिति और प्रमेय तीनों ही यद्यपि ज्ञान नहीं है फिर भी इनमें सम्यक्पना सिद्ध है। इसलिए सच्चे ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थ सच्चे ज्ञेय–प्रमेय कहलाते हैं। ये ही ज्ञेयभूत जीवादिपदार्थ द्रव्य, तत्त्व आदि सम्यक्त्व के विषयभूत हैं।

प्रमाण के विषय को प्रमेय कहते हैं। संख्या की दृष्टि से प्रमेय अनन्त हैं, क्योंकि जगत् में जितने भी द्रव्य या पदार्थ हैं, वे सब प्रमेय हैं। प्रमेय का विभाजन पदार्थों की संख्या के आधार पर नहीं अपितु उनकी स्वरूपगत विशेषताओं के आधार पर किया जाता है। दर्शन जगत् में स्वरूप की दृष्टि से प्रमेय के चार रूप बनते हैं–

1. प्रमेय नित्य हैं।
2. प्रमेय अनित्य हैं।
3. कुछ प्रमेय नित्य एवं कुछ अनित्य हैं।
4. प्रमेय नित्यानित्य हैं।

वेदान्त, सांख्य आदि दर्शन में प्रमेय को कूटस्थ नित्य माना गया है। बौद्ध दर्शन में प्रमेय को अनित्य माना गया है। न्याय दर्शन में कुछ प्रमेयों, जैसे–आत्मा, आकाश आदि को नित्य माना गया है तथा दीपशिखा आदि कुछ प्रमेयों को अनित्य माना गया है। जैन दर्शन में प्रमेय को नित्यानित्य माना गया है।

जैन दर्शन जगत् की वस्तुओं को संख्या की दृष्टि से अनन्त स्वीकार करके भी स्वरूप की दृष्टि से उसे नित्यानित्य या सामान्यविशेषात्मक ही मानते हैं। सत्–असत्, नित्य–अनित्य, सामान्य–विशेष, वाच्य–अवाच्य आदि अनन्त धर्मात्मक वस्तु प्रमाण का विषय (प्रमेय) होती है।

अभी तक आप प्रमा अर्थात् वह ज्ञान जो वस्तुतः जगत में उपस्थित है तथा

उसे प्राप्त करने के साधन अर्थात् प्रमाण और जिस वस्तु पर प्रमाण का प्रयोग करते हैं अर्थात् प्रमेय के बारे में पढ़ चुके हैं। अब प्रमाता (ज्ञाता) को प्रमाण द्वारा प्रमेय के बारे में ज्ञानात्मक लाभ प्राप्त होता है उसके बारे में पढ़ेंगे।

çfefr ¼çek.k dk Qy½

दर्शन जगत् में प्रमाण और प्रमेय की भांति प्रमिति (प्रमाण–फल) की चर्चा भी अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रमिति की विस्तृत चर्चा जैनदर्शन में मिलती है। जैनदर्शन के माध्यम सेहम प्रमिति को ठीक प्रकार से जानेंगे। जैनदर्शन आत्मवादी होने के कारण आत्मा को प्रमाता मानता है। ज्ञान आत्मा का गुण है और वह प्रमा (जानने) का साधकतम उपकरण है, इसलिए ज्ञान को प्रमाण मानता है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है इसलिए ज्ञान को ही प्रमिति (प्रमाण–फल) मानता है। अतः जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान ही प्रमाण है और ज्ञान ही प्रमिति है।

मति, श्रुत आदि ज्ञानों में हान, उपादान और उपेक्षा तीनों बुद्धियाँ फल होती हैं तथा केवलज्ञान का फल मात्र उपेक्षा बुद्धि ही है, क्योंकि केवलज्ञान वीतरागी होते हैं अतः उनके राग–द्वेष से होने वाली ज्ञान–उपादान बुद्धि नहीं होती।

जैसा कि न्यायावतार में लिखा है–प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति है। केवलज्ञान का साक्षात् फल उपेक्षा बुद्धि है तथा शेष मति, श्रुत आदि ज्ञानों का फल ज्ञान और उपादान बुद्धि है।

इस प्रकार प्रमाण का फल दो प्रकार का है–एक साक्षात् फल अर्थात् प्रमाण से अभिन्न फल और दूसरा गौण फल अर्थात् प्रमाण से भिन्न फल। प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है और परम्परा फल ज्ञान, उपादान, उपेक्षा बुद्धि है।

जैनदर्शन में प्रमाण और प्रमीति (फल) दोनों को ज्ञानरूप स्वीकार किया गया है। दोनों का ज्ञानात्मक स्वीकार करने पर यह समस्या उठती है कि प्रमाण एवं प्रमिति दोनों ही जब ज्ञानात्मक हैं तो उनमें फिर भेद क्या हुआ? दोनों के ज्ञानात्मक होने से फिर तो उनमें अभेद ही होना चाहिए।

प्रमाण और प्रमिति में सम्बन्ध तथा अन्तर

प्रमाण तथा प्रमिति के मध्य सम्बन्ध और इनमें परस्पर अन्तर पर जैन आचार्यों ने विस्तृत विचार किया है।

प्रमाण और प्रमिति दोनों ज्ञानात्मक हैं और ज्ञानात्मक होने के कारण यदि उनमें एकान्त अभेद माना जाये तो या तो साधन (प्रमाण) होगा या साध्य (प्रमिति) होगा। दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व सम्भव नहीं होगा। अतः प्रमाण और प्रमिति में एकान्त अभेद न होकर कथंचित् अभेद है। यद्यपि हान, उपादान और उपेक्षा–बुद्धिरूप फल की प्रतीति होती है, इसलिए उनमें कथंचित् अभेद भी है। एक ही प्रमाता में आत्मगत होने के कारण प्रमाण और प्रमिति अभिन्न हैं। तात्पय– यही है कि प्रमाणरूप में परिणित आत्मा ही फलरूप में परिणित होती है अतः एक प्रमाता की अपेक्षा से दोनों में अभेद घटित होता है।

जैन आचार्यों का यह मंतव्य है कि यदि प्रमाण और फल को कथंचित् भिन्न एवं कथंचित् अभिन्न न माना जाये तो प्रमाण और फल की व्यवस्था ही

नहीं बन सकती। जैन दर्शन में प्रमेय दो प्रकार के माने गये हैं–स्व एवं पर। जब ज्ञान ही प्रमेय हो तो वह 'स्व' तथा जब बाह्य पदार्थ प्रमेय हो तो उसे 'पर'कहा जाता है। ज्ञान को परप्रकाशक मानने के साथ–साथ स्वप्रकाशक भी माना गया है। इसलिए कभी ज्ञान भी प्रमेयरूप हो सकता है। ज्ञान को प्रमेय मान लेने पर प्रमेय, प्रमाण, प्रमिति एवं प्रमाता सभी ज्ञानात्मक हो जाते हैं तथपि जैन दार्शनिक व्यवस्था की दृष्टि से इन चारों में साध्य, साधन, कार्य एवं कर्ता के रूप में कथंचित् भेद स्वीकार करते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण से प्रमाण का फल न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न है अपितु भिन्नाभिन्न है।

जैनदर्शन अनेकांतवादी है अतः वह अनेकान्त के आधार पर प्रमाण और प्रमिति दोनों में न सर्वथा भेद और न सर्वथा अभेद अपितु भेदाभेद सिद्ध करता है। जैन दाश–निक कहते हैं कि यद्यपि प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति स्वपरव्यावसायी ज्ञान से अभिन्न प्रतीत होता है किन्तु प्रमाण जानने का साधन एवं अज्ञाननिवृत्ति स्वपरव्यवसितिरूप ज्ञान साध्य है। 'साध्यसाधनभावेन तयोभेदः'–साध्य और साधन भाव की अपेक्षा से प्रमाण और प्रमिति (फल) भिन्न हैं। प्रमाण साधन है और प्रमिति साध्य है अतः दोनों में कथंचित् भेद है।

iek.k

प्रमाण (sources of Knowledge)– प्रमाता या ज्ञाता को प्रमेय या विषय के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए कुछ साधनों की आवश्यता होती है। इन्हीं साधनों को भारतीय तर्कशास्त्र में 'प्रमाण' कहा जाता है। जैसे– यदि हमारे पास आँखें न होती तो हमें सामने रखी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। ज्ञानेन्द्रियाँ हमारे ज्ञान प्राप्त करने के साधन जो ज्ञाता और विषय के बीच सम्बन्ध स्थापित कराती है। विषय और ज्ञाता के बीच सम्बन्ध स्थापित कराने वाला प्रमाण कहलाता है। विद्वानों ने प्रमाण को परिभाषित करते हुए कहा है–''जो प्रमा का कारण हो वही प्रमाण कहलाता है।'' इस परिभाषा में दो शब्द है प्रमा तथा कारण। जहाँ प्रमा यथार्थ ज्ञान है वही किसी कार्य के 'नियत पूर्ववर्ती' को ही कारण कहा जाता है।

कारण (Cause)– किसी भी कार्य से पूर्व अनेक घटनाएँ घटित होती हैं परन्तु हम उन सभी को कारण नही कह सकते। कार्य के पूर्ववर्ती घटनाएँ दो प्रकार की होती हैं– नियत तथा अनियत। जैसे 'वर्षा' एक घटना है तथा इससे पूर्व अनेक पूर्ववर्ती घटनाएँ घट सकती हैं। जैसे–कॉलेज के मैदान में क्रिकेट मैच, मन्दिर में आरती, पार्क में मेढ़क का टर्राना आदि। ये सभी घटनाएँ अनियत पूर्ववर्त्ती घटनाएँ हैं। इनमें से कोई भी वर्षा से पहले हमेशा होने का दावा नहीं कर सकती। वर्षा से पहले नियमित रूप से होने का दावा सिर्फ एक घटना कर सकती है,वह है 'आकाश में बादल आना।' यह एक नियत पूर्ववर्ती घटना है जो वास्तव में कारण होने का दावा कर सकती है।

परन्तु कोई भी 'नियत पूर्ववर्ती' घटना किसी कार्य का कारण तभी हो सकती है जबकि वह अनौपाधिक भी हो। अर्थात् घटना कारण तभी बन सकती है जबकि वह किसी उपाधि या शर्त से जुड़ी न हो। पाश्चात्य तर्कशास्त्री मिल

के अनुसार–'कारण एक नियत, अनौपचारिक और तात्कालिक पूर्ववर्ती घटना है।' न्याय शास्त्र भी कारण को अनौपचारिक नियत पूर्ववर्ती घटना कहते हैं।

प्रमाण का महत्त्व – मनुष्य दुनिया में ज्ञान प्राप्त करना चाहता हैजिसके लिए उसे कुछ साधन चाहिए जिसे प्रमाण कहा जाता है। प्रमाण की कसौटी पर कसने के बाद ही किसी ज्ञान की कीमत ज्ञात होती है। कि वह किस कोटि का है। न्याय शास्त्र में प्रमाण का महत्त्व इतना है। कि उसे प्रमाण शास्त्र भी कहा जाता है। कहीं–कहीं न्याय दर्शन में 'प्रमाण' को ईश्वर भी कहा गया है। उदयनाचार्य ने प्रमाण की तुलना 'शिव' से की है। वहीं कहीं–कहीं प्रमाण शब्द का व्यवहार 'विष्णु' के अर्थ में भी किया गया है।

प्रमा (Real Knowledge)

किसी विषय का यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है जिसका लक्षण यह है कि इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं होता है। प्रमा किसी वस्तु के यथार्थ अनुभव पर आधारित होता है। यह ज्ञान समतल दर्पण के समान होता है। समतल दर्पण में जो वस्तु जैसी रहती है उसका प्रतिबिंब ठीक उसी रूप में आता है। यदि सामने पेड़ है तो उसे उसी पेड़ के रूप में जानना यथार्थ ज्ञान या प्रमा कहलाएगा। प्रमा हमेशा हमारे वास्तविक अनुभव पर निर्भर करता है। प्रमा हमेशा संशय से दूर रहता है। यदि किसी विषय के ज्ञान में संशय का आभास तो वह कभी यथार्थ ज्ञान या प्रमा नहीं हो सकता। प्रमा वास्तविक ज्ञान है, इसलिए तर्क शास्त्र का सम्बन्ध अधिकतर इसी के साथ रहता है। प्रमा के विश्लेषण में हमें तीन बातें आवश्यक दिखाई देती है।(i) प्रमाता (Knower), (ii) प्रमेय (Object of Knowledge), (iii) प्रमाण (Sources of Knowledge)। जिनकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। प्रमा की तीन विशेषताओ का न्याय दर्शन में निरूपण किया गया है– क. अनुभवत्त्व (Presentativeness), असंदिग्धत्व (Definiteness), यथार्थत्व (Faithfulness)।

इस प्रकार भारत में यथार्थ ज्ञान की खोज में ज्ञान के सुव्यवस्थित साधनों पर विचार किया गया तथा इन्हें प्रमाण कहा गया तथा इन्हें प्रमाण के उपयोग से यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति करते है। भारतीय न्यायशास्त्र की यह अनोखी विशेषता है कि वह ज्ञान, ज्ञान प्राप्ति के साधन के साथ–साथ ज्ञान प्राप्ति के साधन की प्रमाणिकता की भी परीक्षा करता है। इसे प्रमाणों की प्रमाणिकता कहा जाता है। अब आगे हम प्रमाणों की प्रमाणिकता सम्बन्धी विभिन्न मतों, सिद्धान्तों के बारे में अध्ययन करेंगे।

3-4 iek.kk dh ikekf.kdrk

ज्ञान के स्वरूप–विश्लेषण के साथ ही जिस एक बहुत बड़े प्रश्न पर भारतीय दार्शनिकों ने गहन चिन्तन मनन किया, वह अपने मूलरूप में इस प्रकार है कि ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है और उसकी सत्यता का पता कैसे चलता है। दूसरे शब्दों में, जब हमें किसी पदार्थ का ज्ञान होता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह कौन–सी कसौटी है, जिसके आधार पर यह पता किया जा सके कि हम जिस वस्तु को जानना चाहते थे हमें उसी का बोध हुआ। इस जिज्ञासा से कम–से–कम तीन पहलू हैं– ज्ञाता ज्ञेय और

ज्ञान। ज्ञान के ज्ञान की इस समस्या पर भारतीय दार्शनिकों ने प्रमाण और प्रमेय के सन्दर्भ में विचार किया है। प्रमाण की परिभाषा और प्रमाण भेद के सम्बन्ध में मतभेद होने पर भी सभी भारतीय दार्शनिकों ने यह प्रतिपादित किया है कि प्रमेयों (पदार्थों) का ज्ञान प्रमाण द्वारा होता है। साथ ही इसपर भी विचार किया गया है कि उस प्रमाण की परिभाषा और प्रमाण के सत्यत्व की कसौटी क्या है। अर्थात् प्रमाण का प्रामाण्य किस तत्त्व पर निर्भर है? प्रमाण के प्रमाणत्व पर विचार के साथ ही उसके अप्रमाणत्व का प्रश्न भी सिक्के के दूसरे पाट के समान अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। अतः प्रामाण्यवाद में केवल यही बात समाविष्ट नहीं कि प्रमाण के प्रमाण्य का ज्ञान कैसे होता है? बल्कि यह भी है कि अप्रमाण के अप्रामाण्य का पता कैसे चलता है?
इस सम्बन्ध में दो सिद्धांतों पर विचार किया गया है– 1. स्वतः प्रामण्यवाद और 2. परतःप्रामाण्यवाद। स्वतः प्रमण्यवाद के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान स्वतः प्रमाणित होता है। ज्ञान की प्रमाणिकता ज्ञान जनक सामग्री से उत्पन्न होती है किसी बाहरी कारण से नहीं। परतः प्रामाण्यवाद के अनुसार ज्ञान स्वतः प्रमाण नहीं होता है और ज्ञान की प्रमाणिकता बाहरी कर्म पर निर्भर है। प्रमाणिकता और अप्रमाणिकता से जुड़ी स्वतः प्रमाण्यवाद तथा परतः प्रमाण्यवाद को मिलाकर कुल ज्ञान की प्रमाणिकता एवं अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुल चार सामने आते हैं– 1. स्वतः प्रामाण्यवाद, 2. स्वतः अप्रामाण्यवाद, 3. परतः प्रामाण्यवाद, 4. परतः अप्रामाण्यवाद।
भारतीय दर्शनों में इस समस्या का अपने अपने सम्प्रदायों के अनुसार समाधान किया गया जो दार्शनिक यह समझते है कि प्रमाण में ही प्रामाण्य भी रहता है, वे स्वतः प्रामाण्यवादी कहलाते है, और जिनके मत में प्रमाण के प्रामाण्य के लिये अन्य किसी बाहरी तत्त्व की अपेक्षा होती है, वे परतः प्रामाण्य–वादी कहलाते है। ऐसा ही वर्गीकरण अप्रामाण्य के सम्बन्ध में भी है।

स्वतः प्रमाण्यवाद–

सांख्य प्रामाण्य और अप्रमाण्य दोनों को स्वतः मानता है। जैसे प्रमाण का कार्य अपने विषय में प्रवृत्ति कराना है, वैसे ही अप्रमाण का कार्य अपने विषय से निवृत्ति कराना है। जब तक ज्ञाता को यह ज्ञान नहीं होता कि यह ज्ञान अप्रमाण है तब तक निवृत्ति नहीं होती। अतः अप्रामाण्य को ज्ञप्ति भी परतः होती है।

सांख्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों में स्वतत्व मानता है। यह मत सत्कार्यवाद पर आधारित है। सत्कार्यवाद के अनुसार कोई कारण उसी कार्य को उत्पन्न कर सकता है जो कारण में पहले से ही विद्यमान हो। प्रामाण्य और अप्रामाण्य कार्य हैं, वे ज्ञान में पहले से ही रहते हैं अतः स्वतः है। इस सिद्धान्त का खण्डन इस तरह किया गया कि सत्कार्यवाद को मानने पर कार्यकारण सिद्धांत ही ध्वस्त हो जाता है। यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य आन्तरिक हों तो ज्ञान और अज्ञान का विभेदक क्या होगा? जयन्त भट्ट ने सांख्यमत के विरुद्ध यह प्रस्तुत किया है कि षुक्ति में रजत का ज्ञान यदि प्रमाण है तो उससे प्रवृत्ति सफलता होनी चाहिए और यदि वह अप्रमाण है तो प्रवृत्ति ही कैसे हो सकती है?जबकि व्यावहारिक जीवन में यह देखा जाता है कि लोगों को भ्रम भी होता है तो वे प्रवृत्त होते है और प्रवृत्ति सफल भी नहीं

होती।

परतः प्रामाण्यवाद–

नैयायिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परतः मानते हैं। वे प्रामाण्य और अप्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान को व्यवसाय कहते हैं। प्रत्येक व्यवसाय प्रतिकूल परिस्थिति न होने पर अनुव्यवसाय नामक मानस प्रत्यक्ष से गृहीत होता है। किन्तु व्यवसाय का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य अनुव्यवसाय से नहीं, अपितु सफलप्रवृत्ति हेतुक अनुमान से गृहीत होता है। अतः नैयायिकों के अनुसार जिन कारणों से प्रामाण्य या अप्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान का ज्ञान होता है, उन्हीं कारणों से प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता। उसके लिए अन्य कारण अर्थात् अनुमान की आवश्यकता पड़ती है। सफल प्रवृत्ति के सन्दर्भ में नैयायिकों ने ज्ञान की दो कोटियों का भी उल्लेख किया है– अभ्यास–दशापन्न और अनभ्यासदशापन्न। इन दोनों शब्दों के अर्थों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। अभ्यासदापन्न ज्ञान वह कहलाता है जिस ज्ञान के पूर्व उस प्रकार के अन्य किसी ज्ञान से सफल प्रवृत्ति का होना अवगत नहीं रहता, उस ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उससे प्रवृत्ति का उदय होकर उसकी सफलता का ज्ञान नहीं हो जाता। उसके विपरीत अनभ्यास–दशापन्न ज्ञान वह है जो अभ्यासदशा को पार कर चुका है और जिस ज्ञान से पूर्व उस प्रकार के अन्य ज्ञान से सफलप्रवृत्ति का होना विदित रहता है। उस ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय हमें पूर्वज्ञान को सजातीयता के कारण तत्काल हो जाता है। अभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य के अवधारण से पूर्व ही मनुष्य विषय के प्रति प्रवृत्त हो जाता है किन्तु अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाप्य का निश्चय होने के बाद ज्ञाता की विषय के प्रति प्रवृत्ति होती है। कुछ विद्वानों के मत में जहाँ जलज्ञान के बाद ही उसकी प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति हो जाती है वह अभ्यासदापन्न होता है तथा उससे भिन्न अभ्यासदापन्न होता है। यद्यपिप्रवृत्तिसंवाद न्यायमत का एक महत्त्वपूर्ण अंग है किन्तु यह ज्ञातव्य है कि प्रवृत्ति तो ज्ञानमा्त्र से भी हो जाती है। प्रवृत होने के लिए उससे पहले ज्ञान के प्रामाण्य का अवधारण अनिवार्य रूप से अपेक्षित नहीं होता, क्योंकि व्यावहारिक जीवन में यथार्थज्ञान के अतिरिक्त संशय से भी प्रवृत्ति होती है सम्भावना से भी अनेक कदम उठाए जाते हैं। प्रवृत्ति यदि सफल हो जाती है तो उससे सम्भावना रूप ज्ञान का भी प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।

नैयायिकों के प्रवृत्तिविषयक सिद्धान्त के विरुद्ध कुमारिल का यह कथन है कि वस्तु का ज्ञान होने पर उसके सम्बन्ध में मनुष्य की तुरन्त प्रवृत्ति नहीं होती। पहले उस वस्तु में ज्ञातता की प्रतीति होती है। फिर ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति से ज्ञान का अर्थापत्तिरूप ज्ञान होता है। अर्थात् ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली ज्ञातता का जन्म ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है– इस अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञातता से उसके उत्पादक ज्ञान की सिद्धि होती है। ज्ञातता कार्य है और ज्ञान कारण ज्ञातता का प्रत्यक्ष अनुभव होता है ज्ञान का नहीं। क्योंकि कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं हो सकता; अतः ज्ञान का ग्रहण अर्थापत्ति की प्रक्रिया से होता है। अतः किसी वस्तु का ज्ञान होने पर उस वस्तु के विषय में प्रवृत्ति होने के पूर्व ही उस वस्तु के ज्ञान में प्रामाण्य का अवधारण हो जाता है। इस पर नैयायिकों का यह प्रत्युत्तर है कि

ज्ञानविषयता (ज्ञान का विषय होना) से भिन्न ज्ञायता नाम का कोई धर्म ही नहीं है, तब उसके कारण रूप ज्ञान की कल्पना ही कैसे की जा सकती है? इसके अतिरिक्त यदि ज्ञानजन्य ज्ञातता के आधार को ही ज्ञान का विषय माना जाएगा तो अतीत और अनागत पदार्थ ज्ञान के विषय न होने के कारण अतीत और अनागत पदार्थ में ज्ञान द्वारा ज्ञातता का जन्म न हो सकेगा।

प्रामाण्यवाद–सम्बन्धी विभिन्न मत

भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में प्रामाण्यवाद के विषय का विस्तार से विवेचन उपर किया जा गया है।प्रामाण्यवाद के विषयमें जो मतभेद है उनका दार्शनिकों ने ज्ञान के स्वरूप तथा ज्ञान प्राप्ति केसाधन प्रमाणों के निरूपण के साथ–साथ ज्ञान की यथार्थता (प्रामाण्य) और अयथार्थता (अप्रामाण्य) के विषय में गंभीरतापूर्वक विचार किया है। उपर के अध्ययन में हमने देखा कि ज्ञानों के प्रामाण्य के विषय में मुख्य रूप से प्रश्न यह है कि ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः होता है या परतः। स्वतस्त्व और परतस्त्व मुख्यरूप से दो प्रकार का माना गया है– उत्पत्तिकृवत और ज्ञप्तिकृत। उत्पति में स्वतस्त्व का अर्थ यह है कि ज्ञान को उत्पन्न करने वाली जो सामान्य सामग्री है उसी से ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है, उसके लिए किसी अतिरिक्त सामग्री की आवश्यकता नहीं होती।" ज्ञप्ति में स्वतस्त्व का यह अभिप्राय यह है कि जिस साधन से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी के द्वारा के प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है।

इसके विपरीत नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति केवल इन्द्रियार्थ– सन्निकर्ष से हो जाती है, किन्तु उसमें प्रामाण्य गुणों के कारण उत्पन्न हुआ करता है, क्योंकि जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी से प्रामाण्य की उत्पत्ति हो जाया करती तो कभी भ्रम ही नहीं हुआ करता। अतः प्रामाण्य उत्पत्ति में पराश्रित होता है। ज्ञप्ति में भी वह पराश्रित होता है, क्योंकि ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से होता है और उसके प्रामाण्य का ग्रहण प्रवृत्ति की सफलता से होता है। प्रमाण का कार्य वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान कराना है, उसमें भी वह तभी समर्थ हो सकता है जब उसके प्रामाण्य का निश्चय हो जाय। इस प्रकार प्रामाण्य, उत्पत्ति, ज्ञप्ति तथा अपने कार्य में पराश्रित है अर्थात् उसका प्रामाण्य परतः होता है।

न्याय के अनुसार कहीं तो व्यक्ति जल आदि का ज्ञान होने पर उसके प्रामाण्य का निश्चय करके, जल आदि के ग्रहण (उपादान) में प्रवृत्त होता है और कहीं (प्रामाण्य के निश्चय के बिना ही) सन्देह से प्रवृत्त होकर, जल आदि की प्राप्ति होने पर प्रामाण्य का निश्चय करता है। मीमांसकों के अनुसार प्रवृत्ति से पहले ज्ञान–ग्रहण के साथ–साथ प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है और तब प्रवृत्ति होती है।

न्याय–वैशेषिक अनुभव को यथार्थ और अयथार्थ दो प्रकार का मानते हैं। जब हमें अनुभव होता है तो अनुभव होने की अवस्था में ही नहीं कहा जा सकता है कि वह अनुभव यथार्थ है या अयथार्थ। उसकी यथार्थता और अयथार्थता का पता बाद में चलता है। यदि उस ज्ञान के बाद हमारी प्रवृत्ति समर्थ (सफल) होती है अर्थात जाने हुए अर्थ की उपलब्धि हो जाती है जैसे कि पानी के ज्ञान के पश्चात यदि पिपासा शान्त करने वाला जल प्राप्त हो जाता है तो उस ज्ञान की यथार्थता का निश्चय हो जाता है और यदि प्रवुत्ति

सफल नहीं होती अर्थात पानी की उपलब्धि नहीं होती, तो ज्ञान की अयथार्थता का निश्चय हो जाता है। कभी–कभी अभ्यास होने की दशा में प्रवृत्ति से पूर्व भी सफल ज्ञान की समानता के आधार पर ज्ञान के प्रामाण्य का अनुमान कर लिया जाता है, परन्तु दोनों दशाओं में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का ग्रहण परतः (अनुमान द्वारा) ही होता है।

मीमांसक कहते हैं कि किसी वस्तु का ज्ञान होने के साथ–साथ ही, उस ज्ञान के प्रामाण्य का भी निश्चय हो जाता है और तभी प्रवृत्ति होती है। उनका अभिप्राय यह है कि अर्थ का बोध कराना ही ज्ञान की प्रामाणिकता है अतः सभी ज्ञान स्वभावतः प्रामाणिक होते हैं और उनका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। किन्तु यदि किसी ज्ञान को बाधित करने वाला दूसरा ज्ञान हो जाता है अथवा उसके कारण में दोष की प्रतीति होती है तो वह ज्ञान प्रामाणिक नहीं रहता, उसे अयथार्थ मान लिया जाता है। इस प्रकार बाध–ज्ञान और कारण–दोष ज्ञान के द्वारा किसी ज्ञान के अप्रामाण्य का निश्चय होता है। अतः कुमारिल मीमांसक के मत में अप्रामाण्य परतः माना जाता है।

बौद्धों का मन्तव्य मीमांसकों से नितान्त भिन्न है। उनका कथन है कि ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय प्रवृत्ति का कारण नहीं होता अपितु मनुष्य संशयमात्र से भी किसी उपाय में प्रवृत्त हो जाता है, केवल उसे यह निश्चय होना चाहिए कि इस उपाय से अमुक फल की सिद्धि हुआ करती है, जैसे कृषक जानता है कि बीज बोने आदि से फलवती (सफला) कृषि होगी, उसे इस ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय नहीं होता, फिर भी उसकी प्रवृत्ति हुआ करती है। बौद्ध के अनुसार सभी ज्ञान स्वभाव से अप्रामाणिक और भ्रमपूर्ण हुआ करते हैं, उनकी यथार्थता अर्थक्रिया–प्राप्ति से होती है। यदि उन ज्ञानों से अर्थक्रेयाकारी वस्तु की प्राप्त हो जाती है तो वे ज्ञान प्रमाण होते हैं अन्यथा अप्रमाण कहलाते हैं।' इस प्रकार साधरणतया यह समझा जाता है कि बोद्धों केअनुसार ज्ञानों का अप्रामाण्य स्वतः होता है और प्रामाण्य परतः किन्तु कमलशील ने "तत्त्वसंग्रहपञ्जिका' में बौद्धों के मन्तव्य का जैसा निर्देश किया है, उसके अनुसार बौद्धों को अनियम–पक्ष अभीष्ट है अर्थात् प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही कहीं–कहीं स्वतः होते हैं और कहीं–कहीं परतः। अर्थक्रियाकारी ज्ञान और अभ्यासदशा में होने वाले ज्ञान में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का स्वतः ही निश्चय हो जाता है, अन्य ज्ञानों में परतः निश्चय हुआ करता है।'

जैनदर्शन के अनुसार प्रज्ञावान जनों के निश्चित प्रमाण द्वारा ही प्रवृत्ति हुआ करती है, किन्तु अन्य जनों की कहीं–कहीं संशय आदि से भी प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः ज्ञानों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही कहीं स्वतः होते हैं, कहीं परतः। अभ्यासदशा में जो ज्ञान होता है, उसमें स्वतः ही प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय हो जाता है किन्तु अन्यत्र ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निश्चय परतः होता है। डॉ0 धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का कथन है कि जैन दार्शनिक अपने अनेकान्तवाद के अनुसार यह मानते हैं कि ज्ञान स्वरूपतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही हो सकता हैं अर्थात्एक ही ज्ञान एक दृष्टि से "प्रमाण" ओर दूसरी दृष्टि से "अप्रमाण्य" हो सकता है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः

भारतीय दर्शन के कतिपय ग्रन्थों में इसे सांख्य का मत बतलाया गया

है, किन्तु इस विषय में सांख्य के प्रामाणिक ग्रन्थों से कुछ विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। इसका तात्पर्य यही कहा जा सकता है कि सांख्य सत्कार्यवादी है। अतः उसके सिद्धान्त के अनुसार यदि प्रमाणों में प्रामाण्यशक्ति्त स्वतः नहीं होगी, तो किसी अन्य साधन से उत्पन्न नहीं की जा सकती। इस प्रकार ज्ञानों में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो स्वतः होने चाहिए, किन्तु इस आधार पर प्रामाण्य और अप्रामाण्य का उत्पत्ति में स्वतस्त्व ही सिद्ध हो सकता है जझ्ञप्ति और कार्य में नहीं। फिर सांख्य के अनुसार प्रामाण्य सर्वाश (उत्पत्ति, झ्प्ति और कार्य) में ही स्वतः होता है, यह बात कहाँ से आ गई? इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता।

प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः–

यह मत पूर्वमीमांसा का है। वेदान्त सम्प्रदाय भी इसी मत को स्वीकार करता है। कुमारिल भट्ट के अनुसार ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः होता है और अप्रामाण्य परतः। यह स्पष्ट है कि यह मन्तव्य विकसित होकर इस रूप में आ गया कि प्रामाण्य उत्पत्ति, ज्ञप्ति और कार्य में स्वतः होता है। यह कहा जा सकता है कि मीमसिक कुमारिल भट्ट के अनुसार ज्ञान अर्थ का बोधक होने के कारण ही प्रमाण होता है, किन्तु यदि बाधक ज्ञान और कारण दोष–ज्ञान से किसी ज्ञान की जाता प्रामाणिकता का बोध हो जाता है, तो वह अप्रामाण्य मान लिया जात है। प्रत्येक प्रमाण में स्वतः ही प्रामाण्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है, यही उसका उत्पत्ति में स्वतस्त्व है, जिसका अर्थ है कि जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए गुण आदि की अपेक्षा नहीं होती। प्रत्येक प्रमाण के अर्थ का निश्चय कराने में जो कि उसका अपना कार्य है स्वयं ही समर्थ है, यही प्रामाण्य का कार्य मे स्वतस्त्व है। जब ज्ञातता के द्वारा अनुमान या अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है, तभी उसके प्रामाण्य का भी निश्चय कर लिया जाता है, यही कुमारिल सम्प्रदाय के अनुसार प्रामाण्य का ज्ञप्ति में स्वतस्त्व है, अर्थात्'ज्ञातता' द्वारा अनुमान से ज्ञान का ग्रहण होता है और उसी से ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। किन्तु जैसा कि 0पर कहा गया है ज्ञानों का अप्रामाण्य दोषों के कारण उत्पन्न हुआ करता है और बाधक ज्ञान तथा कारण दोष ज्ञान से अप्रामाण्य का निश्चय होता है, इसलिये अप्रामाण्य परतः ही होता है स्वतः नही।

प्रभाकर के प्रामाण्यवाद के मन्तव्य में कुमारिल से कुछ अन्तर है। उसके अनुसार सभी अनुभव ज्ञान यथार्थ है। लोक में जिसे श्रान्ति कहा जाता है, जैसे शाक्ति में यह रजत है (इदम् रजतम्) इस प्रकार का अनुभव, उसे प्रभाकर के मतानुसार एक ज्ञान ही नहीं माना जाता, अपितु यहाँ अनुभव और स्मृति दो ज्ञानों का विवेकाग्रह माना जाता है। यह कहा जा सकता है कि किसी अनुभव में भ्रान्ति की आशंका ही नहीं हो सकती, अतः; प्रभाकर के मतानुसार सभी अनुभव यथार्थ रूप में ही उत्पन्न होते है और अपना अर्थबोध रूप कार्य करने में समर्थ होते हैं। साथ ही प्रभाकर के अनुसार अनुभव स्वयं प्रकाश होता है इसलिये वह अपने प्रामाण्य का ग्रहण भी स्वतः ही कर लेता है तथा यहाँ कुमारिल के मत के समान 'ज्ञातता' आदि की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनका

न्याय–वैशेषिक तथा बौद्धदर्शन के ग्रन्थों में विस्तार से निरूपण किया गया है। उनमें अधिकांश युक्तियाँ केवल वादी के मत का खण्डन करने के लिये प्रस्तुत की गई प्रतीत होती हैं जैसा कि मध्यकालीन दार्शनिक टीकाकारों की पद्धति रही है कि वे दार्शनिक सिद्धान्तों को अनेक विकल्प जालों में उलझा देते हैं और मनमानी युक्तियों का प्रयोग किया करते हैं फिर भी उन युक्तियों का प्रयोग किया करते हैं, फिर भी उन युक्तियों में कुछ अवश्य ही बुद्धिग्राह्य प्रतीत होती हैं। संक्षेप में उनका सार यह है कि यदि प्रमाणों का स्वतः प्रामाण्य माना जाये तो किसी ज्ञान में भी संशय अथवा भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः यह एक व्यावहारिक कठिनाई है। इसके अतिरिक्त जो आपत्तियाँ स्वतः प्रामाण्यवाद में की गई है, वे शास्त्रीय या वाद–सम्बन्धी ही कही जा सकती है।

अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः–

यह मत सामान्यतः बौद्ध का माना जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक ज्ञान स्वभावतः अप्रामाण्य हुआ करता है, किन्तु बाद में अर्थक्रिया ज्ञान या कारण गुण ज्ञान से उसके प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। जैसाकि शान्तरक्षित तथा कमलशील ने स्वीकार किया है। बोद्धों के अनुसार भी प्रमाण की उत्पत्ति के साथ ही उसमें प्रामाण्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है। किन्तु केवल ज्ञान की उत्पादक सामग्री से ही प्रामाण्य शक्ति उत्पन्न नहीं होती, अपितु उसकी उत्पत्ति के लिये गुणों की अपेक्षा होती है, अर्थात शुद्ध कारणों से प्रामाणिक ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। इस प्रकार प्रामाण्य उत्पत्ति में परतः होता है। कमलशील ने कार्य में स्वतस्त्व का विरोध तो अवश्य किया है, किन्तु कार्य में भी प्रामाण्य परतः है, इसको स्पष्ट नहीं किया। हाँ, उस प्रामाण्य का निश्चय परतः ही हुआ करता है। बौद्ध के अनुसार प्रामाण्य का निश्चय संवाद तथा कारण शुद्धि–ज्ञान से हुआ करता हैं यही प्रामाण्य का ज्ञप्ति में परस्वत कहा जा सकता है। किन्तु बौद्ध के मत में सभी ज्ञानों का प्रामाण्य परतः नहीं होता बौद्धों को अनियम पक्ष ही मान्य है। कमलशील ने बौद्ध दर्शन के प्रामाण्यवाद–विषयक मत का स्पष्टतः विवेचन किया है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः–

यह मत न्याय–वैशेषिक का है। जिसका सार यह है कि ज्ञान के पश्चात मनुष्य की प्रवृत्ति हो जाती है और प्रवृत्ति की सफलता या असफलता से ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता का निश्चय कर लिया जाता है। प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय अपेक्षित नहीं होता। प्रामाण्य का निश्चय ते बाद में सफल प्रवृत्ति के द्वारा अनुमान से किया जाता है। इस मत के अनुसार ज्ञान में कारण गुणों के द्वारा प्रामाण्य की उत्पत्ति हुआ करती है, इसीलिए प्रामाण्य का उत्पत्ति में परतस्त्व हैं और प्रवृत्ति–सामर्थ्य (प्रवृत्ति की सफलता या अर्थक्रिया प्राप्ति) द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हुआ करता है। ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय परतः मानने में मीमांसक की सबसे बडी आपत्ति यह रही है कि इस प्रकार अनवस्था, चक्रक, इतरेतराश्रय आदि दोष हो जाएगें। न्याय की ओर से अनवस्था दोष का निराकरण इसी रूप में हो जाता है, कि अनुमान को तो न्याय–वैशेषिक सम्प्रदाय ने भी स्वतः प्रमाण माना ही है। अतः उसके द्वारा अन्य ज्ञानों की प्रामाणिकता का निश्चय मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी। वाचस्पति मिश्र के अनुसार अर्थक्रिया–ज्ञान और

अभ्यासदशापन्न ज्ञान का प्रामाण्य भी अनुमान द्वारा सिद्ध होता है, साथ ही वेदों का प्रामाण्य भी आप्तकृत होने के कारण अनुमान से ही निश्चित होता है। अतः केवल अनुमान के आधार पर ही अनवस्था आदि दोषों का निराकरण किया जा सकता है।

किन्तु बौद्ध न्याय के अन्तिम काल में तथा जैनदर्शन में इन अनवस्था आदि दोषों का परिहार करने के लिए कुछ नवीन उद्भावनाएँ की गयी हैं, जिनके आधार पर प्रामाण्यवाद सम्बन्धी एक नवीन मत का उदय भारतीय दर्शन में हुआ है जो निम्नलिखित है :— प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो कहीं स्वतः होते है और कहीं परतः कमलशील के अनुसार बौद्ध दर्शन का प्रामाण्य विषयक मत यही है। इस मत को कमलशील के शब्दों में अनियम—पक्ष कहा जा सकता है इसके अनुसार सामान्यतः ज्ञानो का प्रामाण्य परतः ही होताहै किन्तु कुछ ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः भी होता है, जैसे स्वसंवेदन— प्रत्यक्ष, योगि—ज्ञान, अर्थक्रिया—ज्ञान और अभ्यासदशापन्न ज्ञान। इन ज्ञानों के प्रामाण्य का स्वतः ही निश्चय हो जाता है। इस प्रकार प्रामाण्य को परतः मानने पर भी अनवस्था आदि दोषों की शंका नहीं की जा सकती। कमलशील के इस विवेचन से यह भी विदित होता है कि कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक के आधार पर टीकाकारों की यह कल्पना भी निस्सार है कि बौद्ध दर्शन के अनुसार ज्ञानों का अप्रामाण्य स्वतः ही हुआ करता है। कमलशील ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है "उभयमप्येतत् किञ्चित्स्वतः किल्चित परतः इति" अर्थात प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो ही किन्हीं स्थलों पर स्वतः निश्चित कर लिये जाते हैं और किन्हीं स्थलों पर अन्य प्रमाण से (परतः) ही निश्चित किये जाते है।

जैन दर्शन के अनुसार भी प्रायः यही मत स्वीकार किया गया है कि प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही कहीं स्वतः और कहीं परतः होते है। ''प्रामाण्यवाद'' के अध्याय में बताया गया है कि आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार अर्थक्रिया ज्ञान, अभ्यासदशापन्न ज्ञान तथा अनुमान के प्रामाण्य का निश्चय स्वतः ही होता है, किन्तु अनभ्यासदशापन्न ज्ञान और शब्द से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय परतः ही हुआ करता है।

वस्तुतः प्रामाण्य के विषय में यही मत अधिक व्यावहारिक प्रतीत होता है, क्योंकि लोगों की किसी वस्तु को ग्रहण करने या त्यागने के लिये ही प्रवृत्ति देखी जाती है और वह प्रवृत्ति ज्ञान से ही होती है। जब किसी वस्तु का ज्ञान हो जाता है, तो व्यक्ति उस वस्तु की सम्भावना मात्र से ही उसमें प्रवृत्त हो जाता है, उस समय वह उस ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का विचार ही नहीं करता। फिर यदि उसकी प्रवृत्ति ज्ञान से ही होती है। जब किसी वस्तु का ज्ञान हो जाता है तो व्यक्ति उस वस्तु की सम्भावना मात्र से ही उसमें प्रवृत्ति हो जाता है, उस समय वह उस ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का विचार ही नहीं करता। फिर यदि उसकी प्रवृत्ति सफल होती है तो ज्ञान प्रामाण्य का निश्चय कर लिया जाता है। ऐसी दशा में ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय परतः ही हुआ करता है। जब अर्थक्रिया की उपलब्धि होती है या प्रतिदिन की अभ्यस्त किसी वस्तु का बोध होता है, तब तो उसी समय ज्ञान की प्रामाणिकता भी निश्चित हो जाती है। उसी प्रामाणिकता के लिए अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती।

अतः स्पष्ट है कि ज्ञानों के प्रामाण्य का निश्चय कहीं स्वतः होता है और कहीं परतः भी। मीमांसक ने जो स्वतः प्रामाण्य का ही आग्रह किया है, सम्भवतः वह वेदों की प्रामाणिकता को अक्षुण्य रखने के लिए ही एक अनूठा प्रयास है। इसी प्रकार नैयायिक जो कहता है कि केवल अनुमान का ही प्रामाण्य स्वतः निश्चित किया जाता है अन्य प्रमाणों का नहीं, यह भी कुछ आग्रह सा ही प्रतीत होता है। यह अनुभव के अनुकूल नहीं जेंचता, जैसा कि जयन्त भट्ट ने भी स्वीकार किया है– "फलज्ञाने तु सिद्धप्रयोजनत्वात् प्रामाण्यपरीक्षापेक्षैव नास्तीति' अर्थात् अर्थक्रिया ज्ञान के प्रामाण्य की परीक्षा नहीं करनी होती, क्योंकि उस समय मनुष्य का प्रयोजन सिद्ध हो चुका होता है, जब अर्थक्रिया ज्ञान के प्रामाण्य की परीक्षा नहीं करनी होती तो उसका प्रामाण्य अनुमान से निश्चित किया जाता है, यह कहना कैसे युक्त संगत हो सकता है, जैसाकि वाचस्पति मिश्र ने उलेख किया है। इसी प्रकार नैयायिकों ने यह माना है कि अभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय अनुमान द्वारा ही किया जाता है, यह भी अनुभव के विपरीत प्रतीत होता है, इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से तो यही मानना उचित है कि ज्ञानों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो ही कहीं स्वतः होते है और कहीं परतः भी।

दर्शनशास्त्र में व्यावहारिक दृष्टिकोण के साथ–साथ पारमार्थिक दृष्टि से भी विचार किया जाता है। सम्भवतः पारमार्थिक दृष्टि से विचार करते हुए ही भारतीय दर्शन के कुछ मनीषी शून्यवाद, उच्छेदवाद और अनेकान्तवाद जैसे विचारों पर पहुँच सके थे। प्रामाण्यवाद पर यद्यपि सभी दार्शनिकों ने पारमार्थिक दृष्टि से विवेचन नहीं किया है, तथापि जैन दर्शन के कुछ विचारकों ने इस दृष्टि से भी विचार किया हैं। अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक ज्ञान प्रमाण तथा अप्रमाण दोनों हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मन्तव्य पारमार्थिक दृष्टि से विचार करने पर ही अधिक संगत हो सकता है। यद्यपि विद्यानन्द आदि आचार्यो ने इसे व्यावहारिक दृ ष्टि से भी सम्पुष्टि करने का प्रयास किया है।

भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद का विवेचन ज्ञान सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत वेद के प्रामाण्य विषयक विविध मतों का विवेचन किया गया है जो भारतीय धर्म और दर्शन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व रखता है। साथ ही प्रत्येक दर्शन के प्रामाण्यवाद– सम्बन्धी मन्तव्य का उसके मौलिक सिद्धान्तों से गहन सम्बन्ध है।

3-5 सारांश

किसी विषय का यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है जिसका लक्षण यह है कि इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं होता है।यदि किसी विषय के ज्ञान में संशय का आभास तो वह कभी यथार्थ ज्ञान या प्रमा नहीं हो सकता। प्रमा वास्तविक ज्ञान है।

''जो प्रमा का कारण हो वही प्रमाण कहलाता है।'' प्रमाण वह है जो ज्ञाता और विषय ज्ञान के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। –'जिस साधन द्वारा प्रमाता को प्रमेय का ज्ञान हो उसे 'प्रमाण' कहते हैं। इन परिभाषा में दो शब्द है प्रमा तथा कारण। जहाँ प्रमा यथार्थ ज्ञान है वही किसी कार्य के 'नियत पूर्ववर्ती' को ही कारण कहा जाता है।

आदर्श ज्ञान के चार प्रमुख तत्त्व यथा प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमा के स्वरूप को क्रमशः जाना गया है। आत्मा को ही प्रमाता के रूप में जाना गया है अर्थात् आत्मा के लिए प्रमाता शब्द का प्रयोग किया गया है।जिस प्रकार सूर्य या दीपक अपने आपको प्रकाशित करता है और दूसरे पदार्थों–घट–पट आदि को भी प्रकाशित करता है अतः वह स्व–परप्रकाशी होता है। उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं तथा पर पदार्थों को प्रकाशित करने के कारण स्व–परप्रकाशी है। प्रमाण से जाने गये सभी पदार्थ 'प्रमेय' कोटि में आ जाते हैं। प्रमेय शब्द से सम्पूर्ण चेतन–अचेतन पदार्थ आ जाते हैं।

प्रमिति का अर्थ है प्रमाण–फल। ज्ञान को ही प्रमिति (प्रमाण–फल) मानता है। प्रमाण का फल दो प्रकार का है– एक साक्षात् फल अर्थात् प्रमाण से अभिन्न फल और दूसरा गौण फल अर्थात् प्रमाण से भिन्न फल। प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है और परम्परा फल ज्ञान, उपादान, उपेक्षा बुद्धि है। प्रत्येक ज्ञान प्रमाण भी है और फल भी है।

3-6 पारिभाषिक शब्दावली

अन्धविश्वास – बिना विचार किए किसी बात का निश्चय
स्वप्रकाशी – अपने आपको जानने वाला
परप्रकाशी – दूसरों को जानने वाला
ज्ञेय – ज्ञान से जाने गये सभी पदार्थ
ध्रौव्य – नित्यता
उत्पाद – उत्तरोत्तर आकार की उत्पत्ति का नाम
व्यय – पूर्व आकार के विनाश का नाम
तटस्थ – मध्यस्थ
त्रिगुणात्मक – तीन गुणों वाला
आविर्भाव – प्रकटीकरण
प्रमिति – विशेष प्रमाण द्वारा प्राप्त फल रुपी ज्ञान
प्रमा – यथार्थ ज्ञान
कारण – नियत पूर्ववर्ती
प्रामाण्य – प्रामाणिक होने की अवस्था अथवा भाव।
यथार्थ – जैसा होना चाहिए ठीक वैसा।
प्रमाण – सिद्ध हुआ।
पराश्रित – दूसरो के आश्रय में रहने वाला।
अनुव्यवसाय – एक अनुभूति की (सम्पर्क के बाद) अनुभूति।
प्रमेयों – पदार्थ
विसंवाद – असफल प्रवृत्ति
निरूपण – विवेचना करना।
अभीष्ट – चाहा हुआ।

3-7 lUnHkZ xzUFk

1. अन्नंभट्ट द्वारा रचित तर्क संग्रह, डॉ नरेन्द्र कुमार षर्मा, हंस प्रकाषन, जयपुर, 2017
2. तर्कभाषा, केशव मिश्र, मोतीलाल बनारसी दास पब्लि प्रा. लि. 2017
3. प्रामाण्यवाद, पं. ज्वाला प्रसाद गौड़, चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थालय,

2017
4. द न्यायसूत्र ऑफ गौतम विथ द भाष्य ऑफ वात्सायन एण्ड द वार्तिक ऑफ उद्योतकर वैल्यूम : 1–4, महामहोपाध्याय गंगानाथ झा, मोतीलाल बनारसी दास पब्लि प्रा. लि. 2020,

3-8 ck/k i'u

1. आदर्श ज्ञान के तत्त्वों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत कीजिए।
2. प्रामाण्यवाद के तत्त्वों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत कीजिए।
3. स्वतः प्रामाण्य के अर्थ एवं लक्षण को बताइए।
4. परतः प्रामाण्य के अर्थ एवं स्वरूप की व्याख्या कीजिए।
5. भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय में स्वतः प्रामाण्य एवं परतः प्रामाण्य का भेदाभेद स्पष्ट कीजिए।

खण्ड-दो
प्रमाण: अनुप्रयोग

इकाई. 1 ग्रन्थ विश्लेशण में प्रमाणों के अनुप्रयोग

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 ग्रन्थ विश्लेषण की समस्या
1.4 प्रमाण और ग्रन्थ विश्लेषण
1.5 शास्त्रीय प्रक्रिया
1.6 वैदिक ग्रन्थ का अध्ययन
1.7 ग्रन्थों का पृथक्करण
1.8 श्रद्धा और बुद्धि प्रधान ग्रन्थ
1.9 समकालीन ग्रन्थों की व्याख्या में प्रमाण सिद्धान्त का उपयोग
1.10 सारांश
1.11 पारिभाषिक शब्दावली
1.12 सन्दर्भग्रन्थ
1.13 बोधप्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारत वाचिक परम्परा का देश है। किन्तु वाचिक परम्परा का संरक्षण ग्रन्थों में होता रहा है अतः ग्रन्थों का महत्त्व अतिशय है। किन्तु यहां ग्रन्थ पर भी आँख मूंदकर विश्वास नहीं किया जाता। ग्रन्थों को भी प्रमाण की कसौटी से होकर जाना होता है। ग्रन्थों में विषय विवेचन के मानक के रूप में प्रमाणों का प्रयोग किया जाता है। ग्रन्थों में जो बात कही गयी हैं, वह या तो लेखक का प्रत्यक्षानुभव होता है या अनुमान। लेखक अपनी बात कहने के लिये उपमान, अनुपलब्धि, अर्थापत्ति इत्यादि प्रमाणों का उपयोग भी करता है। जब पाठक के समक्ष ग्रन्थ प्रस्तुत होती है, तो वह पाठ्यग्रन्थों का आशय प्रमाणों के आधार पर ही ग्रहण करता है। यदि ऐसा न हो, तो या तो पाठक ग्रन्थ का गलत अर्थ ग्रहण करे लेगा या फिर ग्रन्थ में लिखित ज्ञानसामग्री लोकउपयोगी रह जायेगी। आप जानते है कि प्रमाण सिद्धान्त यथार्थ ज्ञान और यथार्थ अनुभव पर आधारित है। इसलिये जो कुछ भी ग्रन्थ में लिखा जाय या किसी ग्रन्थ में जो कुछ भी लिखा गया है, उसका अर्थ प्रमाणों की सहायता से ग्रहण किया जाये।

1.2 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप—

- भारतीय प्रमाण सिद्धान्त के आधार पर ग्रन्थों के अध्ययन कैसे की जाती है, यह जान सकेंगे।
- किसी दिये गये ग्रन्थों का विश्लेषण करने की दृष्टि प्राप्त कर सकेंगे।
- समकालीन ग्रन्थों का अध्ययन इस विधि से कैसे की जायेगी, यह सीख सकेंगे।
- ग्रन्थ की परिभाषा, उसके स्वरूप तथा उसके विभिन्न अवयवों को समझ सकेंगे।

1.3 ग्रन्थ विश्लेषण की समस्या

आप यह भलिभाँति जानते है कि विभिन्न प्रकार के ग्रन्थ पाठक के समक्ष उपस्थित होते हैं और लेखक के समक्ष भी ग्रन्थलेखन के अनेक विषय उपलब्ध है। इस कारण से दुनियाँ में ग्रन्थों का अनेक प्रकार तथा बहुविध स्वरूप उपस्थित होता है। कुछ ग्रन्थ इतने प्राचीन है कि उनमें लिखे शब्दों का अर्थ वर्तमान में उपलब्ध ही नहीं होता।

समकालीन हरम्यूनिटिक्स- हाइडेनर तथा गैडामर और पाल रिकोयर ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिये है। पीइंग एण्ड टाइम पुस्तक में हाइडेगर मानव अस्तित्व के होने का अर्थ की जाँच हर्मेन्युटिकल के रूप में परिभाषित करते है तथा गैडामर की पुस्तक 'ट्रूथ एण्ड मेथड' भाग द्वितीय-तृतीय में इस सम्बन्ध में विचार किया है।

उत्तर आधुनिक युग में इस प्रश्न का ग्रन्थ विश्लेषण का आधार विल्हेम डिल्थे ने हरम्यूनिटिक्स को माना है। हरम्यूनिटिक्स आधुनिक व्याख्याशास्त्र है। इसका विकास उन्नसवीं सदी के जर्मन दार्शनिक स्लेयर मेकर ने किया। यह ग्रन्थ अध्ययन का एक विज्ञान है। हरम्यूनिटिक्स शास्त्र की मान्यता है कि किसी भी ग्रन्थ के समग्र विवेचन तथा उसके किसी खण्ड में एक पारस्परिक अन्तःसम्बन्ध रहता है। जब हम किसी ग्रन्थ को पढ़ते हैं, तो उस ग्रन्थ को सम्पूर्ण रूप से समझने के लिये पाठकों को लेखक का अभिमत समग्र पाठ के साथ-साथ उसके प्रत्येक भाग को समझना आवश्यक है।

हरम्यूनिटिकल सर्कल—

हर्म्युनिटीकल सर्कल किसी पाठ से अर्थ हमें किस प्रकार प्राप्त होता है इस प्रश्न के संदर्भ में चार प्रकार के मत प्रचलित हैं पहले मत उन विद्वानों का है जो यह मानते हैं कि किसी भी ग्रंथ के अर्थ निर्धारण में लेखक का अभिमत महत्वपूर्ण है किसी भी ग्रंथ का यदि आप सही अर्थ निकालना चाहते हैं तो आपको यह देखना होगा कि लेखक क्या कहना चाह रहा था और इसके लिए आपको लेखक के बारे में जानकारी प्राप्त करनी होगी यह सिद्धांत इस मान्यता पर निर्भर है की कोई भी ग्रंथ लेखक की मनोदशा का प्रतिफल होता है दूसरा सिद्धांत उन विद्वानों का है जो यह मानते हैं कि ग्रंथ के अर्थ निर्धारण में पाठक महत्वपूर्ण है किसी भी ग्रंथ का अर्थ पाठक के अर्थ समझ पर निर्भर करता है कि लिखे हुए टेक्स्ट का अर्थ पाठक कैसा ग्रहण कर रहा है वही तीसरी अभी मत उन विद्वानों का है जो यह मानते हैं कि किसी भी ग्रंथ का अर्थ में लेखक या पाठक से ज्यादा महत्वपूर्ण उसे ग्रंथ का पाठ है अर्थात ग्रंथ का अर्थ पाठ में निहित है चौथी प्रकार के अभी मत को मानने वाले का यह अभिमत है की किसी भी ग्रंथ के अर्थ निर्धारण में कॉन्टेक्स्ट महत्वपूर्ण होता है ना की लेखक या पाठक क्योंकि लेखक ने क्या सोचकर पाठ बनाया है यह रीडर कभी नहीं जान पता इसलिए ग्रंथ को हमें यह देखना चाहिए कि ग्रंथकर ने उसे पाठ को किस कॉन्टेक्स्ट में लिखा है यदि पाठक इस कॉन्टेक्स्ट में जाकर ग्रंथ का विश्लेषण करें तो उसे सही अर्थ की प्राप्ति हो जाएगी।

हर्म्युनिटीकल सर्कल अर्थ निर्धारण के क्षेत्र में या ग्रंथ विश्लेषण के क्षेत्र में क्षेत्र में हर्म्युनिटीकल सर्कल एक जटिल अवधारणा है जो यह मानता है कि हम किसी ग्रंथ के निर्धारण में यदि लेखक पाठक पाठ या कॉन्टैक्ट अर्थात संदर्भ किसी एक पर बोल देंगे तो हम उसे ग्रंथ का अर्थ नहीं प्राप्त कर सकते ग्रंथ के अर्थ निर्धारण में ग्रंथ के पाठ की इकाई को समग्र ग्रंथ के आलोक में और समग्र ग्रंथ के आलोक को पाठ की इकाई के आलोक में बिना पढ़े नहीं समझ सकते किसी ग्रंथ के किसी इकाई पाठ को पढ़ने पर हमें एक प्राथमिक समझ विकसित होती है जबकि हम समग्र पाठ को पढ़ते हैं तो हमें एक नई समझ प्राप्त होती है इकाई पाठ को पढ़ने पर जो हमें समझ प्राप्त हुई थी वह समग्र पाठ पढ़ाने पर बदल जाती है इससे यह ज्ञात होता है कि पाठ का निर्धारण एक रखी नहीं है यहां पर एक हर्म्युनिटीकल सर्कल है जिसे हम व्याख्यात्मक चक्र का सकते हैं इसमें अर्थ निर्धारण में लेखक पाठक पाठ और संदर्भ का महत्व हमेशा बदलता रहता है हम बिना खंड पाठ को समझे समग्र पाठ को नहीं समझ सकते इसलिए किसी ग्रंथ के विश्लेषण के द्वारा अर्थ निर्धारण करने हेतु हमें पाठ का बार-बार रिकंस्ट्रक्टिविलाइज करना पड़ेगा इस प्रकार से हर्म्युनिटीकल सर्कल में टेक्स्ट और कॉन्टेक्स्ट का महत्व बढ़ जाता है हाय देकर ने इतिहास की व्याख्या में इंडिविजुअल को पार्ट और समिति को खोल माना है वे कहते हैं की समग्र के समझ के लिए व्यक्ति की समझ आवश्यक है कोई व्यक्ति देशभक्त हो इसके लिए सिर्फ इतना ही आवश्यक नहीं है कि उसे समाज ने देशभक्ति का पाठ पटाया बल्कि यह भी जानना आवश्यक है कि उसे व्यक्ति में देशभक्ति के गुण विकसित होने के क्या-क्या संभावना थी।

स्लेयर मेकर का व्याख्याशास्त्र बहुआयामी है लेकिन इस विचार पर आधारित है कि समझ की सफलता एक प्रवचन (कथन) के दो पक्षों व्याकरणिक तथा मनोवैज्ञानिक की सफल व्याख्या पर निर्भर करती है। व्याकरणिक पक्ष से उनका तात्पर्य प्रवचन के अर्थ में योगदान से है जो उस भाषा की सामान्य संरचना पर निर्भर करता है, जिसका वह उपयोग करता

है। मनोवैज्ञानिक पक्ष से उनका तात्पर्य प्रवचन के अर्थ में योगदान से हैं, जो लेखक या ग्रन्थकर्त्ता के बुद्धि पर निर्भर करता है। प्रवचन का व्याकरणिक वैज्ञानिक पक्ष सामान्य भाषाई रूपों में अभिव्यक्ति पाता है।

स्लेयर मेकर के अनुसार व्याख्या का उद्देश्य प्रवचन के अर्थ का पुननिर्माण करना है। डिल्थे ने 'द राइज ऑफ हरम्यूनिटिक्स' में लिखा है कि हरम्यूनिटिक्स का मुख्य उद्देश्य व्याख्या की सामान्य वैधता का सैद्धान्तिक औचित्य देना है, जिसपर ऐतिहासिक ज्ञान की सभी निश्चितताएँ आधारित है।

'टेक्स्ट' पाठ का अर्थअ

टेक्स्ट शब्द लैटिन Lextus से आया है जिसका अर्थ होता है– प्रारूप या किसी एक कार्य की शैली या बनावट। इसका शाब्दिक अर्थ है– बने हुए तथ्य, बुनाई करना, जुड़ना, एक साथ फिट होना, निर्माण करना, पाठ बनाने में सावधानीपूर्वक व्यवस्था।

ग्रन्थों की अपनी संरचना और लाक्षणिक प्रणालियाँ होती है। इस बात से स्वतन्त्र की लेखक अपने कार्यों के रूप में कैसे कल्पना करता है और क्रियान्वित करता है। सभी ग्रन्थों के आन्तरिक पैटर्न हैं जो अन्य सांस्कृतिक तथा सामाजिक प्रणालियों द्वारा भी साझा किये जाते हैं।

1-4 प्रमाण और ग्रन्थ विश्लेषण

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने प्रमाण का लक्षण करते हुए लिखा है–

अविसंवादि ज्ञान को ही प्रमाण कहा जाता है। अर्थ (दाह–पाकादि रूप प्रयोजन) की क्रिया निष्पत्ति का नाम अविसंवाद है। शब्द ज्ञान में भी वक्ता का अभिप्रेत अर्थ का निवेदन होने के कारण प्रमाणता मानी गयी है।

प्रमाणविसंवादि ज्ञानमर्थ क्रियास्थितिः।
अविसंवादनं शाब्देऽप्याभिप्रायनिवेदनात्।।

जैन विद्वान् अकलंक ने प्रमाण को परिभाषित करते हुए लिखा है– प्रमाण को अविसंवाही तथा अनधिगतार्थक होना चाहिए। माणिक्य नंदी ने लिखा है कि वह ज्ञान जो 'स्व' अर्थात् अपने आप का तथा 'अपूर्वार्थ' का यानि जिसे किसी अन्य प्रमाण से नहीं जाना गया है, का निश्चय करता है, उसे प्रमाण कहते हैं। निश्चयात्मक होना प्रमाण के लिये आवश्यक है। माणिक्य नंदी ने प्रमाण की एक और परिभाषा दी है–

"हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थ हि प्रमाणततो ज्ञानमेवतत्।"

अर्थात् ज्ञान जो हित प्राप्ति में सहायक होता है और अहित का परिहार करता है, प्रमाण कहलाता है।

प्रश्न : विभिन्न सम्प्रदाय के विद्वान् अन्य ग्रन्थों का अध्ययन कैसे करते थे?

उत्तर : सबसे पहले तो ग्रन्थों के विश्लेषण करने की व्याख्यापद्धति विकसित की गयी। परासर पुराण में सूत्रग्रन्थों का पढ़ने के लिये क्रम से छः नियमों और उनके क्रम का निरूपण इस प्रकार से किया हैं–

पदच्छेद पदार्थोक्ति विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षडविध मतम्।।

अर्थात् पदच्छेद, प्रतिपाद्य का अभिकथन, व्युत्पत्ति का प्रदर्शन, वाक्य की योजना, आक्षेप और समाधान रूपी छः विधियों का अनुप्रयोग करते हुए

किसी शास्त्र के उस ग्रन्थ का व्याख्यान किया जाय जो सूत्रों की संहति में प्रस्तुत हुआ हो तो उस ग्रन्थ का निहितार्थ सम्यक् रूप से उद्‌घाटित हो जाता है। व्याख्याकार सर्वप्रथम व्याख्येय प्रसंग के वाक्यों को पदों में बांटता है। इसी को पदच्छेद अथवा अन्वय कहते हैं।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में अन्यथा भी छह प्रकार से सूत्रों की व्याख्या करने की बात दुहराई गई है।

आरम्भोऽथापि सम्बन्धः सूत्रार्थस्तद विशेषणम्।
चोदकं परिहारस्य व्याख्या सूत्रस्य षडविधा।।

अर्थात् पूर्वापर सम्बन्धात्मक संगति (अवतरण). विषय के साथ प्रकरण का सम्बन्ध प्रतिपाद्य का अभिकथन, उसके विशेषण के अभिप्राय का परिष्कार, पूर्वपक्ष का उत्थापन और उसका परिहार करना सूत्र की व्याख्या में अपेक्षित होता है। इसी बात को अन्यत्र भी थोड़े शब्दान्तर से कहा गया है। वह यह कि व्याख्या के लिए सूत्रार्थ, पदार्थ, हेतु क्रम और निरुक्ति तथा सम्यक् प्रस्तुति आवश्यक है।

सूत्रार्थश्च पदार्थश्च हेतुश्च क्रमशस्तथा।
निरुक्तमय विन्यासो व्याख्या योगस्य षडविधा।।

एक अन्य बहुश्रुत श्लोक में भी व्याख्या के षडविध तंत्रों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि व्याख्या के लिए भूमिका अर्थात् अवतरण के साथ व्युत्पत्ति का प्रदर्शन पूर्वक प्रतिपादय का कथन, संदेह का उत्थापन एवं उसका निराकरण करते हुए सिद्धांत पक्ष की उपस्थापना विवक्षित है। यहाँ केवल वाक्य योजना की बात नहीं कही गई है लेकिन इसे तंत्रगत स्वयं ही गतार्थ माना जा सकता है।

उपोद्‌घातः प्रथमतः पदार्थः पदविग्रहः।
अविमर्शः प्रत्यवस्था व्याख्या तंत्रस्य षडविधा।।

उपर्युक्त षडतंत्री व्याख्या पद्धति से मिलती–जुलती एक पंचसूत्री व्याख्या पद्धति भी है जो पूर्वमीमांसा व्याख्या पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार किसी भी विषय पर विचार करते समय पक्ष–विपक्ष के बलाबल की चिन्ता करते हुए निर्णय तक पहुँचने की प्रक्रिया मीमांसाशास्त्र में अपनाई गई है। केवल विषय का उल्लेख मात्र निर्णय के लिए पर्याप्त नहीं है अपितु उस विषय में उहापोह के पश्चात् इदमित्थं का अवधारण किया जाता है। यहाँ पाँच प्रकार से उहापोह करने की प्रक्रिया निर्दिष्ट की गई है। पहले विवाद का विषय प्रस्तुत किया जाता है और फिर उस विषय में सम्भावित शंका उठाई जाती है। पूर्वपक्ष की युक्तियाँ प्रदर्शित की जाती हैं, पुनश्च उसके निराकरण हेतु बाधक प्रमाण दिखाकर उत्तरपक्ष अर्थात् सिद्धांत पक्ष के साधक प्रमाण दिखाये जाते हैं। इस तरह स्वाभिमत में बाधक प्रमाणों का अभाव दिखाकर साधक प्रमाणों की संगति पूर्वक सिद्धांत स्थिर होता है।

विषयोंविशयश्चौव पूर्व पक्षस्तथोत्तरः।
संगतिश्चेति पंचांगं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्।।

द्रष्टव्य है कि इस पंचसूत्री विचार पद्धति को मीमांसा शास्त्र में 'अधिकरण' पद से अभिहित किया गया है। अधिकरणाधिष्ठित व्याख्या पद्धति का अनुप्रयोग मुख्य रूप से वेदांत और मीमांसा शास्त्र में ही देखने को मिलता है।

1-5 शास्त्रीय ifØ;k

विद्वान् आलोचक को 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' कहने की प्राचीन प्रथा है। यहाँ पद से व्याकरणशास्त्र, वाक्य से मीमांसाशास्त्र और प्रमाण से न्यायशास्त्र परिगृहीत होता है। इसका तात्पर्य यह है कि व्याकरणशास्त्र, मीमांसाशास्त्र और न्यायशास्त्र के जानकार व्यक्ति किसी भी शास्त्रीय जटिल सिद्धान्तों का तथा लौकिक कठिन समस्याओं का समाधान व्याख्यान की इन शास्त्रीय प्रक्रियात्मक उपायों से कर सकता है, जो अनुभव परिपूत तथा तर्कपुष्ट होने से तदिविद्यों की गोष्ठी में अवश्य मान्य होगा। ये तीनों ही शास्त्र व्यावहारिक दृष्टि से अपनी अपनी उन प्रक्रियाओं को दिखाते हैं, जि के आधार पर शास्त्रों की व्याख्या हो सकती हैं। अतएव इन तीनों शास्त्रों को प्रक्रियाशास्त्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि इनका स्वभाव ही है व्याख्या की प्रक्रिया का विधान करना। कुशल व्याख्याकार तथा निष्पक्ष आलोचक वही हो सकता है, जो 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' होगा। व्याकरण की प्रक्रिया का साधारण परिचय एवं अर्थवाद संक्षेप में प्रस्तुत हुआ। मीमांसा तथा न्याय की सरणि का परिचय यहाँ आगे यथावसर प्रस्तुत होगा।

शक्ति के ग्राहक द्वितीय उपाय उपमान से सादृश्य के द्वारा विषय को समझाना विवक्षित है। किसी वस्तु से भिन्न किन्तु उस वस्तु के अधिक गुण या धर्म से सम्पन्न वस्त्वन्तर (अन्य वस्तु) सदृश कहलाता है– 'तभिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् सादृश्यं' सादृश्य का लक्षण है। 'चन्द्र इव मुखम्' इस पदमें चन्द्रगत आह्लादकत्व, सौम्य स्वरूप तथा भरीपुरी आकृति रहने से वर्तुलाकारत्व वक्ता का विवक्षित होता है। मुख चन्द्र से भिन्न है तथा चन्द्रगत ऊर्ध्व कथित असाधारण गुणों से युक्त भी है।

शक्ति के ग्राहक तृतीय उपाय कोश का ज्ञान अपेक्षित है। इसके बल पर विडोजा या मघवा पद से इन्द्ररूप प्रसिद्ध अर्थ तथा अमत्र पद से भोजन पात्र (पाली) रूप अर्थ परिज्ञात होता है। विद्वानों के लिए शब्दकोश का बल उतना ही अपेक्षित है जितना एक राजा के लिए धन का कोश अपेक्षित होता है। यह एक प्रकार का विशेष साधन है, चाहे वह काव्यनिर्माण का क्षेत्र हो या दर्शन के चिन्तन या आलोचन रूप व्याख्या का। धर्मशास्त्रीय निबन्धकार इसीके आधार पर निबन्ध में प्रयुक्त अप्रसिद्ध पदों का तत्काल प्रसिद्ध अर्थ दे देते हैं। यथा प्रसंगवश आगत को त की पद का कोश से घोषक अर्थात् अपामार्ग अर्थ निर्दिष्ट है किन्तु इतने से लेखक स्वयं (प्रसिद्ध मैथिल धर्मशास्त्रकार हरिनाथ उपाध्याय) सन्तुष्ट नहीं होकर स्मृतिसार के आरंभ में कहते हैं सोनधेमल इति प्रसिद्धः।

शक्ति के ग्राहक चतुर्थ उपाय है आप्त का वाक्य। यथार्थ वक्ता जो रागादि से अभिभूत होने पर भी अन्यथा (मिथ्या) नही कहे, आप्त कहलाता है। उनका वचन शक्ति का ग्राहक होता है। जैसे आप्त व्यक्ति के द्वारा 'कोकिलः पिकपदवाच्यः' कहने पर पिक शब्द का कोकिल अर्थ में शक्ति का ज्ञान होता है।

शक्ति के ग्राहक पंचम उपाय व्यवहार से वृद्ध का व्यवहार लेना है। उत्तग वृद्धीने मध्यम वृद्धासे कहा कि घड़ा ले आओ, गायको बाँध दो 'घटमानय गां बधान' यह सुनकर मध्यम वृद्ध वैसा करता है – यह देखकर

बालक समझ जाता है कि आनय क्रिया का अर्थ लाना है, घट का अर्थ घड़ा है, गो का अर्थ गाय है और वधान का अर्थ बाँधना होता है। पदों का आवाप और उद्वाप क्रमशः ग्रहण और त्याग देखकर बालक पदार्थ का (पद के अर्थ का) घट, आनय, गां तथा बधान का क्रमशः घड़ा, लाना, गाय तथा बाँधना रूप अर्थों का ग्रहण करता है।

शक्ति के ग्राहक छठवाँ उपाय है वाक्यशेष। प्रकृत वाक्य से, जिसका अर्थ अवधारणीय है, भिन्न वाक्य में प्रकृत वाक्यार्थ के उपयोगी प्रशंसापरक पद समूह वाक्यशेष से अभिप्रेत है। प्रकृति वाक्य है 'अक्ताः शर्कराः उपदधाति' इससे भिन्न वाक्य है 'तेजो वै घृतम। यहाँ अंजन तो तेल, वसा तथा घृत आदि किसी स्निग्ध द्रव्य से हो सकता है किन्तु वाक्यशेषस्थ घृत पद के रहने से घृत से ही अंजन का विधान होता है। इसी तरह 'यवमयश्चरुर्भवति' इस वाक्य में यवासे दीर्घशूक वाला अन्न लिया जाता है, कङ्गु अर्थात् 'काउन' नहीं। क्योंकि आगे कहा गया है कि वसन्त मे अन्य औषध म्लान हो जाते हैं केवल यव प्रसन्न रहता है। अतः दीर्घशूक घाला अन्न (यव) ही यव पद से लिया जाता है।

शक्ति के ग्राहक सातवाँ उपाय है विवृति या विवरण। समानार्थक (पर्याय) पदसे पदार्थ का परिचय है विवृति। जैसे घटरू कलशः।

और शक्ति के ग्राहक आठवाँ उपाय है प्रसिद्ध पद का सान्निध्य। जैसे 'इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति' (आम के वृक्षपर कोईली अच्छी बोल रही है)– यहाँ सहकारतरु के सान्निध्य से पिक पद का कोकिल अर्थ उपपन्न होता है।

परमलघुमंजूषा तथा न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में उक्त शक्तिग्राहक प्रमाण या उपाय क्रमशः नागेश भट्ट तथा विश्वनाथ न्यायपंचानन द्वारा विशदरूपमें विवेचित हुआ है, उभयत्र उक्त पद्य उपलब्ध है।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में नानार्थक शब्दों में सन्देह होने पर निश्चित अर्थ के अवधारण हेतु प्रसंग के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए विशेष कारणो का परिगणन किया है– संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, शब्दान्तर की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति तथा स्वर आदि।

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।। –(वाक्यपदीयम्)

शंखचक्रधारी हरि पद से विष्णु का बोध होना, अशंखचक्र हरि से विष्णु का बोध नहीं होना, रामलक्ष्मण कहने पर दाशरथि राम का बोध होना, ... परशुराम या बलराम का बोध नहीं होना, रामार्जुन कहने पर राम से परशुराम का बोध, अंजलि से होम के उपस्थानकारक हाथ की मुद्रा, सैन्धवपद से भोजन काल में नीमक और यात्रा के समय में घोड़ा, अक्त पद से लिप्त, जामदग्न्य राम में राम से परशुराम, अभिरूप को लड़की देना इस वाक्य में अभिरूप से सुयोग्य वर, केवल सुन्दर नहीं, यश्चौनं मधुसर्पिषा में सेचन का अध्याहार कर अर्थ करना, 'यात्यत्र परमेश्वरः' में परमेश्वर से देश विशेष के राजा, रात में चित्रभानु से आग और दिन में सूर्य, मित्र पद से

लिंग के आधारपर सूर्य या सुहृत् अर्थ आदि का बोध, यहाँ इन सब के उदाहरण हैं। ''व्यक्ति'' पद यहाँ लिंग क वाचक है तथा स्वर से काकु वचन या वैदिक उदात्तादि स्वर विवक्षित है।

व्याख्याकार की योग्यता–

सर्वप्रथम व्याख्याकार से यह आशा की जाती है कि वह सम्बद्धशास्त्र का ज्ञाता हो तथा साथ ही साथ पद और वाक्य संरचना को भी भलिभाँति जानता हो। इसके लिये उसे व्याकरणशास्त्र, मीमांसाशास्त्र तथा न्यायशास्त्र का ज्ञाता होना आवश्यक है। व्याकरणशास्त्र से उसे उचित शब्दों का ज्ञान होता है तथा मीमांसाशास्त्र एवं न्यायशास्त्र से वह शब्द, वाक्य और शब्द वाक्य के मध्य सम्बन्धों को समुचित रूप में जान पाता है। व्याकरण, मीमांसा और न्याय शास्त्र– ये तीनों अलग–अलग होते हुए भी अन्य शास्त्रों के अध्ययन में सहयोगी होते है। व्याकरण से हम किसी ग्रन्थ के शरीर का ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा मीमांसा और न्याय से ग्रन्थरूपी शरीर की आत्मा का। इतना ही नहीं ग्रन्थकार की योग्यताओं में तन्त्रयुक्तियों के ज्ञान को भी सम्मिलित किया गया है। कुल मिलाकर एक कुशल व्याख्याकार के अन्तर्गत इन सभी योग्यताओं का होना उसे ग्रन्थ विश्लेषण में कुशलता प्रदान करता है।

1-6 ofnd xzUFk dk v/;;u

प्रिय विद्यार्थियों आप यह भली प्रकार जानते है कि वेद के अध्ययन के लिये वेदाङ्ग हमारे सम्मुख आते हैं। वेदाङ्ग क बाद सूत्र, भाष्य, वार्तिक, व्याख्या, उपव्याख्या की शास्त्र परम्परा आयी। इस प्रकार से भारतीय ज्ञानपरम्परा में ग्रन्थों की एक विशाल परम्परा उपलब्ध होती है। वेद के अध्ययन के सूत्र हमें कठोपनिषद् के जिस मंत्र से प्राप्त होता हैं वह इस प्रकार है–

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तो सम्परीत्य विविनक्तिधीर
श्रेयोहि धीरोऽभिप्रेयसोवृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते।

–(कठ. 1/2/2)

सद्गुरू सत्यशास्त्र के उपदेशों के अनुसार धार्मिक मर्यादा नियम में रहने वाले मनुष्य को मोक्ष और उसके साधनरूप पुण्य, ज्ञान, सन्तोषदि रूप सब श्रेय तथा प्रेय (प्रियतर) स्वर्ग सुखादि और उनके साधन स्त्रीपुत्र विषयादि प्राप्त होते हैं। मनुष्यता से रहित को तो श्रेय या प्रेय कुछ भी नहीं प्राप्त होते है।

वेद की प्रवृत्ति सोपानारोह न्याय से अध्ययन की जाती है। यहां सकाम शुभकर्मों के बोधक वेद प्रथम सोपानरूप है। निष्कामतानुक्त कर्मदिको के बोधक द्वितीय सोपान रूप है। इससे कामादि को नहीं त्याग सकने पर परोपकारमय इष्टपूत्तादि कर्मों को करना अभ्युदय के लिये शुभ आरोह का प्रथम सोपान और निष्काम कर्मों का अनुष्ठान द्वितीय सोपान (सीढ़ी) है। इसके बाद न्यायवैशेषिक के अनुसार न्याय की रीति को और पदार्थों को समझना तृतीय सोपान है तथा दर्शन की दृष्टि से प्रथम सोपान ही हैं। भाव यह है कि–

प्रत्यक्षं चानुभावं च शास्त्रं च विविधागमम्।

त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता।।

–(मनु. 12/15)

शास्त्र के अनुसार धर्म की शुद्धि (विवेकादि पूर्वक तत्वज्ञानादि) की इच्छा रखने वालों को प्रत्यक्ष, प्रमाण, अनुमान प्रमाण और अनेक प्रकार के वेदादि आगम रूप शास्त्रों को ज्ञात करना चाहिए अर्थात् लक्षण एवं प्रमाण से वस्तु की सिद्धि (ज्ञान) होती हैं, वहां सजातीय विजातीय से वस्तु के स्वरूप को भेदक धर्म को लक्षण और ज्ञात करने वाले वस्तु के यथार्थ ज्ञान के हेतु (कारण) को प्रमाण कहते हैं। उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्यादि शब्दप्रमाण से सत्यज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। वेदों का भाष्य करते समय निम्न परीक्षाओं को ध्यान में रखना चाहिए–

1. युक्तियुक्ता – कणाद कहते हैं– बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे अर्थात् वेद में बुद्धिपूर्वक बातें कहीं गयी है।

2. निरूक्त – केवल व्याकरण से वेदार्थ नहीं होता है। निरूक्त का आश्रय लेना चाहिए, निरूक्त के बिना मंत्रार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

यास्क– अथापी दमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थ प्रत्ययो न विद्यते।' तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्र्य स्वार्थसाधकं च।' व्याकरण की पूर्णता निरूक्ति में ही है।

3. व्याकरण – रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्।

4. तर्क– तर्क साक्षात् ऋषि है। किन्तु सभी तर्क का प्रयोग।

5. प्रकरण – प्रकरण के आधार पर अर्थ करना चाहिए। यास्कराचार्य ने कहा– न तु पृथकत्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणशः एव तु निर्वक्तव्याः। यहाँ प्रयुक्त एवपद मन्त्रार्थ करने में प्रकरण की अपरिहार्यता का प्रतिपादन कर रहा है।

6. गौणीवृत्ति – वेदों में अनेक मंत्रों में आलंकारिक वर्धन पाये जाते हैं। ऐसे स्थलों पर शब्दों के मुख्यार्थ को न ग्रहण करके गौणी वृत्ति का आश्रय लेकर अन्य अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

वेदों में यम–यमी संवाद, सम्मापणि संवा, पुरुरवा, उर्वसी संवाद, विश्वामित्र नदी संवाद आदि ऐसे स्थलों की व्याख्या बिना गौणी वृत्ति की नहीं हो सकती।

7. भूयोविद्य – वेदभाष्यकर्त्ता को बहुश्रुत होना चाहिए। याज्ञिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, वैज्ञानिक आख्यानों के लिए भाष्यकर्ता का यज्ञ, विज्ञान, आयुर्वेद आदि क्षेत्रों का प्रवेश भी अनिवार्य होना चाहिए। जिसका जितना विस्तृत ज्ञान होगा उसका वेदभाष्य उतना ही प्रशंसनीय होगा।

8. ऋषित्व–मेधा–तपस्या श्री अरविन्द इस मत के समर्थक है।

इसके अतिरिक्त वेद भाष्यों के लिए निम्न चार निकषों का उल्लेख किया गया है।

1. मन्त्रों का अर्थ यज्ञ में कहीं–न–कहीं काम देता है– यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् (ऋग्वेद) अर्थात् समस्त वेदवाणी यज्ञ के द्वारा ही स्थान पाती है।

2. मंत्रार्थ बुद्धि के अनुकूल हो न कि प्रतिकूल।

3. मंत्रार्थ तर्क से सिद्ध किया हो।

4. मंत्रार्थ धातुज्ञ हो। प्रत्येक शब्द के धातु से निष्पन्न अर्थ स्वीकार्य हैं– 'नाम च धातुजमाह निरुक्त, अर्थात् निरुक्त में धातुज अर्थ ग्रहण किये गये है।

1-7 xUFkk dk iFkddj.k

वस्तु प्रतिपादक ग्रन्थ दो प्रकार के होते हैं– एक हेतुवाद पर आधारित दूसरा अहेतुवाद प्रतिपादक इनमेंसे अहेतुवाद प्रतिपादक ग्रन्थ को श्रद्धा से ही मान्य रखकर उसमें कही हुई बातें श्रद्धा से ही मान लेनी चाहिए और यदि दूसरी तरह से अन्तिम दिव्य ज्ञान न हो तो वहां तक वैसी बातों पर वृद्धि या तर्क का प्रयोग नहीं करना चाहिए किन्तु जहां हेतुवाद शास्त्र हो वहां उसमें कही गयी बातों के विषय में प्रत्यक्ष एवं अनुमान से जांच कर विषय का निश्चय करना चाहिए हेतुवाद के विषयों पर श्रद्धा करना उचित नहीं है।

प्रश्न : इतिहासकार किसी ग्रन्थ का विश्लेषण करते समय किन पहलुओं पर ध्यान देता है?

उत्तर : कोई भी इतिहासकार किसी ग्रन्थ का अध्ययन करते समय सर्वप्रथम ग्रन्थ की भाषा को जानना चाहता है कि यह ग्रन्थ किस भाषा में लिखी गयी है, सामान्य भाषा में या विशिष्ट लोगों की भाषा में। इसके बाद यह देखा जाता है कि वह ग्रन्थ किसके लिये लिखी गयी है, धार्मिक है या दार्शनिक है कि धर्मेत्तर है। साथ साथ यह भी देखी जाती है कि पुस्तक किसी व्यक्ति, वर्गविशेष के लिये लिखी गयी है या सामान्य जन के लिये। इसके बाद इतिहासकार यह देखतना चाहता है कि ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थों के विषयवस्तु या अभिलेख लिया गया है कि नहीं, यदि लिया गया है तो किस ग्रन्थ से। उसका काल क्या है। जिससे उसे यह ज्ञात हो सके कि यह ग्रन्थ लोकोपकार की भावना से लिखा गया है या ज्ञान की परम्परा को जारी रखने के लिये लिखा गया है या फिर इसे व्यक्ति वर्ग को प्रसन्न या आलोचना के उद्देश्य से लिखी गयी है।

1-8 J)k vkj cf) i/kku xUFk

मुख्य रूप से दो प्रकार के ग्रन्थ हमें प्राप्त होते हैं। प्रथम कोटि के ग्रन्थ को हम श्रद्धा प्रधान ग्रन्थ कह सकते हैं। अर्थात् वे ग्रन्थ जिनके अवगाहन के लिये ग्रन्थ में लिखित तथ्यों, विवेचनों के प्रति श्रद्धा की आवश्यकता पड़ती है, उन्हें श्रद्धामूलक ग्रन्थ कहते हैं। जैसे वैदिक साहित्य, नैतिक साहित्य, उपदेशात्मक साहित्य इत्यादि। दूसरे कोटि के ग्रन्थ जिनके अध्ययन में बुद्धि विशेष की आवश्यकता होती है, बुद्धि प्रधान ग्रन्थ कहे जाते हैं। इस कोटि में वैज्ञानिक साहित्य तथा आलोचनात्मक साहित्य आते है।

1-9 ledkyhu xUFkk dh O;k[;k e iek.k fl)kUr

प्रश्न उठता है कि किसी शास्त्र या ग्रन्थों की प्रामाणिकता का आधार क्या है? क्या किसी ग्रन्थ को मात्र शास्त्र कह देने से उस ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है? या वैसे ग्रन्थ जिन्हें शास्त्र की कोटि में नही रखा गया है किन्तु उनमें प्राप्त विषयवस्तु पूर्णतः प्रामाणिक है और सर्वमान्य भी तो ऐसे ग्रन्थों को क्या शास्त्र की कोटि में रखा जा सकता है।

प्रो. मोहनलाल मेहता ने अपनी पुस्तक 'जैन धर्म–दर्शन' में किसी भी ग्रन्थ को शास्त्र मानने के लिये निम्नलिखित विशेषताओं की जरूरत को माना है–

1. प्राचीनता, 2. प्रसिद्धि, 3. ग्रन्थकार का व्यक्तित्व, 4. अनुयायियों की श्रद्धा, 5. परम्परा का प्रभाव।

अर्थात् ज्ञान के साधना के आधार पर पूर्वाग्रह रहित होकर जो बातें की जाती हैं वे प्रामाणिक होती है, सर्वमान्य होती हैं। इसके विपरीत कथन संदिग्ध है, स्पष्ट नहीं है। उसके सम्बन्ध में कोई विवाद हो सकता है। परम्परा, स्वानुभव तथा विचार या कल्पना ये बातें प्राचीन तथा नवीन सभी ग्रन्थों में पायी जाती हैं। मुख्य आधार निर्दोष अनुभव है।

नयी खोजों के आधार पर लिखे गये ग्रन्थों में ज्ञान में नवीनता तो होती है। किन्तु स्थायित्व नहीं, हो सकता है। उसी दिशा में नयी खोजों से उसकी प्रामाणिकता खण्डित हो जाय। यदि ग्रन्थकार का अनुभव निर्दोष एवं निर्विकार है तो उसका खण्डन नहीं हो सकता है। कोई भी कथन राग, द्वेष, अज्ञान, प्रमाद, अहंकार, भय आदि से प्रभावित नहीं है तो उसके कोई दोष नहीं हो सकता है।

किसी शास्त्र अथवा ग्रन्थ की प्रामाणिकता अप्रामाणिकता की कसौटी तद्गत सामग्री ही है। वह सामग्री जितनें अंशों में प्रमाण पुरष्कर होगी उतने ही अंशों में वह शास्त्र या ग्रन्थ प्रामाणिका होगा। सामग्री की परीक्षा किये बिना शास्त्र अथवा ग्रन्थ की प्रामाणिकता का निर्णय नहीं किया जा सकता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति के प्राकृतिक साधन हैं। इन्हीं द्वारा कोई इन्द्रियवान प्राणी अपने चारों तरफ के वातावरण की प्राथमिक संसूचना प्राप्त करता है और अपने वातावरण से सन्तुलन बनाने में समर्थ होता है।

शास्त्र की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में प्रश्न उठता है कि वह अपने आप में यथार्थ होता है अथवा अयथार्थ। इस समस्या पर भारतीय वाङ्मय में विचार के अनेक पहलू हैं। यहां हम प्रमुख विचाराधाराओं का संक्षिप्त विवेचन करेंगे–

जनमत में शास्त्र श्रुतज्ञान के अन्तर्गत आता है। श्रुतज्ञान दो प्रकार का होता है। 1. अक्षरात्मक श्रुतज्ञान 2. अक्षरात्मक श्रुतज्ञान। श्रोतेन्द्रिय के अतिरिक्त जो चार इन्द्रियाँ हैं– आँख, नाक, जीभ, त्वचा से मतिपूर्वक तथा मन के सहयोग से जो ज्ञान होता है उसे अनक्षरात्मक श्रुत ज्ञान कहते हैं। श्रोतेन्द्रिय से मतिपूर्वक एवं मन के सहयोग से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। उदाहरण– किसी ने कहा 'कलम है'। मात्र उसे सुनना और सुनने के बाद विभिन्न कारणों से इसे जानना ये दो भिन्न बातें हैं। सुनकर विभिन्न कारणों से उसे जानना अक्षरात्मक ज्ञान है।

शास्त्रवचन की सत्यता के दो पहलू होते हैं। प्रयोगकालीन और अर्थकालीन। प्रयोगकालीन पहलू वक्ता पर आधारित होता है। वक्ता शब्द का यदि यथार्थ प्रयोग करता है तो वह सत्य होता है। अर्थकालीन पहलू श्रोता पर आधारित होता है। श्रोता यदि यथार्थ अर्थ को ग्रहण करता है तो वह भी सत्य होता है।

1-10 सारांश

ग्रन्थ मानवीय ज्ञान के सार्वजनिक संग्रहालय हैं। इसमें प्रचीन से लेकर अर्वाचिन ज्ञान का स्वरूप एवं तथ्य संग्रहीत रहते हैं। ग्रन्थ में ज्ञानात्मक तथ्य इकाई रू॰ मे श्रृंखलाबद्ध रूप से बुने रहते हैं। लिखित ग्रन्थ का विश्लेषण हम अनुवाद, व्याख्या, समालोचना तथा पुनर्पाठ द्वारा करते हैं। ये ग्रन्थ जिस संस्कृति के अन्तर्गत लिखे जाते है, उस संस्कृति के मूल शब्द का अर्थ उसी संस्कृति के अन्तर्गत लिखे जाते है। फलतः अनुवादों द्वारा हम ग्रन्थ का पूर्ण अध्ययन नहीं कर सकते। जिस प्रकार ज्ञान की संरचना एक जीवीत प्रकृथा है, उसी प्रकार ज्ञान का विश्लेषण एक जीवंत प्रकृया है। यह प्रकृया प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमा के द्वारा सम्पन्न होती है। यदि हम ग्रन्थ विश्लेषण में इन प्रमाणमीमांसा तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए ग्रन्थ विश्लेषण करते हैं तो हम ग्रन्थ के प्रतिपाद्य को निकट पहुंच सकते हैं।

भारत में ग्रन्थ निर्माण का इतिहास अति प्राचीन है। भारतीय ग्रन्थों के विश्लेषण के लिये, भारतीय ग्रन्थों के स्वरूप को जानना आवश्यक है। केवल भारतीय ग्रन्थों के स्वरूप को ही जानना आवश्यक नही भारतीय व्यख्या पद्धति को भी जानना आवश्यक है। ग्रन्थों में लिखित पदच्छेद, व्युत्पत्ति, वाक्येयोजना, आक्षेप और समाधान के द्वारा ग्रन्थों का विश्लेषण किया जा सकता है। इतना ही नहीं न्यायशास्त्र तथा मीमांसाशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है तथा उपमान, कोशज्ञान रूपी शब्द प्रमाण आवश्यक शर्ते हैं। चूंकि वैदिक ग्रन्थ अपौरूषेय है अतः इनका विश्लेषण ठीक उसी विधि से नहीं हो सकता जिसके विधि से हम पौरूषेय ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं।

1-11 ikfjHkkf"kd 'kCnkoyh

आद्यशाश्ता : प्रथम उपदेशक को आद्यशाश्ता कहते हैं। बौद्ध संस्कृति में महात्मा बुद्ध को बौद्धधर्म दर्शन आद्यशाश्ता कहा जाता है।

ऋषिप्रोक्त : वह ज्ञान जो ऋषियों द्वारा कहा गया है, उसे ऋषिप्रोक्त कहा जाता है। ऋषिप्रोक्त कहने का अर्थ यह है कि यह ज्ञान साक्षात्कार पर आधारित है। अतः शब्दप्रमाण में प्रथम कोटि के अन्तर्गत माना जाता है।

माणिक्य नंदी : जैन दार्शनिक

अधिकरणाधिष्ठित व्याख्या : किसी विशेष मुद्दे को लेकर संरचनाबद्ध व्याख्या को अधिकरणाधिष्ठित व्याख्या कहा जाता है। यह विधि प्राचीन भारत से ही प्रयुक्त की जा रही है।

1-12 lUnHkZ xzUFk lwph

1. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली।
2. शुक्रनीतिसार
3. Problems of Interpretation and Translation of Philosophical and Religious Texts, N.S.S. Raman, Indian Institute of Advanced Study Rashtrapati Nivas, Shimla
4. कौटिल्य अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

1-13 ck/k i!'u

1. बिना भारतीय व्याख्यापद्धति को अपनाये भारतीय ग्रन्थों की व्याख्या अपूर्ण एवं एकांगी होती है। इस कथन की पुष्टि करिये।
2. ग्रन्थ विश्लेषण में प्रमाण सिद्धान्तों के प्रयोग पर एक निबन्ध लिखिए।
3. प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमा पर बिना विचार किये ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का सम्यक् निर्धारण नहीं हो सकता। इस कथन की पुष्टि कीजिए।
4. समकालीन ग्रन्थों के विश्लेषण में भारतीय प्रमाण सिद्धान्त का उपयोग हितकारी है। इस कथन पर प्रकाश डालिए।

इकाई. 2 आयुर्वेद में प्रमाणों का अनुप्रयोग

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.2 आयुर्वेद
2.3 आयुर्वेद में प्रमाण का उपयोग
2.4 प्रत्यक्षप्रमाण
2.5 उपमान की उपयोगिता
2.6 सारांश
2.7 पारिभाषिक शब्दावली
2.8 सन्दर्भग्रन्थ सूची
2.9 बोध प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

ज्ञान के स्वरूप, साधन और उसके प्रमुख अवयवों को जानने के बाद अब आप प्रमाणों के अनुप्रयोग तथा उस अनुप्रयोग से प्राप्त लाभों के बारे में पढ़ने जा रहे हैं। आयुर्वेद जिसे भारतीय चिकित्सा विज्ञान कहा जाता है, यह भारतीय दर्शन विशेषकर सांख्ययोग तथा न्यायवैशेषिक दर्शन पर अवलम्बित है। परिकल्पनात्मक दर्शन पर अवलम्बित होने मात्र से यह निष्कर्ष नही निकाल लेना चाहिए कि आयुर्वेद मात्र ज्ञान है परिकल्पना। आयुर्वेद ज्ञान का आरम्भ ग्रन्थपरम्परा तथा गुरूपरम्परा से हुई आगे बढ़ी, इस विद्या के ज्ञान में विस्तार और उस ज्ञान की उपयोगिता प्रमाणसिद्धान्त से पुष्ट होती रही है। इस बात को ध्यान में रखकर इस ईकाई में हम यह पढ़ेंगे कि किस प्रकार और किन किन स्थितियों में आयुर्वेद ने प्रमाणसिद्धान्त का उपयोग किया है। साथ में आयुर्वेद के स्वरुप की भी चर्चा की जायेगी।

2.2 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप—

- प्रमाणशास्त्र के अनुप्रयोग को उदाहरण सहित समझ सकेंगे।
- किस प्रकार आयुर्वेद एक चिकित्सा प्रणाली के रूप में होने के साथ-साथ विज्ञान है, जो प्रमाणसिद्धान्त के उपयोग द्वारा समृद्ध हुई है।
- साथ ही यह भी जान सकेंगे कि कोई भी दार्शनिक तत्त्व सिद्धान्त सुदृढ़ प्रमाण सिद्धान्त के उपयोग द्वारा वैज्ञानिक ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकता है?

2-3 vk;oln

आयुर्वेद को उपवेद की मान्यता प्राप्त है। आयुर्वेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चरकसूत्र में लिखा गया है–

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधेयं पितामहः।।

आयुर्वेद वेद रूप में सर्वप्रथम ब्रह्मा जी को प्राप्त हुआ था। यह शास्त्र स्वस्थ एवं रोगियों के लिये उत्तम मार्ग बतलाने वाला है तथा निदान, लक्षण और औषधि का नित्यपुण्य देने वाला है। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थ चरकसंहिता एवं सुश्रुतसंहिता है तथा मध्यकाल में वागभट्ट ने अष्टांगहृदय नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखा है। इन ग्रन्थों के अवलोकन से इस बात यह सहज ही अन्दाजा लगाया जा सकता है कि भारतीय चिकित्साविज्ञान उच्च कोटि पर था। आयुर्वेद चिकित्साशास्त्र के साथ साथ एक सम्पूर्ण विज्ञान है क्योंकि इसमें शरीर के साथ ही साथ मन तथा आत्मा का भी अध्ययन एवं उपचार किया जाता है।

एक चिकित्सापद्धति के रूप में आयुर्वेद की परिभाषा महर्षि चरक ने इस प्रकार से दी है–

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।।

जिस शास्त्र में 1. हित 2. अहित 3. सुख और 4. दुःख– इन चार प्रकार की आयु का वर्णन किया गया हो, आयु के लिये किस तरह का आहार या आचार हितकर या अहितकर है, इसका वर्णन किया गया हो, आयु का मान

बतलाया गया हो (अर्थात् किस प्रकृति का, किन लक्षणों वाला, किस तरह के रोग वाला तथा किस तरह की बुद्धि– मन–चेष्टा वाला, किस तरह के आचार–विचार वाला व्यक्ति अल्पायु या दीर्घायु होता है, इसका विचार किया हो और आयु किसे कहते है? उसका स्वरूप क्या है? इन सभी विषयों का युक्तियुक्त प्रकार से सुन्दर वर्णन किया गया हो, उसे 'आयुर्वेद' कहते हैं।

आयुर्वेद के 1. वैद्य 2. औषध द्रव्य 3. परिचारक और 4. रोगी– ये चार पाद है, जिसपर आयुर्वेद का समग्र ज्ञान संस्थान खड़ा है। वैद्य और वैद्य का ज्ञान शब्दप्रमाण के रूप में मान्य है तथा औसत द्रव्य, परिचारकक्रिया और रोगी के रोग की खोज में प्रत्यक्ष अनुमान अर्थापत्ति अनुपलब्धि इत्यादि प्रमाणों का उपयोग किया जाता है। जिस प्रकार से तत्त्वज्ञान में शब्दप्रमाण प्रमुख है, उसी प्रकार चिकित्सा में वैद्य की सर्वश्रेष्ठता मानी गयी है।

इस प्रकार आयुर्वेद आयु का ज्ञान कराने वाला वेद है। यह इसी लोक में प्रत्यक्ष फल देने वाला है क्योंकि यह रोगी को रोग से मुक्त करता है तथा इस पूर्ण कार्य को सम्पन्न करने में सहायक होने के कारण पारलौकिक फल प्रदान करता है।

vk;qosZn dk iz;kstu

किसी प्राणी के स्वास्थ्य की रक्षा हेतु आहार विहार, पथ्यापथ्य, ऋतुचर्या, दिनचर्या, रात्रिचर्या आदि का विधान 'युक्ति' पर ही आधारित है, जिसके पालन करने से स्वस्थ व्यक्ति के दोष सम, अग्नि सम, मलक्रिया सम, आत्मा प्रसन्न, इन्द्रियाँ प्रसन्न तथा मन प्रसन्न रहता है।

'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते'।। –सु0 सू0 15/44

समय के कारण शारीरिक रोग उत्पन्न न होने पाये इसके लिए ऋतुओं में होनेवाले दोषों के संचय, प्रकोप और प्रशम के अनुसार 'युक्तिपूर्वक' दोषजन्य विकारों मे बचने का उपदेश आयुर्वेद में किया गया है। यथा–

"हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमनकाले।
धनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगान् ऋतुजान्न जातु।।
–च0 शा0 2/45

अर्थात् हेमन्त ऋतु में संचित दोष (कफ) को वसन्त ऋतु (चौत्र) में, ग्रीष्म में संचित दोष (बात) को अभ्रकाल (वर्षा श्रावण) में, वर्षा ऋतु संचित दोष (पित्त) को शरद् (मार्गशीर्ष) में निकालने पर पुरुष को ऋतुकालजन्य रोग समूह नहीं होते।

उसी प्रकार मानस रोगों से बचने के लिए रज और तम के दुर्गुणों से बचने का उपदेश भी आयुर्वेद में 'युक्ति' के आधार पर ही किया गया है। यथा–

'नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः।।
मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः।।

अर्थात् हितकारी आहार–विहार का सेवन करने वाला, विचारपूर्वक काम करने वाला, काम–क्रोधादि विषयों में आसक्त न रहने वाला, दान देने वाला, सम अर्थात् सभी प्राणियों पर सम (तुल्य) दृष्टि रखने वाला, सत्य बोलने में तत्पर रहने वाला, सहनशील और आप्तपुरुषों की सेवा करने वाला मनुष्य अरोग

(रोग रहित) रहता है।

रोगी के रोग को दूर करना अर्थात् चिकित्सा में भी श्युक्तिश को सर्वप्रथम स्थान आयुर्वेद में दिया गया है। चतुष्पाद (भिषग्, द्रव्य, परिचारक और रोगी) भी जब 'युक्तियुक्त' होता है, तभी वह रोग को दूर करने में सफल हो पाता है। वैद्य किस प्रकार का होना चाहिए? इस सम्बन्ध में आयुर्वेद में कहा गया है–

'स्मृतिमान् हेतुयुक्तिक्षो जितात्मा प्रतिपत्तिमान्।
भिषगौषधसंयोगैश्चिकित्सां कर्तुमर्हति।। –च0 सू0 2/36
'मात्राकालाश्रया युक्तिः सिद्धियुक्तो प्रतिष्ठिता।
तिष्ठत्युपरि युक्तिशो द्रव्यज्ञानवतां सदा।। –च0 सु0 2/16
'युक्तियुक्ता चतुष्पावसम्पद् व्याधिनिबर्हणी' – च0 सू0 11/24

अर्थात् वैद्य को स्मरणशक्ति सम्पन्न, रोगों के कारणों का ज्ञाता, युक्ति (औषध प्रयोग की युक्ति का ज्ञाता), जितेन्द्रिय और प्रपत्तिमान (समय के अनुसार शीघ्र निर्णय करने वाला) होना चाहिए, तभी वह रोगानुसार औषधियों का योग बनाकर सफलतापूर्वक चिकित्सा कर सकता है। किसी भी औषधि की युक्ति (योजना) उसकी मात्रा और काल पर निर्भर करती है तथा युक्ति में सिद्धि (सफलता) प्रतिष्ठित (स्थित) है। द्रव्य का ज्ञान रखने वाले वैद्य से युक्ति को जानने वाला वैद्य सर्वदा श्रेष्ठ रहता है।

'प्राणाभिसर' वैद्य (जो जाते हुए प्राण को लौटा दे) के लक्षण में भी कहा गया है कि चिकित्सक को युक्त होना चाहिए; यथा–

'तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्त कर्मदर्शने।
द्य भिषक् चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते।।

बिना उहापोह एवं तर्क–वितर्क के न तो रोगी के शारीरिक रोग का निदान किया जा सकता है, और न ही मानसिक रोगों का निदान सम्भव है। इसलिए 'युक्तिपूर्वक' ज्ञानबुद्धि के प्रदीप से रोगी की अन्तरात्मा की पहचान करने पर ही चिकित्सा सफल होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पग–पग पर आयुर्वेद में युक्तिप्रमाण का वैशिष्ट्य है। जो दार्शनिक सिद्धान्त साङ्ख्य, वेदान्त, न्यायवैशेषिक ने स्थापित किये थे, उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर मनुष्य के जीवन को किस प्रकार से पूर्ण किया जाय। उनको दुःखों से मुक्त किया जाय। इस आकांक्षा से हमारे ऋषियों ने आयुर्वेद ज्ञान के प्रयोग में युक्ति के उपयोग पर बल दिया है।

2-4 vk;qosZn esa çek.k dk mi;ksx

चरक तथा सुश्रुत दोनों का ही दावा है कि आयुर्वेद में जो कुछ भी कहा गया है वह सभी प्रमाणों की कसौटी पर खरा या सत्य उतरने के बाद हो कहा गया है। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो इनके विरुद्ध हो। पाञ्चभौतिक जगत् के सद् एवं पदार्थों की परीक्षा प्रमाण के आधार पर ही की जाती है। अर्थात् इस इस पाञ्चभौतिक जगत् में सभी वस्तुएँ दो प्रकार की होती है– 1. सत् और 2. असत्। इन दोनों की परीक्षा चार प्रकार से की जाती 1. (Authoritative) 2. प्रत्यक्ष (Direct observation), 3. अनुमान (Inference) और 4. युक्ति (Reason or experiment)। अध्यात्म तथा अधिभूत वस्तुतत्व को जानने–समझने का साधन प्रमाण हो है।

अध्यात्म अर्थात् जीवात्मा है, इसको ही बारम्बार कर्मानुसार शरीर ग्रहण कर जन्मना तथा मरना पड़ता है, वास्तव में जीवात्मा तो जनम तथा मरण से परे हैं, जन्म तथा मरण तो शरीर का होता है न कि का इस जीवात्मा को जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक इसे बार–बार जनम लेना पड़ता है, अतएव पुनर्जन्म होता है। आयुर्वेद में पुनर्जन्म की सिद्धि चरकसंहिता–सूत्रस्थान के ग्यारहवें अध्याय में चतुविध प्रमाणों द्वारा ही की गयी है।

आयुर्वेद में रोग–ज्ञान के लिए आचार्य चरक ने 'प्रमाण' के लिए परीक्षा शब्द का प्रयोग किया है। आयुर्वेद में प्रमाणों के विवेचन के प्रसंग में महर्षि चरक ने परीक्षा शब्द का प्रयोग किया है। यथा–

'द्विविधमेव खलु सर्व सच्चासच्च; तस्य चतुर्विधा परीक्षा– आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानं युक्तिश्चेति।'

आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा रोगों की भलीभांति परीक्षा कर रोग–निदान कर चिकित्सा करने का निर्देश दिया है। इसी प्रकार औषध द्रव्यों के गुण–कर्मों एवं उसके पहचान के लिए प्रमाण का प्रचुर उपयोग आयुर्वेद में किया गया है।

चरक ने प्रमाणों के विवेचन में प्रमाण शब्द की जगह परीक्षा शब्द का प्रयोग किया है। इसका मुख्य कारण है चरक का व्यावहारिक एवं प्रायोगिक चिकित्साशास्त्रीय दृष्टिकोण आयुर्वेद में इन प्रमाणों का उपयोग साधनों के रूप में किया गया है, दर्शनों की तरह साध्य के रूप में नहीं। इसीलिए चिकित्सा शास्त्रीय दृष्टिकोण से जो अधिक उपयोगी मालूम हुआ, उसी पर अधिक बल दिया गया है। शायद यही कारण है कि एक स्थान पर उन्होंने मात्र प्रत्यक्ष और अनुमान को ही इस कोटि में रखा है। यथा–

'द्विविधा तु खलु परीक्षा ज्ञानवतां––प्रत्यक्षम् अनुमानञ्च' ।

आयुर्वेदशास्त्र में प्रमुख प्रमाणों का समावेश

आचार्य सुश्रुत ने भी इन चार प्रमाणों को उपयोगी माना है– 1. आगम (आप्तोपदेश) 2. प्रत्यक्ष, 3. अनुमान तथा 4. उपमान हैं। यहाँ पर उपमान का समावेश आप्तोपदेश के अन्तर्गत कर लेते हैं, कारण कि उपमान में सादृश्यज्ञानहोने पर ही किसी की पहचान होती है। जैसे– तिल के जैसा दाग पड़ जाने पर उसे 'तिल' कहा जाता है। यहाँ तिल की आकृति देखकर तिल के सदृश ज्ञान से यह 'तिल' (क्षुद्ररोग) ही है, ऐसा ज्ञान होता है तथा आप्तपुरुषों के उपदेश के तिल के विषय में जानकारी होने से 'तिल' को देखकर उसका ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार उपमान को अलग से प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

महर्षि चरक ने भी चरकसंहिता के सूत्रस्थान में चार प्रमाण; यथा– 1. आप्तोपदेश, 2. प्रत्यक्ष, 3. अनुमान तथा 4. युक्ति का उल्लेख किया है, लेकिन आगे चलकर अनुमान की व्याख्या करते समय युक्ति को अनुमानप्रमाण की मात्र मान लिया है– 'अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षः।' (च0 वि0 8)। इस प्रकार विमानस्थान के चतुर्थ अध्याय में चरक ने तीन प्रमाण आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान माना है। चरकसंहिता के विमान स्थान (अष्टम अध्याय) में उपमान का स्वतन्त्र वर्णन भी मिलता है। परन्तु यह वर्णन प्रमाणवर्णनान्तर्गत में न आकर के मार्गज्ञान–वर्णन के अन्तर्गत आया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आयुर्वेद चार प्रमाणों को स्वीकार तो करता है किन्तु वह सिद्धान्त रूप में तीन ही प्रमाण 1. आप्तोपदेश, 2. प्रत्यक्ष तथा 3. अनुमान को स्वीकार करता है और इन्हीं तीनों प्रमाणों में अन्य शास्त्रोक्त सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव मान लेता है। अब हम प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुप्रयोग के बारे में पढ़ेंगे।

2-5 çR;{k çek.k

प्रत्यक्ष का उपयोग हम औषधि गुणों का ज्ञान तथा किसी रोगी के रोग का ज्ञान हमें आयुर्वेद में इन्द्रिय सन्निकर्ष का स्वरूप, वेदना अधिष्ठान, वेदनानाश का हेतु, इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व विचार, प्रत्यक्ष ज्ञान का बाधक कारण, विविध यन्त्रादि द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान का विस्तार, प्रत्यक्ष होने पर अन्य प्रमाणों की आवश्यकता का वर्णन, आयुर्वेद में प्रत्यक्षप्रमाण की उपयोगिता।

आयुर्वेद में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष की कल्पना चिकित्साशास्त्र दृ ष्टिकोण को ध्यान में रखकर की गयी है। वहाँ इसे इन्द्रियार्थसंयोग कहा गया है। सात्म्य एवं असात्म्य भेद से इन्द्रियार्थसंयोग के दो प्रकार होते हैं । मात्म्यसंयोग उसे कहते हैं जिसमें इन्द्रिय का अर्थ की ऐसी मात्रा के साथ संयोग होता है जो उसके लिए सामान्यतः सहा या ग्राह्य होती है। उदाहरणस्वरूप आँख का प्रकाश की ऐसी मात्रा के साथ संयोग जिसमें कोई तकलीफ न हो तथा प्राणी आराम से काम कर सकता हो, सात्म्यसंयोग है तथा इसके विपरीत असात्म्यसंयोग है। आयुर्वेद में असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग को रोगों का कारण माना गया है। ये अतियोग, अयोग तथा मिथ्यायोग भेद से तीन प्रकार का हो जाता है। नेत्र से अत्यधिक प्रभा (चमकने) वाले सूर्य, अग्नि आदि दृश्यों को अधिक मात्रा में देखना रूपों का नेत्रेन्द्रिय के साथ अतियोग है। नेत्र से रूपों को सर्वथा न देखना या अल्प देखना रूप का अयोग है। नेत्र से विषयों का अधिक समीप होना, अधिक दूर होना तथा कठोर, भयानक, अद्भुत, द्विष्ट, बीभत्स और विकृत तथा वित्रासन अर्थात् शीघ्र ही भयोत्पादक रूपों को देखना नेत्रेन्द्रिय का रूपों के साथ मिथ्यायोग है। यही बात अन्य इन्द्रिय प्रत्यक्षों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। इस प्रकार असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग 15 प्रकार के हो जाते हैं। यथा–

1. चक्षुरिन्द्रियविषयातिरोग	9. श्रोत्रेन्द्रियविषयमिथ्यायोग
2. चक्षुरिन्द्रियविषयायोग	10. रसनेन्द्रियविषयातियोग
3. चक्षुरिन्द्रिय–विषयमिथ्यायोग,	11. रस–नेन्द्रियविषयायोग
4. घ्राणेन्द्रिविषयातियोग	12. रसनेन्द्रियविषयमिथ्यायोग
5. घ्राणेन्द्रियविषयमिथ्यायोग	13. स्पर्शनेन्द्रियविषयाति–योग
6. घ्राणेन्द्रिविषयमिथ्यायोग	14. स्पर्शनेन्द्रियविषयायोग
7. श्रोत्रेन्द्रियविषयातियो	15. स्पर्शनेन्द्रियविषयमिथ्यायोग
8. श्रोत्रेन्द्रियविषयायोग	

वेदना के अधिष्ठान

आयुर्वेद ग्रन्थों में उन शारीरिक भागों को चिन्हित करने का प्रयास किया गया है, जहां पर रोगी को वेदना का अनुभव होता है। उन स्थलों पर उत्पन्न वेदना के आधार पर रोग के कारणों का निदान प्रस्तुत किया जाता है। चरकसंहिता में कहा है कि–

'वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना।'

अर्थात् केश, लोम, नख का अग्र भाग, अन्न का मल (विट्), द्रव (मूत्र) तथा गुण (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध) को छोड़कर मन और इन्द्रिय के साथ शरीर वेदना का अधिष्ठान है।

प्रश्न : रोगी का जो वेदना होती है, उस वेदना का कारण क्या क्या हो सकता है?

उत्तर : आयुर्वेद ने मनुष्य के शरीर में अस्वभाविक वेदना के कारणों पर विचार करते हुए वेदना नाश के अन्तिम कारण को घोषित करते हुए कहा गया है कि–

'योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम् ।
मोक्षे निवृत्तिनिःशेषो योगो मोक्षप्रवर्तकः।।'

अर्थात् योग और मोक्ष में सभी वेदनाओं का नाश हो जाता है। मोक्ष में आत्यन्तिक वेदनाओं का नाश होता है। योग मोक्ष को दिलाने वाला होता है। आप समझ सकते हैं कि आयुर्वेद किस प्रकार प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष से जुड़ी हुई शारीरिक वेदना के अनुभव से अन्तिम मुक्ति योग और मोक्ष के माध्यम से स्वीकार करता है। यह इस बात का प्रमाण है कि भारत में वैज्ञानिक ज्ञान की भी अन्तिम परिणति आध्यात्मिक ज्ञान में होता है।

प्रत्यक्ष के साथ ही अन्य प्रमाणों की आवश्यकता

प्रत्यक्ष ही एक ऐसा प्रमाण है जिसे सभी लोग स्वीकार करते हैं, चाहे वह आस्तिक हो, नास्तिक हो, अशिक्षित हो या सुशिक्षित हो। सभी को प्रत्यक्ष प्रमाण मान्य है– 'प्रत्यक्षं कि प्रमाणम्?' अर्थात् किसी वस्तु का यदि प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त गया तो अन्य प्रमाण की क्या आवश्यकता? लेकिन ऐसा नहीं है, प्रत्यक्ष के विषय कम हैं जबकि अप्रत्यक्ष के विषय बहुत अधिक हैं। अस्तु अप्रत्यक्ष विषय की यथार्थ जानकारी के लिए अन्य प्रमाणों की सहायता अपेक्षित है। कहा भी गया है–

'प्रत्यक्षं ह्यल्पम्य अनल्पम प्रत्यक्षमस्ति, यदागमानुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते, यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि ।'

जगत् में प्रत्यक्ष बहुत कम वस्तुओं का होता है और अप्रत्यक्ष वस्तुएँ बहुत हैं, जिनकी प्राप्ति आगम (शास्त्रप्रमाण), अनुमान और युक्तिप्रमाण द्वारा होती है। दूसरी बात यह है कि यदि केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मान जाय तो यह दूसरा दोष आ जायेगा कि जिन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष का ग्रहण होता है वे इन्द्रियाँ ही स्वयं अप्रत्यक्ष हैं। यदि अप्रत्यक्ष होने के कारण इन्द्रियों को न मानें तो वस्तुओं का ज्ञान कैसे सम्भव होगा? यदि इन्द्रियाधिष्ठान को इन्द्रिय मान लिया जाय तो बहरे या अन्धे होने पर इन्द्रियाधिष्ठान के होते हुए ज्ञान होना चाहिए पर होता नहीं है। इसीलिए इन्द्रियों का ज्ञान अनुमान प्रमाण द्वारा किया गया है, यथा–

'चक्षुर्बुद्ध्यादिकाः करणकार्याः क्रियत्वात् छिदिक्रियावत्' ।

अस्तु प्रत्यक्ष होने पर भी अप्रत्यक्ष विषय की यथार्थ जानकारी हेतु अन्य प्रमाणों की आवश्यकता है– यह निर्विवाद सिद्ध हुआ।

आयुर्वेद में प्रत्यक्षप्रमाण की उपयोगिता भले ही मनुष्य को आत्यन्तिक दुःखों से मुक्ति योग और मोक्ष से प्राप्त हो। योग और मोक्ष जीवात्मा का सभी

दुःखों से, सभी कालों के लिये मुक्त करते हैं। किन्तु तात्कालिक दुःख से मुक्ति के लिये आयुर्वेदशास्त्र रोगों का निदान करके उसका उपचार करता है। लम्बे समय में प्राप्त होने वाले विधियों के भरोसे नहीं बैठता। रोग निदानार्थं प्रत्यक्षप्रमाण का आयुर्वेद में काफी महत्त्व है; कहा है–

'प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरीर गतान् परीक्षेत अन्यत्र रसज्ञानात्' ।

प्रत्यक्ष के द्वारा रोग की परीक्षा करने की इच्छा वाले वैद्य को चाहिए कि वह अपनी सभी इन्द्रियों द्वारा (रसनेन्द्रिय को छोड़कर) रोगी के शरीर में रहने वाले सभी इन्द्रियार्थों की परीक्षा करें।

कान द्वारा परीक्ष्य विषय

कुछ ऐसे लक्षण है, जिनका पता वैद्य अपने कानों के उपयोग से प्राप्त करता है। जैसे– आंतों का बोलना, सन्धि और अंगुलि–पर्वों का फूटना, स्वरभेद– ये और अन्य भी जो इस शरीर में होने वाले शब्द हों उन सभी की परीक्षा कान से करनी चाहिए। आधुनिक युग में चिकित्सक स्टेथेस्कोप का प्रयोग श्रोत्र प्रत्यक्ष ज्ञान के विस्तार हेतु करते हैं। फुप्फुस–ध्वनि, हृदय–ध्वनि, अन्त्रकूजन आदि की परीक्षा स्टेथेस्कोप से भलीभाँति हो जाती है।

आँखों द्वारा परीक्ष्य विषय

रोगी का वर्ण, आकार, प्रमाण, छाया–इनकी शरीर में स्वाभाविक अवस्था या विकृत अवस्था जो भी कोई नेत्र के विषय हों या जो यहाँ नहीं कहा है उन सबकी परीक्षा क्षेत्र से करनी चाहिए।

घ्राण द्वारा परीक्षा : रोगी के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हुए स्वाभाविक या विकृत गन्धों की परीक्षा नाक से करनी चाहिए ।

स्पर्श द्वारा परीक्षा : प्रकृति और विकृति से युक्त स्पर्शन परीक्षा हाथ से करनी चाहिए।

रुग्ण–परीक्षा के अतिरिक्त औषधि द्रव्य की परीक्षा भी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष की जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्यक्षप्रमाण का आयुर्वेद में काफी महत्त्व है।

प्रश्न : कुछ रोग के लक्षण इतने सूक्ष्म होते है कि वो हमारे इन्द्रियों के पकड़ में नही आते, इस स्थिति में आयुर्वेद द्वारा मान्य सिद्धान्त अनुपायोगी हो सकता है।

उत्तर : इस समस्या के सामाधान के दो पक्ष प्राप्त होते है। 1. चरक ने वैद्य के नेत्र को दो नेत्रों का सम्मेलन माना है, क. उसका शारीरिक और स्वस्थ नेत्र, ख. तपोमूलक तथा दिव्य नेत्र। 2. दूसरा पक्ष यह है कि हम विविध यंत्रादि का प्रयोग करके हम प्रत्यक्ष ज्ञान में विस्तार कर लें। आजकल नेत्रों की दुर्बलता में चश्में का प्रयोग, हियरिंग यंत्र, एक्स–रे, अल्ट्रा सोनाग्राफी इत्यादि का प्रयोग किया जा रहा है।

अनुमान द्वारा परीक्ष्य विषय

रोगी के शरीर में उत्पन्न जिल्ला इन्द्रिय के विषय रस का ज्ञान अनुमान द्वारा करना चाहिए। इसे प्रत्यक्ष रूप से करना उचित नहीं। इसलिए रोगी से पूछ कर यह जानना चाहिए कि रोगी के मुख का स्वाद कैसा है। जुएँ, लीख आदि जन्तु शरीर से यदि अलग हो जायें तो समझें कि शरीर का रस विकृत हो गया है। मक्खियों के शरीर पर अधिक बैठने से शरीर का रस मीठा हो

गया है ऐसा समझे। रक्तपित्त का सन्देह होने पर क्या यह शुद्ध रक्त है या रक्तपित्त का रक्त है, यह जानने के लिए उसे अन्न में मिलाकर कुत्ता या कौवा को खाने के लिए दे दें। यदि वे उसे ला जायें तो शुद्ध रक्त और यदि न खाये तो रक्तपित्त का रक्त ऐसा अनुमान करना चाहिए। इसी प्रकार रोगी के शरीर में अन्य रसों की परीक्षा अनुमान द्वारा की जानी चाहिए। आजकल रासायनिक परीक्षण द्वारा यह परीक्षा की जाती है।

युक्ति सापेक्ष आयुर्वेद में लक्षण को देखकर रोग का युक्ति द्वारा निर्धारण करने की प्रक्रिया में अनुमान का प्रयोग किया जाता है। अनुमान प्रक्रिया त्रिकालिक होता है। व्यायाम करते हुए शरीर को देखकर शक्ति का अनुमान वर्तमानकालिक है। गर्भ को देखकर मैथुन का अनुमान भूतकालिक है। बीज और मिट्टी को साथ–साथ देखकर इसमें से पौधा उगेगा भविष्कालिक अनुमान है। अनुमान में रोग के चिन्हों के आधार पर शरीर में रोग की उपस्थिति का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। वैद्य परामर्श और व्याप्ति ज्ञान के द्वारा अपनी अनुमान को पुष्ट करता है। आयुर्वेद में परामर्श शब्द का अर्थ सलाह, मंत्रणा, युक्ति और विचार के रूप में लिया जाता है। वहीं व्याप्ति सम्बन्ध का अर्थ दो घटनाओं को हमेशा साथ–साथ रहने के रूप में लिया जाता है।

vu|ekuçek.k dh mi;kfxrk

आयुर्वेद में अनुमानप्रमाण का सर्वाधिक उपयोग है, कारण है कि 'प्रत्यक्ष' जितना दिखलाई देता है उससे बहुत अधिक परोक्ष है, जिसका ज्ञान अनुमान द्वारा किया जाता है। जिन इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वे इन्द्रियाँ स्वयं अप्रत्यक्ष हैं, जिन्हें अनुमान से जाना जाता है।

'प्रत्यक्षं ह्यल्पमपम प्रत्यक्षमस्ति. यदागमानुमानयुक्तिरुपलभ्यते।
येरेव तावदिन्द्रियः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि'च0सू0 11/7

आयुर्वेद में मुख्यतः तीन प्रमाण माने गये हैं– प्रत्यक्ष अनुमान तथा आमो पदेश। प्रत्यक्षज्ञान की सीमा थोड़ी है और आतोपदेश भी सीमित है, अस्तु अनुमान ही एक ऐसा प्रमाण है जिसके द्वारा प्रत्यक्ष तथा आप्तोपदेश की पहुँच के बाहर के विषयों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

रोग ज्ञान में अनुमान द्वारा गूढलिङ्ग (जिनका लक्षण रहस्यमय और अव्यक्त है) व्याधियों की परीक्षा की जाती है। पुनर्जन्म के समर्थन में भो अनुमानप्रमाण का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आयुर्वेद में अनुमानप्रमाण का पर्याप्त उपयोग किया गया है। आयुर्वेद के सभी आचार्यों ने अनुमान को निदान और चिकित्सा के क्षेत्र में विशिष्ट महत्त्व दिया है और उसे त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का साधक कहा है।

'kCn i|ek.k dk Lo:i rFkk y{k.k

आयुर्वेद चिकित्सापद्धति में संहिता ग्रन्थों तथा अनुभवी और योग्यवैद्य के कथन को शब्द प्रमाण के रूप में माना जाता है। योग्यवैद्य कौन है? इस प्रश्न पर चरकसंहिता में निम्नवत् विचार किया हैं। इसे पढ़कर आप उत्तमवैद्य की परिकल्पना को समझ सकते हैं–

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा।।

आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः।।

अर्थात् जो अपनी तपस्या एवं ज्ञान के बल से जो रज और तम से मुक्त हो गये हैं, जिनको सदा भूत–भविष्य वर्तमान इन तीनों कालों का ज्ञान निर्वाध रूप से होता रहता है और जिनकी ज्ञानशक्ति कभी भी नहीं रुकती, ऐसे व्यक्तियों को आप्त, शिष्ट और विबुद्ध कहा जाता है। ऐसे आमपुरुषों के वचन या उपदेश सन्देहरहित (सत्य) होते हैं। वे आसपुरुष रज और तम से शून्य होने के कारण सदा सत्य ही बोलते हैं। रज और तम से शुन्य होने के कारण वे असत्य बोलेंगे ही क्यों? चरकसंहिता में यह स्पष्ट लिखा है कि योग्यवैद्य की वाणी प्रमाण के रूप में स्वीकार करनी चाहिए। 'तत्राप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम्। आप्ता हावितर्कस्मृतिविभागदो निष्प्रीत्युपतापदशनश्च। तेषामेबंगुणयोगाद् यद् वचनं तत् प्रमाणम्। अप्रामाण पुनमंतोन्मत्त मूर्ख रक्तदुष्टदुष्टवचनमिति।'

यहां पर आप्तपुरुष का तात्पर्य आयुर्वेद का ज्ञाता या वैद्य से लिया जाता है। इनके वचनों को आप्तोपदेश कहा जाता है। आप्तपुरुष तर्क से रहित अर्थात् निश्चित ज्ञान वाले, स्मरणशक्ति–सम्पन्न तथा कार्य और अकार्य के विभाग को जानने वाले होते हैं, जो किसी भी प्राणी के प्रति प्रीति–उपताप अर्थात् राग–द्वेष से रहित हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों को आप्त माना जाता है। वे इन गुणों से युक्त होने के कारण जो वचन कहते हैं वह प्रमाण माना जाता है और मतवाले, पाग, मूर्ख का वचन वह चाहे दुष्ट हो अथवा अदुष्ट हो तो भी अप्रमाण माना जाता है। आपको स्मरण दिला दें कि इसी प्रकार की बातें नहीं न्यायदर्शन के ग्रन्थ 'न्यायवार्तिक' में भी शब्दप्रमाण के बारे में कहा गया है। न्यायवार्तिक का कथन है–'आप्तोपदेशः शब्दः'।

अतः स्पष्ट है किसी आप्तपुरूष के उपदेश को शब्द कहते हैं। आप्तजन साक्षात्कृतधर्मा होते हैं तथा यथादृष्ट विषयों का दूसरों को ज्ञान करने की इच्छा से उपदेश करते हैं।

आप्तोपदेश भी दो प्रकार के होते हैं– (1) लौकिक (2) अलौकिक। लौकिक आप्तोपदेश लौकिक पुरूषों के वाक्य होते हैं, जबकि अलौकिक आप्तोपदेश श्रुति या वेद के वाक्य होते हैं। इसे ही वैदिक आप्तोपदेश भी कहते हैं।

चरकसंहिता के भाष्यकार चक्रपाणि ने अलौकिक आप्तोपदेश वेदादि को ही 'ऐतिह्य' शब्द से कहा है।

'अलौकिकाप्तोपदेश ऐतिह्यपदेनोच्यते'। – चक्रपाणि

वेदादि का तात्पर्य यहाँ वेद के अतिरिक्त आदि अर्थात् स्मृति–पुराणादि सहित भारतीय परम्परा के अन्य ग्रन्थों को ग्रहण करना चाहिए। शब्द प्रमाण के बाद हमें उपमान की उपयोगिता भी जान लेनी चाहिए।

ऐतिह्यप्रमाण

जैसा कि ऊपर वर्णन कर आये हैं कि 'ऐतिह्य' का अर्थ होता है– 'ऐसा ही निश्चयपूर्वक कहा है बड़ों ने।' यह तो इसका शाब्दिक अर्थ हुआ। बड़ों के वाक्यों को ही ऐतिह्य प्रमाण माना गया है। वास्तव में ऐतिह्य एक परम्परा है, जो वंशानुक्रम से अतीत काल से चला आ रहा है। यह कैसे आया तथा इसकी परम्परा कब से चली आ रही है– यह बतलाना मुश्किल है। इसके कारण का कोई पता नहीं चलता। हमारी बहुत–सी धारणाएँ एवं मान्यताएँ

इसी अतीतकाल से चली आ रही परम्परा पर ही अवलम्बित है। पौराणिक लोग इसे भी प्रमाण के रूप में स्वीकार करते है। लेकिन नैयायिक इसे स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार यह एक प्रकार का 'शब्द' है, परन्तु शब्द 'प्रमाण' नहीं है, क्योंकि यह क्या मालूम कि– परम्परागत उपदेश आप्त द्वारा ही वर्णित है। फिर भी इस परम्परागत ज्ञान को ऐतिह्य प्रमाण के अन्तर्गत मान लिया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐतिह्य प्रमाण के अन्तर्गत 1. अलौकिक आप्तोपदेश (वेद), 2. स्मृति–पुराणादि तथा 3. परम्परागत ज्ञान–इन तीनों का समावेश कर लिया जाता है।

'अथैतिह्यम्–ऐतिह्य नामाप्तोपदेशो वेदादिः'।

अर्थात् आप्तों के जो उपदेश हैं, उन्हें ऐतिह्य कहते हैं, जैसे– वेद, स्मृति, पुराणादि।

2-6 mieku dh mi;kfxrk

आयुर्वेद में उपमान की उपयोगिता पग पर देखने को मिलती है। यथा–

1. रोगों के कारण निदान में उदाहरण किसी कारणवश किसी व्यक्ति को कोई रोग हो गया हो और वही रोग जब दूसरे व्यक्ति को हो जाता है, तब उस दशा में रोग का कारण निश्चित करने में उपमान का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ता है कि जिस प्रकार उस व्यक्ति को यह रोग किसी पदार्थ विशेष या मिथ्या आहार–विहार के सेवन से हुआ था, उसी प्रकार इस व्यक्ति के रोग का कारण भी वही पदार्थ या आहार–विहार है। यह कारण–ज्ञान उपमान के आधार पर ही किया जाता है।
2. रोग का ज्ञान या निदान (क्पंहदवेपे) भी उपमान द्वारा होता है। जैसे– दण्डक रोग का दण्ड से एवं धनुस्तम्भ ज्ञान होता है। धनुष के सादृश्य से ज्ञान होता है।
3. रोग–चिकित्सा में बढ़े हुए दोषों को घटाने और जीण दोषों को बढ़ाने के लिए वैधर्म्य और साधम्य ज्ञान का महान् योगदान अपेक्षित है। दोष और रोग के विपरीत देश, काल और औषधि का प्रयोग हितकर होता है तथा रोग और दोष के साथ सादृश्य रखने वाले देश, काल, आहार और बिहार तथा औषधि का प्रयोग अहितकर होने से नितान्त परित्याज्य है। इस प्रकार आयुर्वेद चिकित्सा में सदृश और विसदृश ज्ञानोपार्जन के लिए 'उपमान' की अत्यन्त उपयोगिता देखने में आती है। स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोगी की चिकित्सा इन दोनों ही क्षेत्रों में सामान्य और विशेष की महत्ता को स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निदान, रोग–विज्ञान तथा चिकित्सा में सभी स्थानों पर उपमानप्रमाण की ही उपयोगिता है।

2-7 lkjka'k

प्रिय विद्यार्थियों आप आयुर्वेद तथा आयुर्वेद में प्रमाणों का अनुप्रयोग विस्तारपूर्वक पढ़ चुके हैं। अब यहां संक्षेप में हम आपको भारतीय चिकित्साविज्ञान ने प्रमाणों के अनुप्रयोग को बताने जा रहे है। आप अब यह जान चुके हैं कि आयुर्वेद न केवल भौतिक शरीर, बल्कि उसमें अन्तर्निहित अभौतिक शरीर अर्थात् परमसूक्ष्म भौतिक शरीर का अध्ययन करता है। ज्ञान की वस्तु सूक्ष्मतर होने पर हमें प्रत्यक्ष के अलावा अन्य प्रमाणों को स्वीकार

ही करना पड़ता है। इसीलिये आयुर्वेद में भी प्रत्यक्षप्रमाण के उपयोग के साथ साथ अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति तथा शब्दप्रमाण का भलिभाँति उपयोग होता है। रोग के लक्षणों की परीक्षा तथा औषधियों के औषधि गुणों के अनुसंधान में प्रमाणसिद्धान्त का उपयोग हुआ है। इस तथ्य की जानकारी हमें आयुर्वेद के ग्रन्थों से ही हो जाती है। वे ज्ञान जिनसे हमारा दैनिक जीवन व्यवहार चलता है, वहां तो प्रत्यक्ष प्रमाण प्रमुख है। किन्तु आयुर्वेद में रोग के लक्षण परीक्षण में तो प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान का उपयोग वैद्य साधन के रूप में करता है। श्रेष्ठ प्रमाण स्वयं वैद्य और वैद्य का ज्ञान है। जिसे वह शब्दप्रमाण से प्राप्त करता है। इस प्रकार से आयुर्वेद भारतीय ज्ञानपरम्परा के प्रमाणमीमांसीय सिद्धान्तों का उपयोग करते हुए अपने को समृद्ध करता रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चरक तथा सुश्रुत का यह दावा कि आयुर्वेद में जो कुछ भी कहा गया है, वह सभी प्रमाणों की कसौटी पर खरा या सत्य उतरने के बाद ही कहा गया है – आयुर्वेद की सत्यता को तथा प्रमाण की महत्ता को स्पष्ट करते हुए– सत्य एवं यथार्थ है।

2-8 ikfjHkkf"kd 'kCnkoyh

युक्ति : युक्ति के शाब्दिक अर्थ– ठीक तर्क, उपाय, तरकीब, ढंग, चातुरी, उचित विचार, दलील, किसी समस्या के समाधान आदि हैं।

पंचम वेद के रूप में आयुर्वेद : आयुर्वेद का इतिहास ठीक ठीक ज्ञात नहीं है। चरक, सुश्रुत, काश्यप एवं वाग्भट्ट आदि आचार्यों ने आयुर्वेद का उपवेद माना है। ब्रह्मवैतर्त पुराण में आयुर्वेद को पंचम वेद कहा गया है क्योंकि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है तथा स्वतन्त्र वेदांग के रूप में पुण्यतं वेद है। इसलिये आयुर्वेद को पंचम वेद भी कहा जाता है।

'प्राणाभिसर' वैद्य : जो जाते हुए प्राण को लौटा दे।

चरकसंहिता : आयुर्वेदशास्त्र का प्राचीन ग्रन्थ जो महर्षि चरक द्वारा उपदेशीत है। इस संहिता का निर्माण कालक्रम के आधार पर तीन स्तर में हुआ है– क. अग्निवेश (उपनिषत्काल : 1000 ई0पू0), ख. चरक (शुगकाल : द्वितीय शताब्दी ई0 पू0), ग. दृढ़बल (गुप्तकाल : चौथी शताब्दी)। चरकसंहिता में आयुर्वेद के सिद्धान्तों का वर्णन है।

हेमन्तऋतु : भारतीय महाद्वीप में छः ऋतुएँ (मौसम) पाई जाती है। जिनका नाम है– बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शीशीर, शरद, हेमन्त। इन छहों ऋतुओं में से हेमन्त ऋतु मध्य जनवरी से मध्य मार्च तक पाया जाता है।

आप्तपुरूष : वह अनुभवी व्यक्ति जिसकी बातों को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है, उसे आप्तपुरूष कहा जाता है। चरक के अनुसार वह वैद्य जिसने अपने शारीरिक नेत्र के साथ–साथ तप के द्वारा तपनेत्र तथा दिव्यनेत्र को प्राप्त कर लिया है, उसे आप्तपुरूष कहा जाता है।

2-9 lUnHkZxzUFk lwph

1. चरक संहिता, सम्पादक– आचार्य विद्याधर शुक्ल तथा रविदत्त त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली।
2. पदार्थ विज्ञान, हीरालाल आर शिवहरे, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

2-10 ck/k i'u

1. रोग के लक्षण की खोज करने के लिये किन किन प्रमाणों का प्रयोग किया जाता है? विस्तार में विवेचन किजिए।
2. अनुमान प्रमाण केवल तर्क और युक्ति पर आधारित नही है बल्कि अनुमान प्रक्रिया में प्रत्यक्ष वस्तुएँ सम्मिलित होती है, यही कारण है कि अनुमान प्रक्रिया से हमें वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्राप्त होता है। इस तथ्य का विवेचन अपने शब्दों किजिए।
3. आयुर्वेदशास्त्र में सभी प्रमाण श्रेष्ठ है, किन्तु प्रमाण सर्वश्रेष्ठ है। इस कथन की परीक्षा किजिए।
4. आयुर्वेदशास्त्र के द्वारा हमें लौकिक तथा पारलौकिक उपलब्धियाँ प्राप्त होती है। इस कथन की परीक्षा किजिए।

इकाई. 3 विधि शास्त्र में प्रमाणों का अनुप्रयोग

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 विधिशास्त्र में प्रमाणिक सिद्धान्त का उपयोग
3.4 सन्देह निराकरण में प्रमाणों का प्रयोग
3.5 न्याय की प्रक्रिया
3.6 सारांश
3.7 पारिभाषिक शब्दावली
3.8 सन्दर्भग्रन्थ सूची
3.9 बोधप्रश्न

3.1 प्रस्तावना

आधुनिक कानूनी प्रणाली को संचालित करने के लिए तर्क, विधि, और न्यायप्रणाली आदि के माध्यम से प्रमाणों का अनुप्रयोग किया जाता है। कानूनविज्ञान का आधार वैध और प्रमाणित ज्ञान होता है जो न्यायिक निर्णयों की गुणवत्ता और सत्यता को सुनिश्चित करता है।

हिन्दू विधि व्यवस्था केवल विधि शास्त्रों में वर्णित विधि या विधिवेत्ताओं का निर्णय या किसी विशेष वर्ग, अनुशंसा, उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं है। प्रमाणों का अनुप्रयोग प्रमाणसिद्धान्त न्यायशास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों में से एक है। न्यायशास्त्र में यह सिद्धान्त उदाहरण और तर्कों के माध्यम से न्यायिक निर्णयों की वैधता और सत्यता को सुनिश्चित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। यहां कानूनविज्ञान के सन्दर्भ में प्रमाणसिद्धान्त का अनुप्रयोग हमें नियमों, विधियों, गवाहों, साक्ष्य, युक्तियों आदि के माध्यम से सन्दर्भ प्रमाणों का उपयोग करके कानूनी निर्णयों की प्रामाणिकता और वैधता को सुनिश्चित करता है।

इस ईकाई में भारतीय विधि व्यवस्था, उसके प्रमुख अवयव, उन अवयवों का लोकातान्त्रिक स्वरूप और विधि की स्थापना, निर्णयन तथा कार्यान्वयन में प्रमाणों के प्रयोग का वर्णन किया गया है। इसके पढ़ने के उपरान्त आप प्रमाण सिद्धान्त और विधि व्यवस्था के मध्य अन्तःसम्बन्ध को समझते हुए भारतीय विधि व्यवस्था के वैशिष्ट्य से जुड़े हुए प्रश्नों का उत्तर देने में सक्षम हो सकेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप—

- प्राचीन भारतीय विधिक प्रक्रिया में अनुप्रयुक्त प्रमाणों का उपयोग समझ सकेंगे।
- प्रत्यक्ष प्रमाण की ज्येष्ठता को स्वीकार करते हुए अपराध की मीमांसा में पारदर्शिता को लाने के लिये अन्य प्रमाणों को सहायक रूप में प्रयोग किया जाता है। इस तथ्य से परिचित हो सकेंगे।
- स्थूल से लेकर सूक्ष्म विषयों पर विचार किया जाता है, करने हेतु भारतीय विधिव्यवस्था में भी प्रत्यक्ष से लेकर अर्थापत्ति तक के प्रमाणों को उपयोग किया जाता है।

3-3 fof/k'kkL= e: iek.k fl)kUr dk mi;kx

पश्चिमी तर्कशास्त्र के अनुसार विधिशास्त्र का सम्बन्ध आगमन की समस्या से जुड़ी है पश्चिमी विचारकों ने समाज विज्ञान पर कार्य करते हुए आगमन की समस्या को कैसे सुलझाया है? दर्शन में यह बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या है। यहाँ की ज्ञान मीमांसा में आगमन की समस्या का क्या समाधान है तथा भारतीय ज्ञानमीमांसा में इसका क्या स्वरूप है इसके भेद को समझ प्रत्यक्ष और अनुमान का प्रयोग समाज विज्ञान में कैसे करें! प्रत्यक्ष भारतीय दर्शन में विभिन्न–विभिन्न दृष्टियों से विकसित किया गया है।

विधिप्रक्रिया की मूल समस्या प्रामाण्य की समस्या है कि जिन प्रमाणों, साक्ष्यों तर्को के आधार पर निर्णय या निर्णय सम्बन्धी सिद्धान्त देना है, उसकी प्रमाणिकता है कि नहीं और इसकी प्रमाणिकता कैसे सिद्ध होगी? प्रमाणिकता को लेकर भारतीय दर्शन में कई प्रमाण्यवाद का विकास हुआ है।

चूंकि प्रामाण्य की जिज्ञासा समस्या ज्ञान के स्वरूप को लेकर नहीं होती बल्कि ज्ञान के विषय को लेकर होती है। भ्रमात्मक ज्ञान भी अपने स्वरूप को जानता ही है ज्ञान के विषय को लेकर जिज्ञासा होती है। ज्ञान किसी भी प्रेक्षावान व्यक्ति की प्रेक्षित वस्तु की प्राप्ति का साधन है। इसलिये ज्ञान मात्र को व्यवहार का निमित्त कारण है। ज्ञान के बिना व्यवहार सम्भव नहीं। ज्ञान प्रमाणिक नही ंतो व्यवहार में धोखा होगा। इसलिए जरूरी है कि हम प्रामाणिक ज्ञान की खोज करें प्रामाणिक ज्ञान के स्वरूप को निश्चित करना होगा।

प्राचीन काल से ही भारत में समाज को नियंत्रित एवं विधि अनुकूल व्यवहार में रखने हेतु अनेक शास्त्रीय विधान बनाये गये। स्मृतियों में स्पष्ट रूप से विधिप्रक्रिया का वर्णन उपलब्ध है। विधिप्रक्रिया के अन्तर्गत न्यायिक प्रक्रिया, विधिशास्त्र, न्यायिक संस्थाऐं इत्यादि आते हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति के व्यवहाराध्याय में न्यायिक प्रक्रिया का वर्णन प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में न्यायिक प्रक्रिया को व्यवहारमातृका कहा जाता है। व्यवहारमातृका के अन्तर्गत समाज में दण्डव्यस्था सुव्यवस्थित किया जाता है। उदाहरण स्वरूप जब किसी व्यक्ति के आचरण से कोई व्यक्ति पीड़ित होता है, और यदि उस व्यक्ति का आचरण संदिग्ध हो, तो पीड़ित व्यक्ति राज्य द्वारा बनाये गये न्यायिक संस्था (परिषद्) में आवेदन कर सकता है। आवेदन करने वाले पक्षकार को 'वादी' कहते हैं जिसके विरूद्ध 'वादी' परिषद् में प्रतिवेदन करता है, उसे 'प्रतिवादी' कहते हैं। वादी और प्रतिवादी के मध्य हुए न्यायिक प्रक्रिया में प्रमाणसिद्धान्त का अनुप्रयोग महत्वपूर्ण है। जब वादी प्रतिवादी के विरूद्ध प्रतिवेदन करता है, तो प्रतिवेदन के स्वरूप, प्रतिवादी के उत्तर तथा न्यायिक प्रक्रिया की संरचना– ये सभी प्रमाणों पर आधारित होते है।

- न्यायालयों में प्रमाण प्रमाणसिद्धान्त के अनुसार, न्यायालयों में प्रमाण का महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यहां गवाहों के द्वारा साक्ष्य, दस्तावेजों का प्रमाण, तर्क आदि के माध्यम से न्यायिक निर्णयों की वैधता और सत्यता का निर्धारण किया जाता है।
- विधियों के अनुप्रयोग कानूनविज्ञान में विधियाँ प्रमाणसिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण हिस्सा होती हैं। यहां न्यायिक निर्णयों की वैधता और सत्यता के लिए विधियों का प्रमाण उपयोग किया जाता है। विधियों के माध्यम से न्यायिक प्रक्रियाओं में नियमितता और न्याय को सुनिश्चित किया जाता है।
- युक्तियों का अनुप्रयोग प्रमाणसिद्धान्त के द्वारा कानूनविज्ञान में युक्तियों का अनुप्रयोग किया जाता है। युक्तियाँ (Logical Reasoning) के माध्यम से न्यायिक निर्णयों की वैधता और सत्यता को समर्थित करने में मदद करती हैं। यहां तर्क, न्याय, निर्णय और न्यायिक प्रक्रियाओं में युक्तियाँ का प्रमाणसिद्धान्त प्रयोग होता है।

प्रश्न : न्यायिक प्रक्रिया में प्रमाणों का प्रयोग किस प्रकार से होता है?

उत्तर : न्यायिक प्रक्रिया के किसी मामले में वादी और प्रतिवादी को अर्थी एवं प्रत्यर्थी भी कहा जाता है। प्रत्यर्थी को अभियुक्त कहात जाता है तथा वादी को अर्थी एवं अभियोक्ता कहा जाता है। वादी का शिकायत तभी मान्य होता

है, जब शिकायत लिखित प्रतिवेदन में हो। वादी के प्रश्न के अनुसार प्रतिवादी के उत्तर भी लिखित ही लिया जाता है। वादी के प्रश्न के अनुसार प्रतिवादी को उत्तर देना होता है। प्रतिवादी के उत्तर के बाद न्यायालय द्वारा यह निर्णय लिया जाता है कि किस प्रकार के उत्तर दिये गये है। उत्तर चार प्रकार के होते हैं– 1. सत्योत्तर, 2. मिथ्योत्तर, 3. कारणोत्तर, 4. प्रांगन्याय। प्रतिवादी के उत्तर लिखने पर वादी अपने पक्ष में प्रमाण उपस्थित करता है। प्रमाण उपस्थापक के विभाग को क्रिया कहा जाता है। उत्तर मिलने पर राजा एवं राजा का प्रतिनिधि (प्राणविवाक) आवेदन को भाषा कहा जाता है। इस प्रकार

न्यायिक प्रक्रिया के चरण

बृहस्पति के अनुसार न्यायिक प्रक्रिया के विभिन्न चरण इस प्रकार है–

पूर्व ⟹ **उत्तरपक्ष** ⟹ **क्रियापक्ष** ⟹ **निर्णयपूर्व**

विवाद स्थल पर न्यायिक प्रक्रिया का जन्म होता है, जिसका प्रथम चरण पूर्व है। पूर्व के अन्तर्गत वादी द्वारा न्यायपालिका के समक्ष लिखित याचिका का विषयवस्तु प्रस्तुत होता है, जिसके अन्तर्गत नाम, शिकायत, समय इत्यादि सन्दर्भित किये जाते हैं। पूर्व के अन्तर्गत विपक्षी का भी नाम, काल, वर्ष, मास, तिथि, देश इत्यादि सन्दर्भित किये जाते हैं।

उत्तरपक्ष

इस चरण में व्यक्ति प्रतिद्वन्द्वी के स्थिति के जबाव में अपना दृष्टिकोण या तर्क प्रस्तुत करता है।

क्रियापक्ष

इस चरण में प्रतिद्वन्द्वी के स्थिति के जबाव, तर्क को मान्य या अस्वीकृत करने के लिये विभिन्न तरीकों, उपकरणों या तकनीकों पर चर्चा किया जाता है। चर्चा के बाद इनका प्रमाणसम्मत अनुप्रयोग होता है।

निर्णय

निर्णय न्यायिक प्रक्रिया का अन्तिम चरण है। यहाँ पर लिखित तर्कों की व्याख्या के आधार पर निष्कर्ष प्राप्त किया जाता है।

न्यायिक प्रक्रिया में प्रमाण

न्यायिक प्रक्रिया में प्रमाणों को कानूनी कार्यवाही के दौरान प्रस्तुत की जानकारी व सबूतों को सुनिश्चित कर संदेह निर्धारण व दण्ड निर्धारण के लिये प्रयोग में लाया जाता है।

प्रत्यक्ष

गवाह की गवाही, भौतिक साक्ष्य व इन्द्रियों द्वारा देखी चीजे इस प्रमाण के अन्तर्गत आती है।

अनुमान

वकील व न्यायाधीश ज्ञात तथ्यों से लेकर अज्ञात तथ्यों तक तर्क व अनुमान के आधार पर निष्कर्ष निकालते हैं।

उपमान (सादृश्य)

जब किसी स्थिति पर कोई स्पष्ट प्राथमिकता या कानून लागू नही होता तो, न्यायाधिश निर्णय के लिये समान मामलों या सिद्धान्तों को सादृश्य बना लेता है।

शब्द (गवाही)

ग्वाहों की गवाही या विश्वसनीय विशेषज्ञ राय को अक्सर ज्ञान का वैध स्रोत माना जाता है।

अर्थापति (अनुमान)

कुछ तथ्यों या स्थितियों के बारे में अनुमान तार्किक या परिस्थितिजन्य साक्ष्य के आधार पर बनाये जाते हैं।

अनुपलब्धि (गैर–आशंका)

किसी वस्तु के उपस्थित होने की अपेक्षा न होना भी प्रमाण है।

विधिप्रक्रिया में प्रमाणों के अनुप्रयोग को निम्न तालिका के माध्यम से समझ सकते हैं–

प्रयुक्त प्रमाण	आधार	विधि में प्रयोग
प्रत्यक्ष	इन्द्रिय सन्निकर्ष	साक्ष्य निर्धारण
अनुमान	व्याप्ति–सम्बन्ध	साक्ष्य निर्धारण तथा निर्णय
उपमान	सादृश्य ज्ञान	साक्ष्य निर्धारण
अनुपलब्धि	अभाव ज्ञान	साक्ष्य निर्धारण
अर्थापत्ति	अर्थ	विधिव्याख्या एवं साक्ष्य निर्धारण का ज्ञान
शब्द	आप्तता	वाद पत्र तथा साक्षी का मानक

विधिशास्त्र में प्रमाण–सिद्धान्तों का मूलरूप से प्रयोग निम्नरूपों में होता है–

i. साक्ष्य में प्रत्यक्ष को श्रेष्ठ प्रमाण के रूप में उपयोग

ii. अर्थ निर्धारण तथा हेतु निर्धारण में अनुमान का प्रयोग खासकर घटना के अदृष्ट कारणों की मीमांसा में अनुमान के व्याप्ति सिद्धान्त का उपयोग

iii. कानून के वाक्यों को अर्थ निर्धारण में मीमांसा–दर्शन में प्रतिपादित न्यायों का उपयोग किया जाता है। मुख्यरूप से दो न्याय समन्वित होते हैं। पहला प्रकरण रूपी सन्दर्भ न्याय तथा दूसरा असळजात विरोधी न्याय का उपयोग होता है।

उदाहरण स्वरूपः– मनुस्मृति में स्त्रियों सम्बन्धि आचार का प्रावधान का उक्त न्याय का उपयोग नहीं करने विवादित अर्थ की प्राप्ति होती है। श्लोक के चतुर्थ चरण के रूप में विद्यमान इस वाक्य का पूर्ववर्ती तीनों वाक्यों के आलोक में आलोचना करने पर ‘स्त्रियों को हमेशा सुरक्षित रहना चाहिए अर्थात् स्त्रियों की समुचित सुरक्षा की जानी चाहिए इस विवादित अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। पूरा श्लोक द्रष्टव्य है–

पिता रक्षति कौमारे यौवने पतिः रक्षति।
पुत्राः रक्षन्ति वार्द्धक्ये न स्त्री स्वातन्त्र्यर्महति।।

उपसंहारात्मक इस वाक्य में स्वतन्त्र्य रूपी अर्थ के अभावात्मक परतन्त्र अर्थ को छोड़कर वाक्य का रक्षित के अभावात्मक स्वरूप वाला ”असुरक्षित नहीं रहना चाहिए“ ऐसा क्यों माना जाय? इस प्रश्न के समाधान के लिए द्वितीय असळजात विरोधी न्याय को मानना आवश्यक है।

असळजात विरोधी न्याय के अनुसार पूर्व पदार्थ उत्तरवर्ती पदार्थ से प्रबल होता है। इसलिए भूमिकात्मक वाक्यो के साथ विरोध होने पर उपसंहारात्मक वाक्य में स्वरूप परिवर्तन किया जाता है। इसीलिए यहीं पर पूर्ववर्ती तीनों

वाक्यों में रक्षित शब्द होने से चतुर्थ वाक्य के स्वतन्त्र को 'गुणे त्वन्यायकल्पनात्' नियम से रक्षित शब्द में बदला जाता है तथा आगे विद्यमान नञर्थ के साथ समन्वय करके अरक्षित नहीं रहना चाहिए, अर्थात् सदा सुरक्षित रहना चाहिए।

मीमांसाशास्त्र के इस बर्हिन्याय के आधार पर ही सर्वत्र परतन्त्र वाक्यों के अर्थ निर्धारण में सन्दर्भरूपी प्रकरण के अवलोकन की अनिवार्यता मानी गयी है।

वाक्यार्थ निर्णय में सन्दर्भ रूपी प्रकरण की अवलोकन की अनिवार्यता सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय में भी मानी गयी है। सर्वोच्च न्यायालय ने उत्तर प्रदेश भूदान यज्ञ समिति तथा उद्योगपति बृजकिशोर के बाद में इसे स्पष्ट किया है। प्रकरण यह था कि बृजकिशोर नाम के उद्योगपति ने उसके पास भूमि न होने के आधार पर उत्तर प्रदेश भूदान यज्ञ समिति से भूमि की मांग की। उसकी मांग अस्वीकृत हो गयी। न्यायालय का तर्क था कि भूदान यज्ञ समिति का उपक्रम केवल भूमिहीनों के लिए नहीं है बल्कि भूमिहीन किसानों के लिए है। इस सन्दर्भ को बिना देखे भूमि की मांग की गयी है। अतः यह मांग सर्वथा अनुचित है। माननीय न्यायालय के इस निर्णय में मीमांसाशास्त्र का प्रयोग हुआ है।न्यायिक प्रशासन में दो मूलभूत सिद्धान्त क्रियाशील होते है– अपने वादे (Promises) के पूर्ण करना और किसी को क्षति न पहुँचाना। इनके उल्लंघन से विवाद प्रारम्भ होता है। बृहस्पति ने दो प्रकार का विवाद माना है– अर्थ और क्षति सम्बन्धी। याज्ञवल्क के अनुसार अर्थविवाद 14 प्रकार के है तथा हिंसावाद 4 प्रकार के है। बृहस्पति तथा नारद के अनुसार प्रत्येक न्यायिक प्रक्रिया में मुख्यतः चार पाद या अंग होते हैं–पूर्व, उत्तर, क्रिया और निर्णय। पाश्चात्य विचारक सामण्ड ने न्यायिक प्रक्रिया के 5 भेद बताये हैं– आह्वान (Summons), विचार (Puading), प्रमाण (Prof), निर्णय (Judgement) तथा कार्यान्वयन।

प्रश्न : क्या हिन्दू न्याय तन्त्र न्याय के मामले में पूर्णतः स्वायत्त है?

उत्तर : न्याय तन्त्र की स्वतन्त्रता हिन्दू प्रणाली की यह प्रमुख विशेषता है। न्याय तन्त्र संस्था तथा अपने विधि दोनों रूप में स्वतन्त्र था हिन्दू न्याय तन्त्र कार्यपालिका से न्यायपालिका को पृथक रखने वाला पहल न्याय व्यवस्था है। इसने इसे सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों रूप में लागू किया विनय पिटक के अनाथपिण्डक तथा जेतवन प्रकरण में इसका उज्जवल परिचय मिलता है। कथा में राजकुमार तथा सामान्य नागरिक अपनी फरियाद न्यायालय में ले जाते हैं तथा कोर्ट ने राजकुमार के विरूद्ध निर्णय दिया। राजकुमार ने इस अभियोग को स्वीकार किया क्योंकि राजकुमार भी कानून से बंधा हुआ है।

हिन्दू न्याय तन्त्र में जज/न्यायाधीश की नियुक्ति कानूनविद् करते थे। कानूनविद् जो धर्म की व्याख्या करते थे। कानूनविद् या विधि व्याख्याता ब्राह्मण होते थे। शतपथ ब्राह्मण तथा जातकों में यह तथ्य आया है कि ब्राह्मणों का विभाजन दो वर्गों में था– (1) पुरोहित–वर्ग तथा (2) मंत्री–वर्ग या बौद्धिक वर्ग।

3-4 lUng fujkdj.k e iek.kk dk i;kx

विधि–प्रक्रिया में पंचावयव याय द्वारा सन्देह का निवारण किया जाता

है। न्याय शब्द को तर्क के समानार्थी प्रयुक्त तो किया जाता है किन्तु यह पाश्चात्य तर्कशास्त्र के समरूप नहीं है। समाजिक ज्ञान व्यवहार के संज्ञानात्मक बोधों की पहचान और उसका उपयोग होता रहा है। उसमें संशय एवं विपर्यय प्रमुख हैं। संशय एवं विपर्यय को पहचान कर सत्य ज्ञान तक पहुंचा जाता है। विपर्यय– एक असत्य निर्णय है जो पहले तो सत्य के रूप में स्वीकार्य किया जाता है किन्तु वैध प्रमाणों के आधार पर इसकी असत्यता सिद्ध होने पर असत्य मान लिया जाता है।
कभी–कभी समाजिक जीवन में किसी घटना को लेकर जो संशय उत्पन्न होते हैं उसे लेकर कई निर्णय उत्पन्न होता है। जहां हम किसी एक निर्णय पर स्थिर नहीं हो पाते उस स्थिति को संशय कहते है। प्रमाण में अर्थविषयकत्त्व, असंदिग्धत्त्व और यथार्थत्त्व आवश्यक है।

3-5 U;kf;d ifØ;k

i. कोई विधिक प्रक्रिया बिना शिकायत के नहीं प्रारम्भ होती थी।

ii. केवल तथ्यगत समस्या पर विचार होता था।

साक्ष्य का नियम

लिखित

मौखिक एवं दृष्ट साक्ष्य का प्रभाव कम होता है। उसमें विस्मरण तथा उसके कारण अवान्तर असंगतियाँ प्रस्तुत होने लगती है। लेकिन लिखित प्रमाणों में इन भ्रान्तियों की अपेक्षा नहीं रहती। लेख्य प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं– राज्यलेख्य, स्थानकृत और स्वहस्तालिखित। राजा के सामने उसके द्वारा नियुक्त कायस्थ द्वारा लिखित, मध्यस्थ कर चिन्हित लेख्य को राजसाक्षिक या राजलेख्य कहा जाता है। राजा द्वारा नियुक्त कायस्थ द्वारा किसी महत्त्वपूर्ण स्थान पर लिखा और साक्षियों द्वारा प्रमाणीभूत स्थानकृत लेख है। अपने हाथ से लिखे हुए में राजा की मुद्रा या साक्षी की अपेक्षा कम पड़ती है। देशाचार के विरूद्ध लिखा हुआ लेख्य प्रमाण नहीं माना जाता। उसमें लेख्य के सभी नियमों का पालन होना आवश्यक है। उस पर उभय पक्षों का हस्ताक्षर, तिथि, स्थान, पिता–नाम, साक्षी–नाम आदि का उल्लेख अवश्य हो।

भुक्ति या भोग

गौतम ने उत्तराधिकार, विक्रय, विभाग, कब्जा (जंगली भूमि आदि जिस पर किसी का अधिकार नहीं रहता) और प्राप्ति (किसी अज्ञात व्यक्ति की खोयी वस्तु की प्राप्ति) से स्वत्व की स्थापना माना है।

साक्षी

लिखित और भुक्ति के अभाव में साक्षी का प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है। दण्डापराधविधि में साक्षी अधिक उपयुक्त प्रमाण है। विवाद के निर्णरू का विशेष आधार साक्षी पर निर्भर करता है। वादी के पक्ष को पूर्व सिद्ध मान लेने पर प्रतिवादी को साक्षी प्रस्तुत करना पड़ता है। वादी प्रतिवादी के भी साक्षी से अपना पक्ष सिद्ध करने का प्रयास करता है। साक्षी मर जाय या विदेश चला जाय तो उससे अभिहित साक्षी प्रमाण माना जा सकता है। यदि साक्षी उपस्थित होने की स्थिति में न हो तो 3 विद्वानों के सामने उसका साक्ष्य प्रमाणित कराया जा सकता है। स्वयं देखने एवं प्रामाणिक सूत्रों से सुनकर तथ्य प्रस्तुत करने वाले को प्रमाण माना जाता है। किंवदन्ति या

अप्रामाणिक स्रोतों से प्राप्त तथ्य वाले साक्षी को न्यायालय नहीं स्वीकार करता। अयोग्य साक्षियों को नारद ने पाँच भागों में विभक्त किया है– 1. ब्राह्मण, वृद्ध, तपस्वी, आदि किन्तु उन्हें साक्षी न होने का हेतु नहीं दिया। 2. चारे, डाकू, जुआड़ी आदि, 3. भेद–वक्ता–परस्पर विरोधी वचन बोलने वाला, 4. स्वयं नियुक्त अर्थात् किसी पक्ष से नियुक्त नहीं किया गया है किन्तु स्वयं उपस्थित हो गया और 5. मृत–साक्षों के गुण तो है किन्तु मृत है। इसमें नारद ने अपवाद भी दिया है।

साक्षी–परीक्षा

साक्षी का उभय पक्ष सम्मत होना आवश्यक है। व्यास का कहना है कि 'खुले न्यायालय में साक्षी पर लिखित रूप से आक्षेप किया जा सकता है और साक्षी उसकी सफाई प्रस्तुत करें'। आक्षेप स्वीकार करने पर साक्षी को साक्ष्य का अवसर नहीं मिलता और अन्य साक्षी प्रस्तुत करना पड़ता। यदि आक्षेप असत्य होते तो साक्षी को साक्ष्य प्रस्तुत करने का अवसर मिलता।

साक्षीयों में परस्पर मतभेद

यदि साक्षियों के मौखिक बयान में मतभेद होता है तो बहुमत जिस पक्ष में हो उसी की प्रमाण मानना चाहिए। यदि संख्या समान है तो विद्वान् ब्राह्मण के वचन का प्रमाण मानना आवश्यक होता है। उनकी भी संख्या समान होने पर उनमें भी श्रेष्ठतम और उभय पक्ष के विश्वस्त व्यक्ति को ही प्रमाण मानना आवश्यक होता है। इस प्रकार संख्यात्मक बहुमत गुणपरक हो जाता है।

दिव्य साक्ष्य

दिव्य का तात्पर्य ही है कि 'जहाँ मानुष प्रमाण विवाद के निर्णय में असमर्थ हो जाये उनमें निर्णय का माध्यम'। जहाँ साक्षी उपलब्ध नहीं हों वहाँ दैवी क्रिया सर्वथा वर्जित है। यदि पक्षविशेष दैवी प्रमाण प्रस्तुत करता है और वह पूर्ण तथा सुव्यवस्थित है, तथापि उसे मानुषी प्रमाण के सामने त्याज्य माना जाता जायगा। जंगल, रात्रि, साहस, पारूष्य, एकान्त तथा ऐसे स्थान के प्रमाण के लिये दिव्य प्रमाण अपेक्षित हो जाता है, जहाँ मानुष प्रमाण सम्भव ही नहीं हो पाता।

अर्थशास्त्र में दिव्य प्रमाणों की व्यवस्था नहीं है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उस समय उनका अभाव हो गया था। ह्वेनसांग और फाह्यान के यात्रा संस्मरणों में दिव्य प्रमाणों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। यह भी कहा जाता है कि कौटिल्य दिव्य प्रमाण अस्वीकार कर उत्पीड़न स्वीकार किया।

निर्णय

न्यायिक प्रक्रिया का चतुर्थ पाद सिद्धि या निर्णय है। साक्षी सम्पन्न हो जाने पर राजा या प्राड्विवाक वादी प्रतिवादी के जय पराजय का निर्णय सभ्यों की सहायता से करता है। पूर्वपक्ष, उत्तर पक्ष, साक्षी, साक्षियों की कसौटी, बहस, तर्क आवश्यक स्मृति वचन, सभ्यों के विचार आदि जयपत्र में लिखना चाहिए और उस पर प्राड्विवाक का हस्ताक्षर एवं राजमुद्रा अंकित रहना आवश्यक है।

निर्णय का आधार

सत्य की प्राप्ति में 'तर्क' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनु 'शाश्वत धर्म' को प्रमाण मानते हैं। जाति, जनपद, श्रेणी और कुछ की व्यवस्था प्रस्तुत करते

हुए याज्ञवल्क्य अन्तिम प्रमाण शास्त्रों को ही मानते है। किन्तु जहाँ स्मृति में विरोध हो, वहाँ न्याय का प्रमाण होता है। **'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्'** इस वचन में विवेक एवं व्यक्तिगत निर्णय की मान्यता मिलती है। निर्णय पर पहुँचने के लिये, 'युक्ति' एवं 'तर्क' के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण गौतम ने प्रारम्भ में ही किया है। जब सत्य के साथ युक्ति का प्रयोग किया गया तो वहाँ उसका तात्पर्य अनुभव एवं सांसारिक ज्ञान रहा। बृहस्पति भी यही मानते हैं। उनके अनुसार 'केवल शास्त्र के आधार पर निर्णय नहीं करना चाहिए। युक्तिहीन विचार से धर्म हानि ही सम्भव है। कल्पसूत्र ने 'युक्तियुक्त' का अर्थ 'प्रमाणयुक्त' किया है। नारदीय मनु संहिता के भाष्य में "दो शास्त्रीय वचनों में विरोध होने पर 'युक्ति' साक्षेप वच नही प्रमाण" माना गया है।

पुनर्विचार

यदि न्यायालय, साक्षी या अन्य कारण, जो विचार पूर्ण है, से पराजय हो तो पुनर्विचार सम्भव है। यदि पराजित पक्ष यह समझता है कि निर्णय पक्षपात पूर्ण हुआ है तो वह दुगुनी अमानत जमा कर पुनर्विचार करा सकता है। प्रथम न्याय बल प्रयोग से किया गया है तो पुनर्विचार अपेक्षित है। नाबालिग आदि तथा आवश्यक कार्य में व्यस्त की अनुपस्थिति में हुआ निर्णय पुनर्विचारणीय है। राजा स्वयं कारण–विशेष से पुनर्विचार कर सकता है।

अपील

प्रबल प्रमाण होते हुए भी, उसे प्रस्तुत करने में असमर्थता के कारण निर्बल प्रमाण प्रस्तुत करने से यदि पक्ष पराजित हो जाय और पुनः प्रमाण उपलब्ध हो जाय तो पुनः विचार करना चाहिए। यदि कोई निर्णय श्रुति–स्मृति और समाज कल्याण के विपरीत हो गया है तो उस पर भी राजा पुनर्विचार कर सकता है। इस प्रकार राजा को पुनर्विचार के विशाल अधिकार प्राप्त थे। यदि झूठ गवाही प्रस्तुत कर पक्ष में निर्णय करा लिया गया है तो कूट साक्षी को दण्ड देकर पुनर्विचार करना चाहिए।

दण्ड निर्धारण

दण्ड दम् धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है रोकना या निवारण लिया जाता है। अपराध को पुनः रोका जा सके यह भावार्थ हैं। स्मृतियों में दण्ड के विधान पर विस्तृत सामग्री प्राप्त होती है तथा दण्ड सम्बन्धी विवाद अट्ठारह शीर्षकों में विभक्त है उसे अष्टादश व्यवहारपद कहते हैं। 'व्यवहार' शब्द का अर्थ यहाँ पर मुकदमा या कचहरी में गए हुए झगड़े और न्याय सम्बन्धी विधि से है। व्यवहार शब्द कहीं कहीं विवादास्पद के अर्थ में प्रयुक्त है।दण्ड हेतु निर्देश में प्रमाणों का अनुप्रयोग किया गया हैं– मनु के अनुसार–

1. जिस प्रकार शिकारी मृग के रक्त पद–चिन्हों से स्थान को ज्ञात कर लेता है उसी प्रकार राजा को अनुमान प्रमाण से धर्म के तत्त्व का निर्णय करना चाहिए।
2. राजा को दण्ड–विधि में सत्य व्यवहार, व्यक्ति, साक्षी, देश और काल को देखकर निर्णय करना चाहिए। इन निर्णयों में देश, कुल तथा जाति की मान्यताओं को ध्यान में रखना चाहिए।
3. स्त्रियों के मुकदमें में स्त्रियों को, इसी प्रकार द्विज, शूद्र के विवादों में क्रमशः द्विज तथा शूद्र को साक्षी बनाना चाहिए।
4. घर के अन्दर मारपीट में, वन में, घायल तथा हत्या के अभियोग में उस

घटना के प्रत्यक्षदर्शी को साक्षी बनाना चाहिए। न्यायिक प्रक्रिया ना स्पष्ट रूप से संकेत ब्राह्मण–ग्रंथों से प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण में प्रश्निन्, अभिप्रश्नि और प्रश्नविवाक का संकेत (3/4) में मिलता है। धर्मसूत्रों में व्यवहार के रूप में न्यायिक प्रक्रिया का विवरण मिलता है। व्यवहार वेद से सम्बद्ध हैं–

व्यवहारः स्म्रतो यश्च स वेदविषयत्मकः।

–महाभारत 12/121/53

व्यवहार लौकिक विधि है–परिभाषा : 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग कार्य के अनुष्ठान Transaction on Dealing, न्यायिक प्रशासन, विधीय प्रक्रिया, विवाद, विधीय विवाद, किसी मामले में प्रवेश की विधिय क्षमता एवं विवाद निर्णय के साधना के अर्थ में पाया जाता है।

3-6 lkjka'k

हिन्दू विधि व्यवस्था का सैद्धान्तिक आधार वैदिक ज्ञान, उसकी व्याख्या, स्मृतियाँ तथा उसके पालन करने वाले लोगों तथा समूहों का आचार के माध्यम से होते हुए व्याख्यापद्धति, न्यायिक प्रक्रिया, न्यायिक प्रक्रिया में प्रमाणों के बलावल का विचार अर्थात् किसी समस्या के समधान में समस्या के स्वरूप के आधार पर उपयुक्त प्रमाण की वरीयता के द्वारा समर्ग विधि व्यवस्था पूर्ण होती है। चाहे विधि निर्माण की बात हो, चाहे विधि प्रक्रिया में वादी का पक्ष या प्रतिवादी का पक्ष या साक्ष्य की वैद्यता का प्रश्न हो, इनका उत्तर प्राप्त करने में भारतीय प्रमाण सिद्धान्त के व्यापक फलक का उपयोग किया जाता है। जिससे न्याय की सुनिश्चितता तय हो सके। व्यावहारिक धरातल पर प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रत्यक्ष के परिपूरक वे सभी प्रमाण जो साक्ष्य तथा निर्णय प्रक्रिया में सर्वाधिक सत्य के करीब है, उनका प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार से भारतीय प्रमाण सिद्धान्त केवल तात्त्विक विवेचना या प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में ही प्रयुक्त नहीं होता, बल्कि सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में सामाजिक या व्यक्तिगत न्याय की स्थापना और दण्ड निर्धारण के क्षेत्र में प्रमाण सिद्धान्त का उपयोग होता रहा है। इस रूप में कानूनविज्ञान में प्रमाणसिद्धान्त का व्यापक और महत्त्वपूर्ण अनुप्रयोग होता है। प्रमाणसिद्धान्त के माध्यम से हम कानूनी निर्णयों की प्रामाणिकता, वैधता, और सत्यता को सुनिश्चित कर सकते हैं। न्यायिक प्रक्रियाओं, नियमों, विधियों, गवाहों, साक्ष्य, और युक्तियों के माध्यम से प्रमाणसिद्धान्त का अनुप्रयोग हमें न्यायिक निर्णयों में सत्य के आधार पर न्याय का सिद्धांत लागू करने में मदद करता है।

3-7 ikfjHkkf"kd 'kCnkoyh

कानून विज्ञान : कानूनविज्ञान एक महत्त्वपूर्ण शाखा है जो समाज में न्याय और व्यवस्था को सुनिश्चित करने के लिए होती है।

भारतीय ज्ञानमीमांसा : ज्ञान का स्वरूप क्या है, ज्ञान हमें कैसे प्राप्त होता है, जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसकी वैधता क्या है इत्यादि प्रश्नों के समाधान में भारतीय विचारकों ने प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति इत्यादि प्रमाणों का और इन प्रमाणों के आधार पर जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसकी प्रमाणिकता सम्बन्धी विवेचन किया है। इन सभी सम्मिलित बातों को भारतीय

ज्ञानमीमांसा शब्द से जाना जाता है।

भुक्ति : जिस किसी वस्तु का उपयोग निर्बाध रूप से कोई उपयोग में ला रहा होता है। दूसरे शब्दों में यदि किसी सम्पत्ति पर कब्ज़ा लम्बे समय तक किसी व्यक्ति का होता है, तो इस क़ब्जे के आधार पर वह सम्पत्ति उसकी मान ली जाती है। सम्पत्ति के स्वामित्य निर्धारण में कब्ज़ा को प्रमाण मानना भुक्ति कहलाता है।

ऋत : ऋत एक वैदिक शब्द है, जिससे ब्रह्माण्डीय पिण्डों की निमयबद्धता का द्योतन होता है।

मीमांसक : भारतीय दर्शन का एक आस्तिक सम्प्रदाय जो मुख्य रूप से वेदवाक्यों के अर्थ निर्धारण और उनकी वैधता निर्धारण तथा विभिन्न वेदवाक्यों ने असंगति होने पर उनमें एक वाक्यता की स्थापना करने में संलग्न है।

नैयायिक : ज्ञान का स्वरूप क्या है, वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति किन प्रमाणों के आधार पर होती है, प्रमाण कितने है, प्रमाणों के आधार पर कोई ज्ञान कैसे प्राप्त होता है, कथनों की तार्किक संरचना कैसे निर्मित होती है तथा शब्द अपने अर्थ को कैसे सम्प्रेषित करते है इत्यादि प्रश्नों के विवेचन में मुख्य रूप से संलग्न रहने वाले भारतीय दार्शनिकों को नैयायिक कहा जाता है। नैयायिकों को भारतीय तर्कशास्त्र का जनक माना जाता है।

3-8 lUnHkZ xzUFk lwph

1. प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, हरिहरनाथ त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965
2. शुक्रनीतिसार
3. Problems of Interpretation and Translation of Philosophical and Religious Texts, N.S.S. Raman, Indian Institute of Advanced Study Rashtrapati Nivas, Shimla
4. कौटिल्य अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

3-9 cks/kiz'u

1. सभी विधिशास्त्रों ने प्रत्यक्ष प्रमाण को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है, इस कथन पर प्रकाश डालिए।
2. भारतीय विधिशास्त्र प्रमाणशास्त्र पर आधारित है। इस कथन की परीक्षा करें।
3. साक्ष्य निर्धारण में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रमुखता पर प्रकाश डालिए।
4. विधि व्यवस्था में प्रमाणों का सुचिंतित अनुप्रयोग विधि व्यवस्था को समृद्ध करता है। इस कथन पर प्रकाश डालें।

इकाई. 4 प्रमाणों का परिचय

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 प्रमाण सिद्धान्त
4.3.1 प्रत्यक्ष प्रमाण
4.3.2 अनुमान
4.3.3 शब्द
4.3.4 उपमान
4.3.5 अर्थापत्ति
4.3.6 अनुपलब्धि
4.3.7 अन्य प्रमाण
4.4 सारांश
4.5 पारिभाषिक शब्दावली
4.6 सन्दर्भग्रन्थ
4.7 बोधप्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्रमाण सिद्धान्त भारतीय चिन्तन परम्परा में एक महत्वपूर्ण विषय है। किसी विषय के यथार्थ ज्ञान को प्रमा तथा उसके असाधारण करण को प्रमाण माना जाता है। प्रमाण सिद्धान्त का उत्म निर्विवादरूप से वेद को स्वीकार किया जा सकता है। इस अध्याय में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। वेद में उस प्रकार स्वतन्त्र रूप से प्रमाण मीमांसा नहीं है जैसा कि दर्शनों में है। वहाँ इसके प्रकरण यत्त-2 विखरे पड़े हैं। वैदिक धर्म एवं दर्शन की प्रतिक्रिया में चार्वाक ने बड़े तार्किक ढंग से शब्द एवं अनुमान प्रमाण का खण्डन किया जिस पर प्रकाश डाला गया है। चार्वाक के इस खण्डका सभी दर्शनों में विरोध है लेकिन जैन दर्शन ने प्रबल तर्क देकर चार्वाकके अनुमान खण्ड का प्रतिकार किया। जैसे बौद्ध, वैशेषिक, काय, सांख्य मीमांसा और वेदान्त के अपने-अपने प्रमाण सिद्धान्तहैं जो काल क्रम में विकसित हुए। इस अध्याय में सभी दर्शनों के प्रमाण सिद्धान्तों का विवेचन है। दो दर्शनों किसी प्रमाण के विमर्श को लेकर जहां मतभेद है उस पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। विशेषकर उपमान के विषय में न्याय एवं मीमांसा का विरोध है। अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि को लेकर भी न्याय से इनका मतभेद है। न्याय जहां इनका अन्तमवि अनुमान में करता है वहां मीमांसा और वेदान्त इन्हें स्वन्त्र प्रमाण मानते हैं और इसके पक्ष में उचित तर्क देते हैं। अनुमान के विषय में न्यायदर्शन में विस्तार से विचार हुआ है। थोड़े-बहुत अन्तर में से सभी दर्शनों ने वैसे ही विचार प्रस्तुत किये हैं।

इस अध्याय में वेद से प्रारम्भ कर रामानुज तक प्रमाण सिद्धान्त के विकास यात्रा को दिखाया गया है। न्याय और वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रमाण सिद्धान्त उन्नीसवीं सदी तक विचार के विषय बनते रहे हैं किन्तु इनका विचलन मूल सिद्धान्तों से नहीं है। अत: इन्हें इस अध्याय में स्थान नहीं दिया गया।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के बाद आप

- प्रमाण सिद्धान्त का वेदों में स्रोत जान सकेंगे।
- प्रमाण सिद्धान्त के वेदेतर स्रोतों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- प्रचलित विभिन्न प्रमाणों जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द इत्यादि प्रमाणों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- विभिन्न प्रमाणों की विशेषताओं से परिचय हो सकेंगे।

4.3 प्रमाण सिद्धान्त

प्रमाण मीमांसा सभी दर्शनों का एक प्रधान अंग है। प्रमाण शब्द व उपसर्ग पूर्वक या धातु में ल्युद् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है – प्रमा का असाधारण करण। प्रमाण शब्द सामान्यतया प्रमा के कारण के अर्थमें प्रयुत्य होता है किन्तु कहीं-2 प्रमा के अर्थ में भी इसका प्रयोग मिलता है। अनधिगतार्थ गत्रृप्रमाणम् अथार्त नये विषय का ज्ञान कराने वाला ही प्रमाण है। यहाँ प्रमाण का प्रयोग प्रमा के लिए किया गया है। मीमांसा दर्शन में प्रमा और प्रमाण दोनों को प्राय: एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। प्रमाण शब्द को समझने के पहले प्रमा को समझना आवश्यक है।

अन्य दर्शनों की अपेक्षा न्याय दर्शन में प्रमाण मीमांसा पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

न्याय मत में किसी वस्तुके यथार्थ रूप की अनुभूति प्रमा है। जो जिस प्रकार है उसका उसी प्रकार से अनुभव करना प्रमा है। सामने रस्सी हो और उसका रस्सी के रूप में अनुभूति हो तो यह अनुभूति प्रमा है किन्तु अन्धकार के कारण यदि उसकी प्रतीति सर्प के रूप में हो तो यह अप्रमा है। अद्वैत वेदान्त में अनधिगत और अवांछित विषय के ज्ञान को प्रमा माना गया है। अर्थात् ज्ञान नवीन हो और उसका बाद में खण्डन न हो। यदि अन्धकार के कारण रस्सी को सर्प के रूप में ज्ञान हुआ तो यह अवांछित नहीं है क्योंकि प्रकाश आने पर इसका खण्डन हो जायेगा, सर्प ज्ञान बाधित हो जायेगा।

प्रमा जिससे उत्पन्न हो उसे करण कहते हैं। प्रमा की उत्पत्ति में अनेक कारण हो सकते हैं। रूप के ज्ञान में निर्दोष चक्षु, पर्याप्त प्रकाश निकटता एवं मन का इन्द्रिय से सन्निकर्ष, इन्द्रिय का रूपवान वस्तु से सन्निकर्ष आवश्यक है। इन सभी कारणों से नित्त असाधारण कारण है। वस्तु हो, प्रकाश हो, ज्ञातासे निकटतामी हो किन्तु यदि निर्दोष नेत्र न होती रूप का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रमा के करण को साधकतम या अत्यन्त साधक माना गया है।

अत्यन्त साधक किसी कार्य का प्रकृष्ट उपकारक है। 'राम ने रावण को वाण से मारा'। यहां रावण को प्राण जाने में बहुत से कारण हैं – रावण द्वारा सीता हरण, राम का क्रोध, धनुष, वाण, प्रत्यज्ज्ञा आदि किन्तु रावण की सद्य: मृत्यु वाण लगने से हुई। अत: वाण को ही असाधारण करण माना जायेगा।

प्रमा और करण को समझने के बाद प्रमाण के स्वरूप को समझा जा सकता है। न्याय मन्जरी में लिखा है – अर्थ विषयक असंदिग्ध तथा अव्यभिचारी ज्ञान जिससे उत्पन्न हो वह प्रमाण है। यथार्थ ज्ञान (प्रमा) सविषयक होता है, ज्ञान हमें विषय का ही होता है। यह लक्षण ज्ञान को स्मृति से पृथक् करता है क्योंकि स्मृति निर्विषयक होती है। अव्यमिचारि शब्द भ्रम का निराकरण करता है क्योंकि भ्रमात्यक ज्ञान व्यभिचरित होता है, बदल जाता है, खण्डित हो जाता है। असंदिग्ध शब्द निश्चयात्मक ज्ञान को प्रकट करता है। इससे संशय का निराकरण होता है। इस प्रकार स्मृतिभिन्न, संशय, विपर्यय आदि दोष से रहित किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान जिससे प्राप्त है। वही प्रमाण है।

प्रमाणों की संख्या

प्रमाणों की संख्या को लेकर भारतीय दर्शनों में मतभेद है। भारतीय दर्शनों में प्राय: आठ प्रमाण स्वीकार किये गये हैं – (1) प्रत्यक्ष, (2) अनुमान, (3) शब्द, (4) उपमान, (5) अर्थापत्रि, (6) अभाव, (7) संभव और (8) ऐतिध्य। इसके अतिरिक्त चेष्टा एवं परिशेष प्रमाण भी कुछ लोगों ने स्वीकार किया है।

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। वैशेषिक और बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं जैसी प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक शब्द और उपमान सहित चार प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर मीमांसक इनके अतिरिक्त अर्थापत्ति पांचवां प्रमाण मानते हैं। कुमारिल भट्ट इसमें अनुपलब्धि जोड़ देते हैं। पौराणिक इनके अतिरिक्त ऐतिहस एवं संभव प्रमाण भी मानते है। तान्त्रिक इसमें चेष्टा प्रमाण भी मिला देते हैं। गणित में परिशेष नामक दसवाँ प्रमाण भी स्वीकार किया जाता है।

प्रत्येक प्रमाणों का संक्षिप्त विवरण अग्रलिखित है –

4.3.1 प्रत्यक्ष प्रमाण : सामान्य परिचय

हमारे समक्ष से जो यह दृश्य जगत है इसी की व्याख्या करने के लिए सभी प्रकार के ज्ञान विज्ञान का विकास हुआ है इस जगत को जानने का सर्वाधिक सुगम साधन प्रत्यक्ष ही है अतः विश्व के किसी भी ज्ञान संबंधी विमर्श में प्रत्यक्ष प्रमाण की ऑरहेलना संभव नहीं हुई है यदि हम विश्व के अब तक के सभी प्रकार के ज्ञान संबंधी विमर्शों का अध्ययन करें तो हमें तीन प्रकार के प्रमाण सिद्धांत प्राप्त होते हैं पहला प्रत्यक्ष वादी प्रमाण शास्त्र जिसकी यह मानता है कि वही ज्ञान प्रमाणित है जो सिर्फ और सिर्फ प्रत्यक्ष पर आधारित है दूसरा है अतः प्रज्ञवादी प्रमाण शास्त्र इस मत को मानने वाले विचार को का यह मंतव्य है की यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में प्रत्यक्ष हमें विशेष सहायता नहीं करता इसके लिए हमें बुद्धि या प्रज्ञा का सहारा लेना पड़ता है और तीसरे प्रकार की विचारण समन्वादी प्रमाण शास्त्री कहा जाता है इन लोगों का यह कहना है की ज्ञान का आधार प्रत्यक्ष है किंतु उसकी पूर्णता प्रज्ञा में होती है ज्ञान की किसी प्रकार से भी विवेचना की जाए कोई भी प्रत्यक्ष को प्रमाण के रूप में स्वीकार करने से अपने आप को वंचित नहीं कर सकता यह बात अलग है की प्रत्यक्ष वादीयो ने प्रत्यक्ष का स्थान प्रमाणो में सर्वोपरि रखा।

गौतम ने प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुए लिखा है – इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोल्पयं ज्ञानम् अव्ययदेश्यम् अव्यमिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् अर्थात् इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष (अत्यन्त्र समीप्य) से उत्पन्न अव्ययदेश्य, अव्यमिचारी तथा व्यवसायात्मक (निश्चित) ज्ञान प्रत्यक्ष है। अव्यपदेश्य वह दशा है जिसमें वस्तु है मात्र इसका बोध हो, उसके गुण धर्मोका बोध न हो। इसे निर्विकल्चक्र प्रत्यक्ष कहा जाता है। व्यभिचारी पद निर्भ्रांत्र ज्ञान कर संकेत करता है तथा व्यवसायात्मक पद गुण विशिष्ट सविकल्पक निश्चित ज्ञानका द्योतक है। मन का इन्द्रिय और इन्द्रिय का वस्तु से संपर्क होने पर आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जैसे सामने घर होतो मन का नेत्र से और नेत्र का घर से सन्निकर्ष होने पर आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है।

निश्चय ही प्रत्यक्ष यथार्थ ज्ञान का सबसे अवैध साधन है क्योंकि मानव ज्ञान का सर्वाधिक सरल सुलभ और लोकप्रिय माध्यम प्रत्यक्ष ही है तथा हमारा वह ज्ञान भी जिसे हम प्रत्यक्ष से इतर ज्ञान की संज्ञा देते हैं अंत तो गत्वा प्रत्यक्ष की व्याख्या के बिना लोक समझ नहीं हो पता लोग समझी चाहे जितनी भी सताई और जितनी भी अवतार की क्यों ना हो लोकाव्या व्यवहार की दृष्टि से अपेक्षा नहीं किया जा सकता अतः कम से कम हम लोग का व्यवहार की दृष्टि से ही सही ज्ञान के साधन के रूप में प्रत्यक्ष की अवहेलना नहीं कर सकते।

यह सत्य है कि प्रमाण में प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थात ज्ञान प्राप्त करने की जिन साधनों को वह साधन माना गया है उनमें प्रत्यक्ष सर्वाधिक मान्य है किंतु यह भी सत्य है की प्रत्यक्ष में बिभ्रम और भ्रम बनी रहती है यदि हम यह बात स्वीकार करें या इस बात को मन कर चले कि प्रत्यक्ष सदैव हमें धोखा नहीं देता तब भी जीवन में आने वाली कठिनाइयों का अंत नहीं होता क्योंकि कुछ प्रत्यक्ष हमारे जीवन में ऐसे हैं जो मैं सही ज्ञान नहीं देते जैसे मृग मरीचिका ऐसे में हमें यह जानना बहुत आवश्यक हो जाता है की कौन सा प्रत्यक्ष विश्वसनीय है और कौन सा प्रत्यक्ष हमें धोखा देता है दूसरे शब्दों में कहें तो कौन सा प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन है और कौन सा प्रत्यक्ष ज्ञान का वैध साधन नहीं है यह जब इस प्रश्न का उत्तर पूर्ण स्पष्ट से दे सकना संभव नहीं है फिर भी साधारणता दो स्थितियों में हम किसी भी प्रत्यक्ष को वैध कहते हैं पहले यदि प्रत्यक्ष की निश्चयात्मकता में हमें विश्वास हो और दूसरा परवर्ती प्रत्यक्ष के उदाहरण से इस विश्वास की संपुष्टि हो वस्तुत प्रत्यक्ष की वैधता तथा किसी प्रत्यक्ष विशेष की सत्यता के प्रश्न दोनों अलग-अलग प्रश्न है प्रत्यक्ष विशेष की सत्यता का निर्धारण कथनों अथवा ज्ञान की सत्यता के निर्धारण के प्रश्न

से जुड़ता है जबकि प्रमाण रूप में प्रत्यक्ष की वैधता का प्रश्न सर्वथा अलग प्रश्न है जिसका अभिप्राय यह जानना है कि क्या प्रत्यक्ष प्रमाण का वैध साधन है इस प्रश्न का सरल उत्तर यह है की निश्चय ही प्रत्यक्ष प्रवाह का अवैध साधन है क्योंकि मानव जीवन का सर्वाधिक सरल सुलभ और लोकप्रिय माध्यम प्रत्यक्ष ही है तथा हमारा वह ज्ञान भी जिसे प्रत्यक्ष हीटर ज्ञान की संख्या दी जाती है अंत तो गत्वा प्रत्यक्ष की व्याख्या के बिना लोक सम्मत नहीं हो पाती लोक सम्मति चाहे वह जितनी भी सतहीऔर जितनी भी अतार्किक की क्यों ना हो लोक व्यवहार की दृष्टि से हम उसकी अपेक्षा नहीं कर सकते अतः कम से कम लोक व्यवहार की दृष्टि में ही सही प्रमाण रूप में प्रत्यक्ष की अवहेलना असंभव है।

4.3.2 अनुमान

प्रत्यक्ष (इंद्रिय सन्निकर्ष) द्वारा जिस वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान नहीं हो रहा हो , उसका ज्ञान किसी ऐसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर, जो उस अप्रत्यक्ष वस्तु के अस्तित्व का संकेत दे, अनुमान कहलाता है। यह ध्यान देना आवश्यक है कि पाश्चात्य तर्कशास्त्र में अनुमान (इनफरेन्स) का अर्थ भारतीय तर्कशास्त्र में प्रयुक्त अर्थ से कुछ भिन्न और विस्तृत हैं। वहाँ पर किसी एक वाक्य अथवा एक से अधिक वाक्यों की सत्यता को मानकर उसके आधार पर क्या-क्या वाक्य सत्य हो सकते हैं, इसको निश्चित करने की प्रक्रिया का नाम अनुमान है और विशेष परिस्थितियों के अनुभव के आधार पर सामान्य व्याप्तियों का निर्माण भी अनुमान ही है। संस्कृत शब्द अनुमान दो शब्दों, अनु अर्थात उत्तरवर्ती और मान अर्थात मापन से मिलकर बना है। इस प्रकार सम्पूर्ण शब्द से तात्पर्य है किसी घटना का उत्तरवर्ती आकलन। स्पष्ट है कि इस प्रकार का ज्ञान अपरोक्ष/प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता: "क्योंकि यह भूतकाल में ज्ञान के अन्य साधनों जैसे कि प्रत्यक्ष, शब्द आदि से प्राप्त ज्ञान का उपयोग करता है" और व्यक्ति को "अग्रिम ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम बनाता है"। सभी भारतीय दार्शनिक अनुमान को ज्ञान का वैध साधन नहीं मानते हैं। उदाहरणार्थ, भौतिकवादी चार्वाक केवल भौतिक पदार्थ को ही अन्तिम सत्य मानते हैं। फलतः वह अनुमान को ज्ञान के वैध साधन के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं।

भारतीय दर्शन में अनुमान स्वयं के लिये (स्वार्थानुमान) तथा दूसरों के लिये (परार्थानुमान) हो सकता है। स्वार्थानुमान में चूंकि हम अपने स्वयं के लिये अव्यभिचारी ज्ञान प्राप्त करने के लिए अग्रसर होते है इसलिए कथन भलीभांति संरचित नहीं होते है। जबकि चूंकि परार्थानुमान में दूसरे को सत्य से अवगत कराना होता है इसलिए इस प्रकार के अनुमान को भलीभांति संरचित होना आवश्यक होता है। इस इकाई में हम न्याय दर्शन के अनुमान पर ध्यान केन्द्रित करेंगे। वास्तव में, सभी भारतीय दर्शनों में न्याय दर्शन ही अपने अनुमान प्रमाण के विवेचन के लिये सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

किसी लिंग (हेतु या चिन्ह) के ज्ञान से उस लिंग को धारण करने वाली वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान है। सुदूर धूम उठता देख वहाँ आग का ज्ञान करना अनुमान है। यहां धूंआ लिड़ग है और आग लिड़गी। हम जानते हैं कि जहां धूंआ रहता है वहां आग अवश्य रहती है। इसे व्याप्ति सम्बन्ध कहते हैं। इसी आधारपर हम धूंये को देखकर स्थान विशेष जो दृश्य नहीं है, वहां भी आग का ज्ञान कर लेते हैं। चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शनों में इसे स्वीकार किया जाता है।

अनुमान साधन है, अनुमिति उसका फल है और परामर्श अनुमान से अनुमिति तक पहुँचने की प्रक्रिया है। अतः अनुमिति परामर्श पर आधारित है। परामर्श का इसलिए अधिक

महत्त्व है कि यदि परामर्श ठीक होगा तो उसका फल अनुमिति भी शुद्ध होगी। अतः न्यायदर्शन में परामर्श और परामर्श के दो घटक तत्त्व, व्याप्ति और लिंग, पर बहुत बल है। लिंग या हेतु वह है जिससे किसी पदार्थ का व्याप्ति द्वारा ज्ञान होता है। लिंग और साध्य (जिस पदार्थ का अनुमान करना है) का पारस्परिक सम्बन्ध व्याप्ति है। इस सम्बन्ध के अनुसार लिंग और साध्य सदा साथ-साथ रहते हैं। हेतु और साध्य और उनका पारस्परिक सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति-यदि इन तीन को समझ लिया जाये तो अनुमान का ज्ञान हो सकता है। साध्य तो वह पदार्थ है जिसका अनुमान करना है। साध्य का अनुमान हेतु और साध्य के सम्बन्ध, अर्थात्व्याप्ति, से होता है। यह सम्बन्ध व्याप्य-व्यापक-भाव रूप है। व्याप्यव्यापक भाव का निश्चय साहचर्य दर्शन से होता है। इस नियमित साहचर्य को ही व्याप्ति कहते हैं। इसप्रकार व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में ज्ञान परामर्श है। इस परामर्श में व्याप्ति हेतु में विशेषण बनती है और हेतु पक्ष में विशेषण बनता है।

4.3.3 शब्द

आप्त वचन को शब्द कहते हैं –आप्तोपदेश: शब्द:। आप्त पुरूष विश्वनीय होता है और उसके कहे वचन प्रमाण हैं। हमने झूलता पुल नहीं देखा है किन्तु झूलता पुल देखने वाले किसी विश्वस्त पुरूष के कहने पर कि ऋषिकेश में राम झूला झुलता पुल है तो हम उसे स्वीकार कर लेते हैं। शब्द के अन्तर्गत वेद वाक्य भी हैं। पुनर्जन्म,कर्मफल, ईश्वर की सत्ता, स्वर्ग, तर्क आदि का ज्ञान हमे वेद से होता है। सांख्य, न्याय, मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन शब्द प्रमाण को स्वीकार करते हैं किन्तु मीमांसा और वेदान्त मनुष्यों के वचनों को नहीं अपितु वेद वचनों को ही शब्द प्रमाण मानते है।

व्यापक अर्थ में शब्द एक ध्वनि है किन्तु संकुचित अर्थ में यह एक ध्वनि है, जो किसी अर्थ के चिन्ह के लिये प्रयुक्त होता है। इस आशय से यह Word भी कहा जाता है। इस इकाई में 'शब्द' का अर्थ है ज्ञान का स्रोत, ज्ञान का कारण। एक 'प्रमा' यथार्थ ज्ञान के रूप में शब्द प्रमा का तात्पर्य है वह ज्ञान जो 'शब्द प्रमाण' से प्राप्त होता है। यहां शब्द प्रमाण का तात्पर्य है– Words as a Source of Knowledge.

चार्वाक को बौद्ध तथा प्रारम्भिक वैशेषिकों को छोड़कर सभी भारतीय दार्शनिक शब्द प्रमाण की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हैं।
अद्वैत वेदान्तीयों तथा अन्य दार्शनिक तो शब्द के परम प्रमाण के रूप में स्थापित करने का प्रयास करते हैं जिससे सामान्य रूप से शास्त्रों तथा विशेष रूप से वेद की प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा हो सके। पश्चिमी दर्शन में 'शब्द प्रमाण' पर इस प्रकार विचार नहीं किया गया है क्योंकि वहाँ दर्शन प्राचीन सत्ता के विरोध में हुआ। सम्भवतः इसी कारण भारतीय दर्शन के शब्द प्रमाण की इतनी 'उपेक्षा' और उपहास हुई। किन्तु शब्द प्रमाण की स्थापना में प्राचीन भारतीय विचारकों ने अनेक ऐसे प्रश्नों पर विचार किया, जिसको किसी भी विद्यार्थी को अवश्य पढ़ना चाहिए। इस इकाई में उनपर चर्चा करेंगे।

डी.एम. दत्ता 5 विभिन्न स्तर स्वीकार करते हैं जिससे हमें शाब्दिक ज्ञान प्राप्त होता है। शब्द ज्ञान की प्रक्रिया– 1.' हमें शब्दों की अनुभूति होती है, 2. अनूभूति की अभिव्यक्ति तथा व्याख्या करते हैं। जब किसी ध्वनि के विचार के चिन्ह के रूप में प्रयुक्त किया जाता है अर्थात् जब वे शब्द है तब

इन दो के अतिरिक्त तीन और बातें होती है– 1. प्रत्येक शब्द का अर्थ ग्रहण होता है। 2. प्रत्येक शब्द के पृथक अर्थ होते हैं। इन अर्थों से एक रचनात्मक अवबोध बनता है। 3. इस वाक्य के अर्थ में विश्वास करना पड़ता है। इन पाँच चरण के बाद शब्द से अर्थ प्राप्त होता है।

'शब्द प्रमाण' को प्रमाण के रूप में दो प्रकार से स्वीकार किया गया है।

1. 'शब्द स्वतन्त्र प्रमाण है।' अर्थात् शब्द प्रमाण उन विषयों का ज्ञान प्राप्त करने का विशेष साधन है। जिसे अन्य प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। इस मत के समर्थक न्याय, मीमांसा, सांख्य तथा योग और वेदान्त दर्शन है।

शब्द प्रमाण रूप में स्वतन्त्र नहीं है इसका अर्न्तभाव दूसरे अन्य प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण हो जाता है। इस मत के पोषक चार्वाक तथा बौद्ध दर्शन है।

4.3.4 उपमान

पहले अनुभूत किसी वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहां किसी नई वस्तु का ज्ञान होता है, उसे उपमान कहते हैं। गाय के सदृश गवम (नील गाय) होती है। इस वाक्य के सुनने के बाद जब पुरूष गाय की समानता वाले पशु को देखकर गवम समझता है तब इन ज्ञान का अनुभव उपमान द्वारा हुआ माना जाता है। उपमान प्रमाण न्याय, वेदान्त एवं मीमांसा दर्शन में स्वीकृत है।

उपमान शब्द की निरूक्ति की जाती है– 'उपमीयते अनेनेति उपमानम्' अर्थात् जिसके द्वारा उपमिति उत्पन्न हो, उसे उपमान कहते है। यहां उपमीति का अर्थ है– उपमा या सादृश्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान। उपमान में केवल उपमा कर देना ही जरूरी नही होता बल्कि उपमान प्रमाण में एक प्रसिद्ध वस्तु के द्वारा सादृश्य देकर विभिन्न दूसरी अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान कराये जाने को उपमान कहते हैं। इस प्रकार से उपमान द्वारा प्राप्त ज्ञान में उपमान प्रमाण के रूप में एक असाधारण कारण के रूप में मान्य है। क्योंकि उपमान प्रमाण एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया के द्वारा सम्पन्न होता है। इससे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह यथार्थ होता है क्योंकि इस प्रमाण में ज्ञात वस्तु के साथ सादृश्य के आधार पर अज्ञात वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उपमान प्रमाण को प्रमाण के रूप में विस्तृत विवेचन न्यायदर्शन में किया गया है।

महान नैयायिक एवं न्याय दर्शन के प्रतिपादक अक्षपाद गौतम ने 'न्याय–सूत्र' में लिखा है कि– ''प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्'' (न्या0सू0 06) अर्थात् प्रसिद्ध वस्तु (जैसे गाय) के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु (जैसे गवय) के ज्ञान को उपमिति और उसके साधन को उपमान कहा जाता है। सम्भवतः गौतम उपमान विरोधियों के इस तर्क से परिचित थे कि 'साधर्म्य' की मात्रा निश्चित नहीं हो सकती, अतः उपमान प्रमाण नहीं है। इसलिए वे कहते हैं कि उपमान का आधार साधर्म्य की मात्रा या स्तर नहीं अपितु उसकी प्रसिद्धि है। (अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानसिद्धि)।

गौतम ऋषि के कथन का विश्लेषण करते हुए वात्स्यायन ने कहा है कि ज्ञात वस्तु के सामय के आधार पर ज्ञापनीय वस्तु का ज्ञान कराने वाला साधन उपमान है। उदाहरणार्थ ''जिस प्रकार की गौ होती है, उसी प्रकार

का गवय होता है। इस कथन में गवय का ज्ञान कराने वाला जो साधन है, वह उपमान प्रमाण कहलायेगा। इस प्रकार उपमान के द्वारा नाम और नाम वाले पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान होता है। केशव मिश्र ने तर्कभाषा में कहा है कि– ''अतिदिश्यते प्रतिपाद्यतेऽनेन साध्र्यादिः इति अतिदेशः।'' अर्थात् अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करने के साथ ज्ञात वस्तु (गाय) के सादृश्य से युक्त अज्ञात पिण्ड (गवय) का ज्ञान कराने वाला प्रमाण उपमान कहलाता है। अतिदेश वाक्य का अर्थ है– समानता आदि बताने वाला वाक्य। उदाहरण– गौ की समानता से युक्त पिण्ड के ज्ञान के पश्चात् यह पिण्ड गवय शब्द का वाच्य है– इस प्रकार जो संज्ञा (गवय शब्द) तथा संज्ञी (गवय वस्तु/पिण्ड) के सम्बन्ध की प्रतीति होती है। वह उपमिति अर्थात् उपमान का फल है।

उपमान की प्रक्रिया के तीन सोपान हैं–

1. गोसदृश पशु विशेष का ज्ञान।
2. अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण। और
3. गोसादृश पशु विशेष गवय शब्द का वाच्य है।

इसमें से प्रथम दो उपमान और अन्तिम को उपमिति कहा जाता है। आप जानते है कि उपमान प्रमाण से जिस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है, उसे उपमिति कहते हैं। उपमान प्रमाण एवं स्वतन्त्र प्रमाण है। इसे सर्वाधिक जोरदार ढंग से न्यायदर्शन के आचार्यों ने कहा है न्यायदर्शन के आचार्यों को नैयायिक कहा जाता है। अब हम उपमान प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्थापना हेतु तर्कों की समीक्षा करेंगे।

4.3.5 अर्थापत्ति

सर्वप्रथम यह जानना अनिवार्य है कि– अर्थापत्ति का शाब्दिक अर्थ क्या है? इस शब्द की व्युत्पत्ति कैसे हुई है? अर्थापत्ति शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से होती हैं। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार–**अर्थस्य आपत्तिः यस्मात्** अर्थात् अर्थ की आपत्ति जिससे हो, वह अर्थापत्ति है। इसके अनुसार अर्थापत्ति एक प्रमाण है। द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार–**अर्थस्य आपत्तिः अर्थापत्तिः** अर्थात् अर्थ की आपत्ति अर्थापत्ति है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थापत्ति को प्रमा माना जाय या प्रमाण माना जाय परन्तु इससे एक विशेष प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् अर्थापत्ति से विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है। विशिष्ट ज्ञान ही विशिष्ट प्रमा है। विशिष्ट ज्ञान को उदाहरण से समझा जा सकता है। ''पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते'' अर्थात् देवदत्त मोटा है परन्तु दिन में भोजन नहीं करता। अतः वह रात मे भोजन करता है। यदि देवदत्त दिन में निराहार रहता है, तो वह रात में आहार (भोजन) अवश्य ग्रहण करता है अन्यथा वह मोटा नहीं हो सकता। इस प्रकार मोटे देवदत्त की व्याख्या रात में भोजन के कारण ही सम्भव है। अर्थापत्ति प्रमाण को समझाने के लिये एक प्रसिद्ध उदाहरण दिया जाता है–

अर्थापत्ति के दो भाग किये गये हैं– 1. उपपाद्य और 2. उपपादक। उपरोक्त उदाहरण में देवदत्त का मोटा होना उपपाद्य है तथा देवदत्त का रात में भोजना करना उपपादक है। अतः यह कहा जा सकता है कि अर्थापत्ति उपपादक से उपपाद्य का ज्ञान है। इस उदाहरण के अन्तर्गत हमें देवदत्त के

मोटा होने की व्याख्या करनी है। जिसके बारे में यह कहा गया है कि वह दिन में भोजन नहीं करता, इस व्याख्या के अन्तर्गत 'देवदत्त के मोटा होने में' हमें यह मानना पड़ेगा कि देवदत्त रात में भोजन करता है। अतः कहा जा सकता है कि— अर्थापत्ति में उपपाद्य और उपपादक दोनों अर्थों की आवश्यकता है। इसका कारण यह है कि जो मनुष्य (देवदत्त) दिन में उपवास रखता है और रात में भी भोजन न करें तो वह स्वस्थ नहीं रह सकता है।

दूसरे शब्दों में ज्ञात अर्थ की व्याख्या के लिए अज्ञात अर्थ की कल्पना करना अर्थात् जिसकी सहायता के बिना उस ज्ञात अर्थ की उपपत्ति नहीं हो पाती उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे किसी देवदत्त नामक व्यक्ति का जीवन प्रमाणान्तर (ज्योतिषादि) से निश्चित है किन्तु घर में जब उसकी उपलब्धि या उपस्थिति नहीं होती है, तब उसके बाहर होने की कल्पना की जाती है। इसी कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। यहाँ उपपाद्य जीवन करण है और उपपादक बहिर्भाव फल है। जिसके बिना जो अनुपपन्न हो उसे उपपाद्य कहते हैं जैसे— जीवन तथा जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति हो उसे उपपादक कहते हैं जैसे— बहिर्भाव। जीवन और बहिर्भाव में प्रमाण—सिद्ध जो परस्पर विरोध है। वह अर्थापत्ति में करण होता है। किसी प्रमाण से ज्ञात हो कि देवदत्त घर में है या देवदत्त घर से बाहर है और किसी अन्य प्रमाण से यह भी ज्ञात हो कि— देवदत्त घर में नहीं है, ऐसी स्थिति में दोनों ही वाक्य परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। इस विशेष या प्रतिधातु का समाधान बहिर्भाव की कल्पना से किया जाता है। अतः दो प्रामाणिक अर्थों के बीच अर्थान्तर की कल्पना द्वारा समाहित होने वाला पारस्परिक विरोध अर्थापत्ति का कारण कहलाता है। उस विरोध (प्रतिघात) के समाधान हेतु जो अर्थान्तर कल्पना होती है उसे अर्थापत्ति कहते हैं।

दृष्ट या श्रुत अर्थ की उत्पत्ति जिस अर्थ के अभाव में न हो सके, उस की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। इसमें किसी अर्थ की उत्पत्ति के लिए अर्थानार की कल्पना की जाती है। इससे दो तथ्यों के विरोधाभास दूर होते हैं। मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता। यहां मोटा होने और दिन में न खाने की असंगति को दूर करने के लिए देवदत्त के रात में खानेकी अर्थ-कल्पना (अर्थापत्रि) की जाती। मीमांसक और वेदान्ती अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं।

4.3.6 अनुपलब्धि

अनुपलब्धि का शाब्दिक अर्थ है— जो उपलब्ध न हो अर्थात् जिसकी उपलब्धि (ज्ञान) का अभाव हो उसे ही अनुपलब्धि कहते हैं। प्रमाण के रूप में— अनुपलब्धि का प्रमुख कार्य अभाव को ग्रहण करना है। प्रमुख मीमांसक आचार्य 'पार्थसारथी मिश्र' ने 'शास्त्रदीपिका' में उल्लिखित किया है कि— ''भट्टमीमांसा' में सर्वप्रथम अनुपलब्धि नामक स्वतंत्र प्रमाण को स्वीकार किया गया जिससे अनुपलब्धि प्रमा का ज्ञान होता है। कालान्तर में अद्वैत वेदान्त में भी इसे स्वतंत्र प्रमाण माना गया। ज्ञातव्य है कि— मीमांसा और अद्वैत वेदान्त में अनुपलब्धि के अतिरिक्त— प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति को भी ज्ञान का स्वतन्त्र साधन स्वीकार किया गया है।वेदान्तियों एवं याद् मीमांसकों ने अनुपलब्धि नायक स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया।

अनुपलब्धि का अर्थ है – प्रत्यक्ष में उपलब्ध न होना। कमरे में घर उपलब्ध नहीं है, ऐसी स्थिति में घटाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है।

भाट्ट मीमांसकों और अद्वैत वेदांतियों का यह कथन है कि किसी स्थान विशेष पर कोई वस्तु विद्यमान न हो तो उस स्थान पर उस वस्तु का अभाव माना जायेगा और उस अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि नामक एक पृथक प्रमाण से होगा। जैसे– किसी स्थान पर घट नहीं है तो इस घटाभाव का ग्रहण अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है। अतः अनुपलब्धि एक स्वतन्त्र प्रमाण है। इसके स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है– यदि किसी घट को मैंने देखा है, परन्तु इसी स्थान पर उपलब्धि के सभी साधनों के होते हुए भी इस समय घट नहीं दिखायी देता है, अर्थात् घट की उपलब्धि यथ समय, यथा स्थान पर नहीं होती है, तो हमें अन्ततः यह स्वीकार करना होगा कि इस स्थान पर घटभान है और इसका ज्ञान हमें अनुपलब्धि से हो रहा है।

नैयायिक और मीमांसक दोनों ने अभाव को 'पदार्थ' तो माना है किन्तु अनुपलब्धि को प्रमाण रूप में केवल मीमांसक ही मानते हैं अर्थात् मीमांसकों के अनुसार– 'अभाव' पदार्थ और प्रमाण दोनों है। आचार्य कुमारिल ने 'श्लोकवार्तिक' में कहा हैं कि–

''प्रमाणपंचकं यत्र वस्तुरूपे न ज्ञायते।
वस्तुसत्ताबोधार्थं तत्राभाव प्रमाणता।।''

अर्थात् अभाव के सन्दर्भ में अन्य पाँ प्रमाण चरितार्थ नहीं हो सकते। अतः उसके ज्ञान के लिए अनुपलब्धि को प्रमाण मानना आवश्यक है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार ज्ञान रूपी करण से उत्पन्न न होने वाले अभावानुभव के असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहा जाता है। अनुमान आदि से जन्य अतीन्द्रिय अभाव (यथा–अहं पुण्याभाववान् सुखाभावत्वात् : जो इस व्याप्ति ज्ञान पर निर्भर है कि 'यत्र–यत्र सुखाभावः तत्र–तत्र पुण्याभावः) में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए लक्षण में– ''ज्ञानकरणाजन्यत्व' इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। अनुमान व्याप्ति ज्ञान जन्य होता है, जबकि अनुपलब्धि में ऐसा नहीं होता।

भारतीय दर्शन में अभाव के स्वरूप को लेकर पर्याप्त मतभेद रहा है। भट्ट मीमांसक और अद्वैत वेदांतियों के अनुसार अभाव एक पदार्थ है और उसका ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। प्रभाकर मीमांसक और सांख्य की दृष्टि से सत्ता (भाव) और असत्ता (अभाव) ये एक ही वस्तु के दो रूप है। अभाव कोई पदार्थ नहीं है लेकिन उसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा हो जाता है।नैयायिक अभाव को एक पदार्थ मानते हैं और नैयायिकों का मानना है कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। वैशेषिक भी अभाव को एक पदार्थ मानते हैं, किन्तु अभाव का ज्ञान अनुमान से होता है। यहाँ पर वैशेषिक, नैयायिकों से भिन्ना मत रखते हैं। बौद्ध दार्शनिकों का मानना है कि अभाव कल्पना मात्र है तथा अभाव का ज्ञान अनुमान से ही हो जाता है। *यहाँ बौद्धों का मत वैशेषिक दार्शनिकों से साम्य रखता है।*

वेदान्त मतानुसार अनुपलब्धि अभाव का साक्षात ज्ञान है उदारणार्थ 'यहाँ वृक्ष नहीं है'। यहाँ वृक्ष के अभाव का ज्ञान एक साक्षात ज्ञान है, जबकि वेदान्त मतानुसार यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। बहुधा अनुपलब्धि को 'अभाव का

साक्षात ज्ञान' कहने से ऐसा प्रतीत होता है कि अनुपलब्धि प्रत्यक्ष ज्ञान है क्योंकि हम देख आए हैं कि बहुधा ज्ञानमीमांसक, यथा नव्य–नैयायिक और कभी–कभी स्वयं वेदान्ती भी प्रत्यक्ष को 'साक्षात ज्ञान' के पदों में ही परिभाषित करने के प्रति सचेश्ट प्रतीत होते है।

वेदान्ती अनुपलब्धि को 'साक्षात ज्ञान' के रूप के स्वीकार करते हुए भी इसे 'प्रत्यक्ष ज्ञान' से भिन्न मानते हैं। वेदान्त मतानुसार घट के अभाव का ज्ञान घट के अदर्शन के कारण होता है। अतः घट के अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं। वेदान्त परिभाषा में अनुपलब्धि की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि ज्ञानरूप कारण से उत्पन्न न होने वाला अभाव के अनुभव का जो असाधारण कारण हो वही अनुपलब्धि है।

प्रमा के स्वतन्त्र साधन के रूप में अनुपलब्धि

अनुपलब्धि विषयक तीन प्रकार के मत भारतीय ज्ञानमीमांसा में पाये जाते है। प्रथम श्रेणी के वे ज्ञानमीमांसक है जिनके अनुसार अनुपलब्धि स्वतन्त्र प्रमाण है। इस कोटि में भाट्ट मीमांसक और वेदान्ती आते है। द्वितीय श्रेणी में वे दार्शनिक हैं जो अभाव के ज्ञान के साधन के रूप में प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकृत करते हैं। वे अनुपलब्धि को ज्ञान का स्वतन्त्र साधन स्वीकृत नहीं करते। इस मत के समर्थकों के रूप में मुख्यतः नैयायिक तथा प्रभाकार मीमांसको का उल्लेख किया जा सकता है। तृतीय श्रेणी में वे ज्ञानमीमासंक है जो अभाव का ज्ञान अनुमानजन्य मानते हैं तथा अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण मानने से इंकार करते हैं। वैशेषिक तथा बौद्ध इस कोटि के प्रमुख ज्ञानमीमांसकों मे से हैं। अपने–अपने मतों के समर्थन में इस समस्त दार्शनिकों के अपने–अपने तर्क है।

अनुपलब्धि प्रत्यक्ष नहीं हैः नैयायिकों ने अनुपलब्धि को 'अनावश्यक' ही कहा है। उनके अनुसार अनुपलब्धि को मात्र 'अभाव' का प्रमाण माना जाता है। किन्तु मानते है कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है।

4.3.7 अन्य प्रमाण

संभव – किसी पदार्थ का ज्ञात पदार्थ के अन्तर्गत होने से ज्ञान संभव द्वारा होता है। जैसे जो गज के नाप को जाता है वह गिरह को अवश्य जानता है। जो किताब को जानता है वह यह भी जानता है कि पढ़ाई सौ एवं पाँच सौ ग्राम भी संभव है। पौराणिक लोग संभव प्रमाण स्वीकार करते हैं।

ऐतिध्य – जिस प्रमाण से यह जाना जाता है कि इति अर्थात् ऐसा निश्चयपूर्वक हुआ है। इसमें समस्त इतिहास आता है। यह ज्ञान किसी अज्ञात व्यक्ति के वचनों के उपर परम्परागत चला आता है। हमारे सभी परम्परागत विश्वास ऐतिध्य के अन्तर्गत हैं।

चेष्टा – चेष्टा को तान्त्रिकों ने स्वतन्त्र प्रमाण माना है। चेष्टा क्रिया विशेष को कहते हैं। यह क्रिया चेष्टा करने वाले व्यत्रिकी तथा जिसके प्रति चेष्टा की जाती है दूसरी हित साधिका होती है। व्यवहार में नेत्रों के भंगाभंग तथा हाथों के संकोच विकास की चेष्टा देखी जा सकती है। कामिनी के नेल संचालन से दर्शक उसके अनुराग को जान लेता है।

परिशेष –गणित शास्त्र में इस प्रमाण का प्रयोग होता है। इसमें अनेक पदार्थों से छटाई करते-करते वास्तविक ज्ञेय पदार्थ तक पहुंच जाते हैं।

4-4 सारांश

किसी विषय के यथार्थ ज्ञान को प्रमा तथा उसके असाधारण करण को प्रमाण माना जाता है। प्रमाण सिद्धान्त का उद्भव कब हुआ इस विषय में निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि वेदान्त की ज्ञान परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में देखें तो प्रमाण सिद्धान्त अनादि है। वेदान्त यह मानता है कि चैतन्य ही ज्ञान है और चैतन्य अनादि है तो ज्ञान का कारण प्रमाण भी अनादि होना चाहिए। साहित्यिक दृष्टि से निर्विवाद रूप से वेद प्राचीन ग्रन्थ हैं। वेदों में यद्यपि प्रमाण मीमांसा विधिवत् नहीं प्राप्त होती है लेकिन प्रमा एवं प्रमाण विषय पर चर्चा में यत्त-यत्त है। अत: वेद को प्रमाण सिद्धान्त का उत्स माना जा सकता है। वेद वेदान्त के बाद एक वर्ग वैदिक क्रिया कलाप और प्रमाण का खण्डन करने लगा जिसके प्रति निधि दार्शनिक चार्वाक हैं। चार्वाक ने एक मात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण माना और कुशल तार्किक की तरह अनुमान और शब्द प्रमाण (वेद) का खण्डन किया। महाभारत और गीता में चार्वाकों पर प्रतिक्रिया मिलती है। जैन दर्शन चार्वाक के अनुमान खण्डन का जोड़ दार खण्डन किया।

भारतीय प्रमाण मीमांसा अपने विकास यात्रा में विभिन्न पड़ावों से गुजरी। जहां चार्वाक ने एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार किया वहीं वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शन के अनुमान को भी प्रमाण माना। जैनियों ने शब्द प्रमाण को भी स्वीकार कर तीर्थंकारों के वचनों की प्रमाणिकता स्थापित की। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण को अनेक दर्शन प्रजालियों में स्वीकार किया गया। वैयायिरों ने उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण माना तो प्रमाकर मीमांसक अर्थापत्ति को तथा कुमारिल भट्ट एवं वेदान्ती अनुपलब्धि को प्रमाण मानते हैं।

सभी दर्शनों में विभिन्न प्रमाणों के परिभाषाओं में थोड़ा बहुत अन्तर है। जहां अन्य दर्शन इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं वहीं जैन दर्शन आत्म सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है और इन्द्रियार्थ जन्य ज्ञान को परोक्ष कहता है। अनुमान मानने वाले सभी दर्शन सम्प्रदायों में एक समसत्ता है कि सभी लिगड़ से लिगड़ी के ज्ञान को अनुमान मानते हैं। उपमान प्रमाण में न्याय की दृष्टि से मीमांसा और वेदान्त का दृष्टिकोण मिल है। अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि को नयाय अनुमान में समाहित करता है किन्तु मीमांसा और वेदान्त कुशल तर्क से उसे स्वतन्त्र प्रमाण सिद्ध करते हैं। इस विषय में मीमांसा एवं वेदान्त मत में समानता है। प्रमाण सिद्धान्त की विकास यात्रा इसके आगे पौराणिकों के संभव एवं ऐम्ध्यि तक जाती है। तान्त्रिक इस माला को चेष्टा प्रमाण तक पहुँचाते हैं। उन्नीसवीं सदी तकविभिन्न दर्शन सम्प्रदाय प्रमाण विवेचन पूर्वक इसके विकास में अपना योगदान देते रहे हैं।

4-5 पारिभाषिक शब्दावली

प्रमा - यथार्थ एवं नवीन अनुभव

प्रमा - प्रमाण का असाधारण कारण

व्यात्रि - दो पदार्थों का अविनाभव नियत साहचर्य

प्रत्यक्ष - इन्द्रिय एवं पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान

शब्द - आत्र वचन

अनुमान - हेतु से साध्य का ज्ञान जिसका आधार व्यात्रि है।

अर्थापत्ति - वह कल्पना जिसके बिना दृष्ट या श्रुत असंगति को दूर न किया जा सके।

अनुपलब्धि - अभाव के ज्ञान का साधन।

4-6 lUnHk'xzUFk

1. तर्कभाषा, केषव मिश्र, मोतीलाल बनारसी दास पब्लि प्रा. लि. 2017
2. द न्यायसूत्र ऑफ गौतम विथ द भाष्य ऑफ वात्सायन एण्ड द वार्तिक ऑफ उद्योतकर वैल्यूम : 1–4, महामहोपाध्याय गंगानाथ झा, मोतीलाल बनारसी दास पब्लि प्रा. लि. 2020,
3. अन्नंभट्ट द्वारा रचित तर्क संग्रह, डॉ नरेन्द्र कुमार षर्मा, हंस प्रकाषन, जयपुर, 2017
4. वेदान्त परिभाषा
5. ब्रह्मसूत्र–शाङ्करभाष्य
6. मीमांसा दर्शन तर्कपाद
7. The ways of understanding the Human Past, edited by D.P. Chatopadhyay, PHISPC

4-7 बोधप्रश्न

1. भारत में ज्ञान प्राप्त करने के कितने साधन है? इसका विस्तार से विवेचना कीजिए।
2. प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्रमाणों में श्रेष्ट हैं, इस कथन की समीक्षा कीजिए।
3. अनुमान प्रमाण के स्वरूप एवं सीमा पर प्रकाश डालिए।
4. मानव जीवन में उपमान और शब्द प्रमाण के महत्व पर प्रकाश डालिए।
5. प्रमाण के रूप में अनुपलब्धि और अर्थापत्ति की विवेचना कीजिए।

खण्ड- तीन (Section-C)
आख्यान परम्परा

इकाई-1 आख्यान की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 आख्यान का अर्थ
1.4 आख्यान का स्वरूप
1.5 सारांश
1.6 पारिभाषिक शब्दावली
1.7 सन्दर्भग्रन्थ
1.8 बोधप्रश्न

1.1 प्रस्तावना

आप यह पढ़ चुके है कि ज्ञान सम्प्रेषण के कई साधन प्रचलित है। वाद परम्परा में दो पक्षों के संवाद के माध्यम से नये ज्ञान की उद्भावना होती है। जब एक परिपक्व ज्ञाता किसी व्यापक एवं गूढ़ ज्ञान को सामान्य ज्ञानी या अपेक्षाकृत अल्पज्ञानी में ज्ञान को संक्रमित करना चाहता है। तो उसे कई परोक्ष विधियों का प्रयोग करना पड़ता है। ज्ञान सम्प्रेषण को परोक्ष विधियों में एक बहुप्रचलित एवं प्राचीन प्रणाली है आख्यान परम्परा। विश्व के सभी संस्कृतियों में किसी न किसी प्रकार आख्यान परम्परा प्राप्त होती है। पश्चिम में आख्यान परम्परा की कोटि में माइथॉलाजी को स्वीकार किया गया है किन्तु माइथॉलाजी में आख्यान की तुलना में कल्पना के तत्व अत्यधिक मात्रा में सम्मिलित रहता है अतः वहां माइथॉलाजी को काल्पनिक कथाओं के रूप में माना जाने लगा है। किन्तु आख्यान परम्परा की स्थिति ऐसी नहीं है। 'आख्यान' में 'ज्ञानात्मक तत्त्व' प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। आख्यानों के बीजतत्व संहिताओं में मिलने लगते हैं जो वेद के अन्य प्रारूपों में उपलब्ध होते हुए पुराणों तथा महाकाव्यों में प्रचुर मात्रा में मिलने लगते है। आख्यान का अध्ययन करने को प्रारम्भ में ही आख्यान का अर्थ एवं अवधारणा को जानना आवश्यक है। अतः इस इकाई में आप आख्यान का अर्थ, अवधारणा एवं वैशिष्टय का अध्ययन करने जा रहे है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप—

- आख्यान के अर्थ एवं आवधारणा को समझ सकेंगे।
- भारतीय ज्ञानपरम्परा के प्रमुख अंग के रूप में आख्यान के महत्त्व को समझ सकेंगे।
- आख्यान और माईथोलॉजी दोनों एक ही प्रकार की अवधारणा नही है, इस तथ्य को समझ सकेंगे।
- आख्यान के स्वरूप एवं अवधारणा से जुड़े हुए प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।

1.3 आख्यान का अर्थ

'आख्यान' शब्द आङ्पूर्वक 'ख्या' धातु से ल्युट् प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न होता है। कुछ आचार्यों ने इसका अर्थ – वर्णन, वृतान्त, विवरण तथा कथा माना है (शब्द परिवष्ट कोष पृ. 28)। संस्कृत-हिन्दी कोश (पृ. 139) एवं शब्दकल्पद्रुम (प्रथम भाग) में 'आख्यान' का अर्थ – बोलना, किसी पुरानी कहानी की ओर संकेत करना, कथा, कहानी (विशेषरूप से पौराणिक या काल्पनिक) आदि किया गया है। साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने "आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः" कहकर इसका अर्थ 'पूर्ववृत्त कथन' माना है। "**आख्यायते इति आख्यानम्'** इस निरूकित के अनुसार भी जो कुछ कहा जाये उसे आख्यान कहा जा सकता है, किन्तु यह शब्द प्राय: इतिहासादिके लिए प्रयुक्त होता है। वाचस्पत्यम् (भाग-2, पृ. 1347) में भी इस शब्दका अर्थ 'पूर्ववृत्त–कथन' बताया गया है। कथा के विभिन्न रूपों को स्वयंमें समाहित कर अपेक्षित अर्थवत्ता को प्रतिपादित करने वाले शब्दों में 'आख्यान' के अतिरिक्त' उपाख्यान' शब्द भी प्रयुक्त होता है। यह शब्द उप तथा आङ्.पूर्वक 'ख्या' धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से बनता है। यद्यपि 'आख्यान' तथा 'उपख्यान' दोनों समानार्थक हैं तथापि अनके पुराणों में ये शब्द पृथक्-पृथक् अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, तद्यथा-

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभि: कल्पशुद्धिभि:।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थ निशारदा:।।

उपर्युक्त श्लोक की टीका करते हुए श्रीधर स्वामी ने एक श्लोक उद्धृत किया है, जो दोनों शब्दों के पार्थक्य की ओर संकेत करता है, यथा –

स्वयं दृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानं बुधा:।
श्रुतस्यार्थस्य कथनभुपाख्यानं प्रचक्षते।।

इस श्लोक के अनुसार स्वयं दृष्ट अर्थ का कथन आख्यान है और श्रुत अर्थ का कथन उपाख्यान माना गया है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने तो कौटिल्य का मत उद्धृत करते हुए अपने ग्रन्थ वैदिक साहित्य एवं संस्कृति में ऐसा उल्लेख किया है कि कौटिल्य ने इतिहास के अन्तर्गत पुराण (प्राचीन आख्यान), इतिवृत (इतिहास) तथा आख्यायिका (कहानियाँ) तीनों की गणना की है। इस प्रकार इस शब्द के विषय में उपलब्ध विभिन्न आचार्यो के मत से ऐसा प्रतीत होता है कि शाब्दिक दृष्टि से इसका तात्पर्य – कथन, पूर्ववृक्त्रोक्ति, वृतान्त आदि है, परन्तु सम्प्रति यह शब्द पूर्ववृतान्त अथवा पोराणिक या काल्पनिक कहानियों के लिए रूढ हो चुका है; अत: पूर्ववृतान्तों को ही आख्यान मानना चाहिए।

हिन्दी साहित्य में सम्प्रति 'अख्यान' शब्द के लिए 'मिथ्क' श्ब्द का व्यवहार किया जा रहा है। वस्तुत: वैदिक एवं पौराणिक आख्यानों के लिए 'मिथक' शब्द का प्रयोग हिन्दी साहित्य में अधिक प्रचलित हो चुका है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस शब्द को अंग्रेजी में 'माइथोलॉजी' (Mythology) कहा है। सम्भवत: इसी के ध्वनि साम्य के कारण इस प्रयोग को बल मिला है। 'मिथ' मूलत: ग्रीक भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है – 'वाणी का विषय'। इसका तात्पर्यहै – एक कहानी, एक आख्यान, जो प्राचीन काल में सत्य माने जाते थे और जो कुछ रहस्यमय तथा गोपनीय अर्थ भी देते थे। उन्हीं पौराणिक कथाओं के लिए योरप में 'मिथ' शब्द का प्रयोग हुआ, परन्तु यह वास्तव में धार्मिक शब्द है, जिसका अर्थ – कोई पुरानी कहानी अथवा लोक विश्वास, धार्मिक विश्वासों एवं प्रकृति के रहस्यों के विश्लेषण से युक्त वृत्त, देवताओं और वीर-पुरूषों की पारम्परिक गाथा, पारम्परिक किंवदन्तियों से भरी कहान आदि माना गया है। अंग्रेजी में 'मिथ' कोरी कल्पना पर आधारित माना जाता है, जबकि मिथक का अभिप्राय अलौकिक्ता का पुट लिए हुए लोकानुभूति बताने वाली कथा से है। इसमें लौकिक तथा अलौकिक दोनों तत्वों का सम्मिश्रण होता है। अलौकिकता का सम्मिश्रण होने के कारण ही आख्यान लैला-मजनूँ, शीरी-फरहाद आदि लोककथाओं से सर्वथा भिन्न होता है।

1.4 आख्यान का स्वरूप

वैदिक साहित्य के परिशीलन से यह संकेत प्राप्त होता है कि प्राचीनकाल से ही मनुष्य अपनी भावनाओं और चेष्टाओं को अतिवृत्तात्मक रूप से अभिव्यक्त करने का अभ्यस्त रहा है। यद्यपि कहानी सुनता-सुनता तत्कालीन युग के सता-पूर्वनोद के साधनों में प्रमुख साधन था, परन्तुवेदों में आकत पद का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है। केवल 'चस्ड्. धातु के 'आख्यात्', 'अख्यत्' तथा 'चख्यथु:' आदि क्रिया रूपां (पदों) का अपने मूलार्थ में प्रयोग दृष्टिगोचर होता है (ऋ. 4.2.18, 7.60.3, 8.25.17, 4.14.1, 7.70.4)। वेदों में अनेक आख्यानों का वर्णन करते हुए भी उन्हें 'आख्यान संज्ञा से कहीं अभिहित नहीं किया गया है। इसी प्रकार 'आख्यायिका' पद का भी प्रयोग नहीं मिलत, परन्तु कथा पद का प्रयोग अवश्य हुआ है, परन्तु 'कहानी' अर्थ में

नहीं,प्रत्युत क्यों, कैसे, किस तरह आदि प्रश्नवाचक अर्थों में हुआ है यथा ऋ. 4.2.18, 7.60.3, 8.257 में किस प्रका; ऋ. 1.54.1, 8.8.4 में क्यों तथा ऋ. 1.185.1, 4.5.5; यजु. 2.32, 17.18 में कैसे अर्थ में प्रयुक्त है। आचार्य यास्क ने भी निरूवत में (9.30) कथा शब्द का कैसे अर्थ किया है। ऋग्वेद (1.167.6; 1.75) में 'गाथा' शब्द का प्रयोग निश्चियेन अनेक हुआ है, परन्तु इसका अर्थ भी 'कथा-कहानी' न होकर धात्वर्धक स्तुति प्रसंग है।

सर्वप्रथम ऐतरेय (3.25), शतपथ (13.4.3.2) आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा ऐतरेयारण्यक (2.3.4) और तैरिहीयारण्यक (1.6.3) ने ही वैदिक संवाद सूबतों में उपलब्ध वर्णनों को आख्यान संज्ञा प्रदान की है। उनमें अनेक प्रसंगों में 'आख्यानम्' (ऐत. उा. 2.3.4, शत. ब्रा. (13.4.3.2), 'आख्यान' वेद् (ऐत. ब्रा. 3.251) तथा आख्यायिका (तैत्ति. आ. 1.6.3) शब्दों का प्रयोग हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण के 33वें अध्याय में शुनशोर के वणर्न के प्रसंग में स्पष्टत: 'शौन:शेषम् आख्यानम्' नानय द्वारा इसे 'आख्यान' संज्ञा दी है। इसी प्रकार शांखायेन श्रौतसूत्र (15.29) में भी 'तदेतत् शैन: शैषम् आख्यानम्' कहते हुए इन्हें आख्यान माना गया है। आचार्य मारक ने भी निरूवत में (5.21.9.4) वेद-शाखा की एक शैली के रूप में ऐतिहासिको के मत या आख्यान-विषयक मत का उल्लेख किया है जिनसे इन आख्यानों के स्वरूप का बोध होता है। ऐतरेय ब्राह्मण का 'शुन:शेप' आख्यान होता नामक कृत्विक द्वारा राजसूय यज्ञ के प्रसंग में कहा गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों से यह भी ज्ञात होता है कि अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में अश्व को स्वेच्छता भ्रमणार्थ छोड़ देने पर आख्यानों की जो श्रृंखला चलती है, उसे 'परिप्लव' कहा जाता था (शत. ब्रा. 13.4.3)। इससे ऐसा पता चलता है कि सर्वप्रथम ब्राह्मण ग्रन्थों में आख्यान की सत्ता का प्रमाण उपलब्ध होता है।

वस्तुत: वेदव्याख्या को प्राथमिक रूप ब्राह्मण ग्र्रनथों में देखा जा सकता है। इन ग्रन्थों में याज्ञिक परिवेश अथवा यज्ञ में विनियुक्त मन्त्रों की व्याख्यान कई शैलियों में किया गया है। यहां **'विधि'** प्रथम शैली है और **'अर्थवाद'** दूसरी शैली है। इन दोनों से ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय प्रति पादित होते हैं तथा उनके स्वरूप का भी निर्माण होता है। जैसा कि इस विषय में आपस्तम्ब ने स्पष्ट कहा है – "कर्मवोदना ब्राह्मणानि ब्राह्मणशेषोडर्थवाद"। ऋग्वेदभाष्य भूमिकर में आचार्य सायण ने भी सही माना हैं – "द्विविद्या ब्राह्मणं विधिरर्थवदश्चेति"। इन्हीं दोनों शैलियों से ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञपरक मन्त्रों की व्याख्या की गयी है। विधि शैली में याणिक कर्मों में मन्त्रों के विशिष्ट विनियोग की प्रक्रिया के साथ-साथ यज्ञ में किन-किन देवताओं को किस-किस द्रव्य की आहुति दी जायेगी, किसके द्वारा आहुति प्रदान की जाएगी, किस दिशा और किस क्रम से आहुति दी जायेगी आदि अनेक कार्यों का विधान बताया जाता है। यथा ऐतरेय-ब्राह्मण स्पष्टत: यह बताता है कि जो कर्म किया जाता है, उसी कम्र की बोध कराने वालो ऋक्, यजुष् मन्त्र उस कर्म में विनियुक्त होगा। यही कर्म रूप–समृद्धि है और रूप समृद्धि ही यज्ञ की समृद्धि है – "**एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यदरूपसमृद्धं यत्कर्मक्रियमाणम्र गभिर्वदति** (ऐ. ब्रा. 3.5)। इसकी पुष्टि आचार्य यास्क ने भी निरूक्त में यह कहते हुए की है कि – **"पुरूषविद्या अनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे"** (1.2)। रूपसमृद्धि के लिए ब्राह्मणों में यज्ञ में मन्त्रविनियोग के कई आधार बताए गये हैं – यथा-देवता, छन्द, ऋषि, मन्त्रगतपद, संख्या आदि। मन्त्रों के विनियोग में रूपसमृद्धि ब्राह्मण ग्रन्थों की मन्त्रव्याख्या की एक प्रक्रिया है, जो उसकी अर्थवाद शैली का अभिन्न अंग है। अर्थवाद के माध्यम से विधि की प्रशंसा और निषेधपरक कार्यों की निन्दा की जाती है। इन्हीं अर्थवादों आख्यानों का विकास हुआ है। ये अर्थवाद ब्राह्मणग्रन्थों के विषय के

रूप में 20 प्रकम् के माने गए हैं, जैसा कि शबरस्वामी ने मीमांसाभाष्य (3.1.8) में इस प्रकम् अभिव्यक्त करते है –

हेतुर्निवचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधि:।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य हि।।

इन्हीं अर्थवादों के माध्यम से वेदों के अध्यात्म तथा अधिदेवपरक व्याख्यान की परम्परा भी ब्राह्मण-ग्रन्थों से विकसित हुई है। अत: ब्राह्मण के अर्थवाद शैली से आख्यान-परम्परा का उद्भव माना जाना चाहिए।

ब्राह्मण-ग्रन्थों की भान्ति आचार्य याहक ने भी उषा, सूर्य, सरमा-पणि, यम-यमी, विश्वमित्र-नदी आदि संवादात्मक अथवा आख्यानात्मक सूक्तों के मन्त्रों को उद्धृत करते हुए उन्हें 'आख्यान' संज्ञा से अभिहित किया है (नि. 5.21, 11.25, 11.34)। कतिपय सूत्र-ग्रन्थों में भी इसी अर्थ में इस शब्द के प्रयोग मिलता है। एतदर्थ (वैश्वा. श्रौत. 36.24, आश्वा. श्रौत., 9.3.13, शांखा. श्रौत. 15.27.1) द्रस्टव्य हैं। आचार्य रौनक ने वर्णन शैली के आधार पर मन्त्रों के अनेक विभाग किये हैं, तद्यथा-सतुति, निन्दा, प्रशंसा, उपदेश, विलाप आदि। उनमें 'पुरूखा-उर्वशी मूक्त (आ. 10.95) को उन्होंने आख्यान की संज्ञा दी है (द्रस्टव्य-बृहदेवता, 1.53: आख्यानं तु ....) बृहदेवता (1.36) में ही उन्होंने इसे एक पवित्र आख्यान बताया है। इसी ग्रन्थ में अन्यत्र उन्होंने परस्पर आहवानात्मक होने के कारण इसे 'आख्यानद्ध माना है, जबकि आचार्य यास्क इसे संवाद और शौनक इतिहास की संज्ञा देते हैं, यथा –

आहवानं प्रति चाख्यानम् इतरेत रयोरिदम्।
संवादं मन्यते यास्क इतिहासं तु शौनक:।। (7.153)

ऋग्वेद के कुछ संवाद सूत्रों में कतिपय पश्चात्य विद्वान प्राचीन कथाओं के अवशेष होने की आशंका करते हैं, परन्तु बलदेव उपाध्याय के मत में इन सूक्तों के स्वरूप के विषय में विदवानों में गहरा मतभेद है। डॉ ओल्डेन वर्ग की दृष्टि में ये सूत्र प्राचीन आख्यानों के अवशिष्ट रूप हैं। इनका मत हैं कि ऋग्वेदकालीन 'आख्यान' गधपधात्मक थे। पधा अधिक रोचक होने के कारण अवशिष्ट रह गया, जब तक गद्य भाग केवल कथात्मक होने से धीरे-धीरे लुप्त हो गया। उनकी इस मान्यता का आधार संस्कृत-साहित्य के पिछले युग में वर्तमान चम्पूशैली का साहित्य है। उन्हीं के आधार पर इन्होंने संवाद सूत्रों को 'आख्यान' के नाम से अभिहित किया है। इनके अतिरिक्त डॉ. सिल्वॉ लेवी, डॉ. भ्रोदर, डॉ. हर्टज आदि पाश्चात्य सिद्धांतों ने संवाद सूत्रे को नाटक का अवशिष्ट माना है, जिनको संगीत तथा पात्र के उचित सन्निवेश कर देने पर यज्ञों के अवसरों पर अभिनय होता था। डॉ. विन्टरनित्स इन आख्यानात्मक सूक्तों को प्राचीन लोकगीत काव्य का नमूना मानते हैं। ये अर्धकथात्मक तथा अर्धरूपकात्मक होने से कथानक तथा नाटक के सम्मिश्रण माने गये हैं। वे इन्हीं से नाटकों की उत्पत्ति मानते हैं।

इस प्रसंग में ध्यातव्य तथ्य यह है कि यदि सूक्तगन इन मन्त्रों में पूर्ववृतान्त, काल्पनिक कहानियों आदि की सत्ता मानकर इन्हें आख्यान या उपाख्यान पर प्रश्न चिह्न लग जाएगा; अत: श्रीधर स्वामी द्वारा संकेतित आख्यान रूप 'दृष्टार्थ' क्या है? इस पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। आचार्य यास्क वेद मन्त्रों में अनेकत्र इतिहास तथा स्तुति का मिश्रण मानते हैं, तथया – "त्रितं कूपेडवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृड्.मश्रं भवति (नि. 4.6)। पुन: वे मन्त्रगत इतिहासों अथवा आख्यानों के रहस्य को प्रकाशित करते हुए यह मानते हैं कि मन्त्रगत

अर्थ (तत्व) का सम्यक् दर्शन करने वाले ऋषि की भी इस आख्यानांश के संयोग के लिए प्रीति होती है, अर्थात् वह आख्यान के माध्यम से उसे अभिव्यक्त करना चाहता है, तथथा – **"ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति-आख्यान संयुक्ता"** (नि. 10.10) मन्त्र, में इस इतिहासात्मक अथवा आख्यानात्मक अंश का उद्देश्य सम्प्रेषणीय अर्थ के सम्प्रेषणार्थ मनोहारिता या अलंकारिता की सृष्टि है। आचार्य यास्क के उपर्युक्त वचन से यह सुस्पष्ट है कि ऋषि द्वारा दृष्ट अर्थ (मन्त्रगत प्रतिपाद्य) अन्य होता है तथा उसके साथ मनोरम सम्प्रेषणार्थ संयुक्त इतिहास अथवा आख्यान या आख्यायिका आदि मुख्यार्थ के रूप में उससे सर्वथा भिन्न होता है। इतिहास अथवा आख्यान मूलमन्त्र का अंग है पर उसे ऋषि कत्तृर्क स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इतिहास अथवा आख्यान तत्व से संयुक्त मन्त्र का ऋषिदर्शन से पूर्व प्राग्भाव होता है। आचार्य यास्क ने '**धर्म**' अर्थात् 'सत्यतत्व' का साक्षात्कार करने वाले व्यक्तियों को ऋषि माना है, तधथा **"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु:। ते वदेभ्यो डसाक्षात्कृत धर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादु"** (नि. 1.20)। स्कन्दस्वामी ने अकेन्द्रित तथा असंवेद्य '**धर्म**' के साक्षात्कार के असंम्भव लेने के कारण इस प्रसंग में 'धर्म' शब्द का तात्पर्य मन्त्र तथा ब्राह्मण ग्रहण किया है, यथा – **"धर्मस्यातीन्द्रियत्वात् साक्षात्करणस्या सम्भवलात धर्मश्ब्देनात्र तदर्थ मन्त्रब्राहमणमुच्यते"। तत्साक्षात्कृतो धर्मो यैस्ते साक्षात्कृत धर्माण ऋषयअ"।** इस प्रसंग में आचार्य यास्क एक ब्राह्मण वचन उद्धृत करते हुए 'ऋषि' शब्द को गत्यर्थक 'कृष' धातु से निष्पन्न मानते हैं जिसमें यह कहा गया है कि ऋषियों का ऋषित्व इसमें है कि तपस्यमान (समाधिस्थ) अवस्था में इनके पास स्वयम्भू ब्रह्म (अकृत्क स्वरूपत: नित्य मन्त्र) आया था, यथा – **"तद्यदेनां-स्तपस्य मानान् ब्रह्म स्वयम्भू अभ्यानर्षत् ऋषयो डभवंस्त दृषीणाऋषित्वमिति विज्ञायते"** (नि. 2.11) शतपथ-ब्राह्मणा (6.1.1.1) से भी यह बात सिद्ध होती है। इस प्रकार उपर्युक्त वचनों के अनुसार मन्त्रगत इतिहास अथवा आख्यान आदि भी मूलमन्त्र का भाग है, पर यह मन्त्रगत इतिहास अथवा आख्यान औपचारिक, अर्थवादात्मक, आलंकारिक तथा प्रतीकात्मक होता है, वास्तविक व्यक्ति विशेषों से सम्बद्ध विवरण नहीं होता। आचार्यों का मत भी द्रष्टव्य है। सर्वप्रथम इस प्रसंग में कुछ अत्यन्त आचार्य दुर्ग (निरूक्त के वृत्तिकार) का मत जानना आवश्यक है। वेद के प्रसंग में 'इतिहास' का लक्षण्करते हुए उन्होंने यह माना है कि जब भाग्यवश उदित अर्थ के अवभासनार्थ किसी आध्यात्मिक, आछित दैनिक अथवा आधिभौतिक अर्थ का आख्यान (कथन) किया जाता है तो उसे इतिहास कहते हैं, वह सब प्रकार का इतिहास नित्य होता है। उसका स्वार्थ (मुख्यार्थ, वाच्यार्थ, साक्षात्संकेतितार्थ) विवक्षा का विषय नहीं होता, प्रत्युत उसका तात्पर्य तो उस अर्थ के प्रतिपत्ताओं अर्थात् बोद्धाओं के प्रति उपदेश में होता है, जैसाकि निरूवते, 10.26 पर दुर्गवृत्ति से स्वत: स्पष्ट है –

"य: कश्चिछाध्यात्मिकाधि दैविकधिभौतिको कार्य आख्यायते दिष्ट्युदितार्थावभासनार्यं स इतिहास इल्युच्यतो से पुरिरितिस: सर्वप्रकारो नित्यमविव क्षिनस्वार्थस्वद र्थप्रतिपत्तृणाभुपदेशपरटवातु।" इस विषय में आचार्य वररूचि भी मन्त्रागत आख्यानों को औपचारिक ही मानते हैं, क्योंकि वैसा न करने से वेद के नित्यत्व का विरोध होता है, तद्यथा – **"औपचारिकोडयं मन्त्रेस्वाख्यानसमय:। नित्यत्वविरोधातु। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैयक्ताना सिद्धान्त:।"** इसी लिए निरूक्त के भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने भी यह स्वीकार किया है कि नित्य वेद में अनित्य पदार्थों व्यक्ति विशेषों आदि का वर्णन कैसे हो सकता है?, अत: आख्यानस्वरूप मन्त्रों की योजना यजमान तथा नित्यपदार्थों में कर लेनी

चाहिए; क्योंकि मन्त्रों में आख्यानसमय औपचारिक है, परमार्थत: नित्यपक्ष ही सत्य है, यथा – **"एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेशु योजना कर्त्तव्या। एष:शास्त्रे सिद्धान्त:। औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यान समय:। परमार्थ नित्यपक्ष** इतिसिद्धम्" (नि. 2.12 पर टीका)। शबरस्वामी का भी यही मत है कि असत् (अघटित या कल्पित) वृतान्त का अन्वाख्यान स्तुति द्वारा उसकी प्रशंसा व्यक्त करने के लिए किया जाता है। वह वृतान्त ज्ञापन के निमित न होकर प्ररोचनामात्र के लिए होता है, तधथा – **"असद्वृतृतान्तान्वाख्यानं स्तुत्यर्थेन प्रशंसाया गम्यमानत्वात् (जैमिनी सूत्र 1.2.10 पर भाष्य); वृतान्तान्वाख्यानं न वृतान्तज्ञापनीय। किं तर्हि? प्ररोचनायैव"** (जैमिनी. 1.2.30 पर भाष्य)।

अत: मन्त्रगत इतिहास अथवा आख्यान प्रतिपत्ताओं अर्थात् बौद्धाओं के प्रति किसी आध्यात्मिक, आधिदैविक अथवा आधिभौतिक नित्य अर्थ के उपदेश के निमित प्रतीकमात्र हैं, मन्त्रगत प्राप्य आपातत: व्यक्तिगत नाम प्रतीत होने वाले शब्द भी उस नित्य अर्थ के प्रतीक हैं, किन्हीं व्यक्तियों के वाचन नहीं हैं।

वैदिक वाड्मय एवं वेदाड़ओ के पश्चात् लौकिक-संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम रामायण' (वाल्मीकिरामायण) तथा 'महाभारत' में कथा-तत्व प्रधान ऐतिहासिक घटनाओं और इतिवृत्तात्मक वर्णनों को 'आख्यान' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। रामायण में सम्पूर्ण रामकथा, अन्तर्कथाओं वृतान्तों और सन्देश के लिए 'आख्यान' पद का प्रयोग हुआ है (वा. रा. युद्ध. 128.121, 131.122, 113.28 इत्यादि)। महाभारत में नलोपाख्यान, रामोपाख्यान आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं (महाभा., वन, अ. 53, 279)। इसी प्रकार उद्योगपर्व में 'इन्द्रविजय' नामक प्रसिद्ध आख्यान है तथा आरण्यक पर्व में 'यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद' को आख्यान कहा गया है। इतना ही नहीं वायु पुराण के अनुसार पुराण-संहिता की रचना अनेक आख्यानों, उपाख्यानों और गाथाओं के संग्रह से की गयी है, तद्यथा (वायु. पु. अ. 60) –

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभि. कुलकर्मभि:।
पुराणसंहिता चक्रे पुराणार्थ विशारद:।

जैन आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में एक व्यक्ति द्वारा एक समय में कही जाने वाली कथा को 'आख्यान' माना है, यथा: **आख्यानकसज्ञां तल्लभते यदाभिनयन पठन् गायन्।**

ग्रंन्धिक: एक: कथयति गोवन्दवद् अवहिते सदसि।।

अत: वाल्मीकिरामायण में सम्पूर्ण रामकथा को 'आख्यान' संज्ञा से कहा गया है, यथा –

आश्चर्यमिदमाख्यानं मुनिना संप्रकीर्तितम्। (बाल. 4.26)
एवमेतत् पुरावृत्तम् आख्यानं भद्रमस्तुव: (युद्ध, 131-122)

कतिपय साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने भी इस सन्दर्भ में अपने-अपने अभिभत प्रस्तुत किये हैं। आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार में कथा, आंख्यायिका और गाथा के पृथक् लक्षण दिए हैं।

उन्होंने गद्य में युनत संस्कृत की रचना को आख्यायिका माना है जिसमें शब्द अर्थ एवं समस्त अविकार द्वारा श्रेय हो, दो तीन लाईन मिसिंग है परन्तु उनके मत में संस्कृत, असंस्कृत (प्राकृत) या अपभ्रंश की रचना, जिसमें न तो ववत्र-अपववत्र द्वन्द हों और न उच्छवास हो, कथा कहलाती है, यथा –

न ववत्रापरवकत्राभ्यां युक्ता नोचक्रवास वत्यपि।

संस्कृतासंस्कृता चेष्टा कथाडपभ्रांशभाक्तथा।। 1.28।।

आचार्य निश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में तत्कालीन समस्त में उपलब्ध रचनाओं के आधार पर 'कथा' तथा आख्यायिका विद्या में कुछ भिन्नता प्रदर्शित करते हुए आख्यानों को कथा और आख्यायिका के अन्तर्गत ही माना है, यथा, (सा. द. 6.335) : "**आख्यानादयश्च कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ता:" आचार्य दण्डी की भी यही मान्यता है, यथा अत्रेवान्तर्भविषन्ति शेषश्चाख्यान जातय' (काव्यदर्श, 1.23, 28)।** साहित्य दर्पण में प्राचीन आख्यानों के उदाहरण नहीं दिये गये हैं, परन्तु कथा के प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में 'कादम्बरी' और 'आख्यायिका' के लिए हर्षचरित को उद्धृत किया गया है। जब कि स्वयं कादम्बरी में आख्यानक को आख्यायिका से भिन्न रूप में परिगणित किया गया है तथा 'कंसवध' आदि के उदाहरण देकर आख्यान को ऐतिहासिक वृतान्त माना गया है, यथा "**आख्यानक आख्यायिका इतिहास पुराणा कर्णनेन"** (काद. 7)।

मनुस्मृति में 'आख्यान' का प्रयोग प्राचीन कथा के लिए हुआ है, यथा "आख्यानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च।। (मनु. 3.232)। इसी प्रकार मातंगलीता ग्रन्थ में 'उर्वशी अप्सरा और पुरूरवां की कथा को आख्यान के रूप में उद्धृत किया गया है, यथा – **"अप्सरा: पुरूरसं चकमे, इत्याख्यानविद् आचक्षते"** (2)। इनके अतिरिक्त पुराणों में सर्वप्रथम स्पष्टत: पुरातन या अलौकिक कथाओं को 'आख्यान' कहा गया है और इनके .... को 'आख्यान कुशल' विशेषण से अभिहित किया गया है (विष्णु पु. 3.6.15)। पुराणों में कथा, आख्यान, पुरावृत्त शब्द पर्यायवाची शब्दके रूप में भी प्रयुक्त हैं (द्रष्टव्य विष्णु पु. 3.6.15, अग्नि पु., 16.17)। अत: उपर्युक्त विवरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पुरातन वृत्तान्त, अथवा अलौकिक कथाओं को आख्यान कहा जाता रहा है, वस्तुत: इन आख्यानों के मूलरूप की अभिव्यक्ति प्रथमत: ऋग्वेद या वेदमन्त्रों में ही प्राप्त होती है। परवर्ती काल में ये आख्यान परिस्थितियों के परिवर्तन से अथवा नवीन युग की नवीन कल्पना के प्रभाव से परिवर्तित और परिवृंहित होकर विकसित होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

1.5 साराश

इस प्रकार वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध ये इतिहास अथवा आख्यान परवर्ती वैदिक ग्रन्थों, यथा ब्राह्मणों आख्यकों, उपनिषदों, आचार्य या एक विरचित निरूक्त, शौनकीय वृहदेवता, कात्यायनकृत अक्स र्बानुक्रमणी षड्गुरू शिष्य रचित वेदार्थदीपिका, सायणकृत भाष्यों, या द्वि वेदकृत नीति मण्जरी आदि में पल्लवित एवं विकसित हुए हैं। सर्वप्रथम ब्राह्मण ग्रन्थों में अर्थवाद के रूप में इनका आरम्भ हुआ था। यह परम्परा लौकिक संस्कृत साहित्य के प्रमुख काव्यों में भी निरन्तर विकसित होती रही है। वैदिकोत्तर काल में यद्यपि इन इतिहासों अथवा आख्यानों को वास्तविक रहस्य भले ही लोक मानस में तिरोहित हो गया हो तथापि उनकी उपदेशात्मकता में कभी कमी नहीं आयी प्रत्युत कवित-प्रतिभा ने उन्हें उत्तरोत्तर हृदयग्राही शैली में प्रस्तुतकिया है। ये वैदिक आख्यान, ऋषियों, देवाताओं, राजाओं अप्सराओं एवं अन्य प्राकृतिक तत्वों से सम्बद्ध हैं।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

शब्द	अर्थ
तिरोहित	छिपा हुआ

उत्तहरोत्तर लगातार

1.7 सन्दर्भग्रन्थ

1. विष्णु पुराण
2. कादम्बरी
3. वाल्मीकिरामायण
4. जैमिनी सूत्र

1.8 बोधप्रश्न

1.‘आख्यान‘ के अर्थ एवं अवधारणा को स्पष्ट कीजिए

2.भारतीय ज्ञानपरम्परा के अन्तर्गत आख्यान के महत्त्व को स्पष्ट करें।

3.‘आख्यान‘ तथा माइथॉलॉजी के मध्य अन्तर को स्पष्ट कीजिए

4.‘आख्यान केवल कल्पनात्मक कथा नहीं है।‘ इस कथन की समीक्षा कीजिए।

इकाई-2 वैदिक एवं पौराणिक आख्यान

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 वैदिक आख्यान परम्परा

2.3.1 इन्द्र का गौतम की पत्नी का जारतत्त्व

2.3.2 इन्द्र वृत्त युद्ध

2.3.3 शुनःशेपाख्यान

2.4 पौराणिक आख्यान परम्परा

2.5 पौराणिक साहित्य में आख्यानों का स्वरूप

2.5.1 इन्द्र अहिल्या आख्यान

2.5.2 चन्द्रमा द्वारा गुरूपालि तारा का अपहरण

2.5.3 अगस्त्य द्वारा दक्षिण दिशा का सेवन एवं विन्ध्याचल को बढ़ने से रोकना

2.6 सारांश

2.7 पारिभाषिक शब्दावली

2.8 सन्दर्भग्रन्थ

2.9 बोधप्रश्न

2.1 प्रस्तावना

वैदिक वाङ्मय में आख्यान शब्द का प्रयोग हुआ है। यास्क ने निरूक्त में कई बार इस पद का उल्लेख किया है। 'आ' उपसर्ग पूर्वक ख्या का अर्थ है- भलिभाँति प्रकट करना।

अभिनवगुप्त ने आख्यान को इष्टार्थ कथन कहा है। अर्थात् देखी गई घटनाओं या वस्तुओं की तथ्यता का कथन ही आख्यान है। वस्तुतः हम किसी भी वस्तु या घटना को लगभग आधा ही जान पाते हैं। जानने के साध ज्ञानेन्द्रियाँ अथवा मन हैं। और इनकी ज्ञेय के प्रति प्रवृत्ति अपूर्ण ही होती है। किसी भी वस्तु या घटना भी वास्तविकता का पूरा ज्ञान इन्द्रियों का मन द्वारा पूर्णतः नहीं हो सकता है। वे पदार्थ कभी-कभी बुद्धिगोचर भी नहीं हो पाते हैं। पूर्णतया ज्ञान तो चेतना के अन्तःप्रकाश द्वारा ही होती है। इसलिए 'आख्यान' द्वारा दृष्टार्थकथन का तात्पर्य है कि वे आभ्यन्तर चक्षु से ऋषियों द्वारा ग्राह्या अनुभूतियों का विवरण हैं। मोटे तौर पर ये वैदिक आख्यान एक रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। जिनके अन्दर कोई देशातीत और कालातीत तथ्य अंकित होता है। जिसे प्रतीक सादृश्य रूपक या अन्योक्ति किसी भी विधा के द्वारा उसमें अंकित होता है। वैदिक आख्यानों की रहस्यमयता का प्रमाण है कालान्तर में भारतीय ग्रन्थों में हुआ उनका बहुविध विस्तार। फलतः भारतीय कला, नाट्य और साहित्य में वैदिक आख्यानों के सन्दर्भ बिखरे पड़े हैं।

वैदिक आख्यान कथा नहीं है। इसलिए उनसे मात्र सामाजिक ऐतिहासिक और भौतिक अर्थ ग्रहण करना उनके प्रतिपाद्य की गरिमा को खण्डित करता है। वे किसी व्यापक और संश्लिष्ट व्यापार के अंग है, इसलिए उनका वर्गीकरण सम्भव नहीं है। उसके भीतर कई गहरे अर्थ निहित हो सकते हैं। किसी वैदिक आख्यान के अनेक उद्देश्यों में से प्रधान उद्देश्य के आधार पर और उस उद्देश्य के वाचक उपादानों की प्रकृति के आधार पर वैदिक आख्यानों के विभाजन का केवल एक प्रयत्न किया जा सकता है। जैसे- सृष्टि के क्रम को समझाने वाले आख्यान, मनुष्य और देवता के सम्बन्ध को बताने वाले आख्यान, सृष्टि रहस्य की व्याख्या करने वाले आख्यान, प्राकृतिक परिवर्तनों की व्याख्या करने वाले आख्यान, देवताओं के परस्पर सामंजस्य पर प्रकाश डालने वाले आख्यान, नैतिक नियमों को स्पष्ट करने वाले आख्यान, कर्म की महत्ता बताने वाले आख्यान, ज्ञान की महिमा को द्योतित करने वाले आख्यान आदि। देव, दानव, ऋषि, मुनि, राजा, जड़-चेतन, प्रकृति, पशु, पक्षी, नदी, पर्वत, समुद्र आदि के माध्यम से वैदिक आख्यान सत्य तत्त्वों का संश्लिष्ट या आंशिक रूप में ख्यापन करते हैं।

वैदिक आख्यान की विषय-व्याप्ति का विश्लेषण उसके सघन आध्यात्मिक अर्थ के तल तक पहुँचकर ही हो सकता। अन्यथा कुछ अर्थों का अनुमान लगाया जा सकता है या फिर संकेत रूप में कुछ तात्पर्य ग्रहण किये जा सकते हैं। सरलता से कथात्मक शैली में रोचकता उत्पन्न करते हुए गहरे से गहरे रूप सत्य का प्रख्यापन वैदिक आख्यान का प्रमुख प्रतिपाद्य होता है।

वैदिक आख्यानों की रचनात्मक विशेषताएँ

कलात्मक दृष्टि से वैदिक आख्यान सुन्दर संरचनाओं के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें नाटकीय उतार चढ़ाव प्राप्त होता है। आकार में ये प्रायः छोटे होते हैं। इनकी भाषा सरल होने पर भी पारदर्शी, गहरी और बहुस्तरीय होती हैं, जिसमें यदि बुद्धि की पैठ हो जाए तो अर्थ की परतें एक के बाद एक स्वयं खुल जाती हैं। इनमें शब्द का सन्तुलित और सीमित प्रयोग प्रभाव डालता है।

वैदिक आख्यानों में घटनाओं का विस्तार सीधा न होकर गोलाकार रूप में होता है। घटना धूमकर वहीं पर वापस आ सकती है। जैसे वृत्त के अन्दर इसके वृत्त घूम सकते हैं। उसी प्रकार एक घटना से कितनी ही घटना निकल सकती है। इसलिए वैदिक आख्यान फैल-फैल कर बड़े-बड़े रूपक बन गये हैं। दौष्यन्ति भरत का आख्यान अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक बना। पुरूरवा-उर्वशी संवाद विक्रर्मविशीयम् नाटक बना। वैदिक आख्यान संक्षिप्त और सूत्ररूप में घटनाओं का संकेत भर कर देते हैं।

इन आख्यनों के अन्तिम भाग में एक पूर्णता का भाव दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए ये कालातीत हैं। इतिहास से बाहर हैं और सनातन हैं। कभी-कभी आख्यानों की संरचना में शब्दों या वाक्यों की पुनरूक्ति दिखाई देती है। शैलीगत इस विशेषता का प्रयोजन बल अथवा प्रभाव उत्पन्न करता है।

कतिपय ऋग्वैदिक आख्यानों का स्वरूप

यहाँ उन प्रमुख ऋग्वैदिक आख्यानों का उल्लेख करना आवश्यक है जिनके कथानक का विकास बृहदेवता, नीतिमञ्जरी, ब्राह्मण या अन्याय उत्तरवर्ती ग्रन्थों में पर्याप्त मात्रा में हुआ है।

प्रायः सभी संवाद सूक्तों में आख्यानों के संकेतों का आभास मिलता है। विश्वामित्र नदी संवाद नदियों के अधिदेवत्व और उनके मातृतया स्वरूप का निर्देश करता है। यमयमी संवाद सूक्त भाई और बहिन के वैवाहिक सम्बन्ध के निषेध को रेखांकित करता है। राजा रथवीति और ऋषि श्यावाश्व का आख्यान ऋषिभाव की प्रतिष्ठा के निमित्त है। आर्जीगर्ति शुनःशेप और वरूण की कथा के द्वारा सदाचार के मार्ग पर चलने का शाश्वत संदेश दिया गया है। इन्द्र ने अगस्त्य ऋषि के साथ संवाद में धर्म का गूढ़ रहस्य बताते हुए कहा है कि धार्मिक कार्य को करने में कभी भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। धर्म का निश्चय करने वाला चित्त दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है।

नूनमस्ति जो श्वः कस्तद् वेद यद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि सञ्चरेण्यमुताधीतं विनश्यति।

इस उपदेश की पृष्ठभूमि के लिए इन्द्र का देर से पहुँचना और आगस्त्य का मरूतों को हवि दे देना आदि वृतांत माध्यम बनाया गया है। नाभानेदिष्ठ आख्यान में संकेतिक रूप से यह तथ्य समझाया गया है कि इस सृष्टि में चेतन अचेतन रूप जितने भी पदार्थ है, उनका स्वामित्व एवं उपयोग का सम्बन्ध मनुष्य तक ही सीमित नहीं है।

ऋग्वैदिक आख्यानों में अध्यात्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों और विचारों का निर्देश भी बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। बार-बार उल्लिखित किये जाने वाला देवों और असुरों का संघर्ष आदि भौतिक अर्थ में प्रकाश और अन्धकार का संघर्ष है। तो आध्यात्मिक दृष्टि में सुवृत्तियों और दुष्प्रवृत्तियों को द्वन्द्व का संसूचक कहा जा सकता है जो मानवीय अन्तःकण में नित्यप्रति चलता रहता है। दाशराज्ञ युद्ध का ऋग्वैदिक उपाख्यान लाक्षणिक रूप में बड़ी सरलता से इस ऋषि दृष्टि को प्रस्तुत करता है कि इन्द्र रूप जीवात्मा की सहायता से सुदास रूप सुन्दर संकल्प दस राजा रूप अनेक शक्तियों पर भी जय प्राप्त कर सकता है।

कुछ ऋग्वैदिक आख्यानों के अन्तर्निहित स्वरूप को संक्षेप में समझाने का यहाँ प्रयास किया गया है। प्रत्येक आख्यान में असीम अर्थ की सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं। ऊपरी तौर पर उनसे सामाजिक, नैतिक और व्यावहारिक शिक्षाओं का अधिग्रहण किया जा सकता है। पर उसी को आख्यान का वास्तविक स्वरूप मानकर सन्तोष कर लेना उचित नहीं। वेद के वेदत्व के अनुरूप

आख्यानों से समन्तात् है आख्यापित् अर्थ अध्येताओं के लिए सदा ही गवेषणीय बने रहेंगे क्योंकि भाषा सीमित और अपर्याप्त है और ऋषि-दृष्टि अर्थ असीमित और पर्याप्त।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप—

- वैदिक आख्यान परम्परा से परिचित हो सकेंगे।
- कुछ महत्त्वपूर्ण आख्यानों का अध्ययन कर सकेंगे।
- पौराणिक आख्यान परम्परा से परिचित हो सकेंगे।
- वैदिक और पौराणिक आख्यान परम्परा के अन्तःसम्बन्ध को समझ सकेंगे।
- वैदिक एवं पौराणिक आख्यानों से जुड़े प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।

2-3 oSfnd vk[;ku ijEijk

वैदिक आख्यान परम्परा का प्रारम्भ संहितागत मन्त्रों में आपतित इतिहासों अथवा आख्यानों से होता है; जैसा कि स्वयं आचार्य यास्क अपने निरूवत वेदाग्ड़ में इस बात का संकेत करते हैं कि वेद मन्त्रों में अनेकत्र इतिहास तथा स्तुति का मिश्रण दृष्टिगोचर होता है, यथा – ''**त्रितं कूपडेवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहमरामिश्रमृदि् मिश्रं भवति'' (4. 6)।** वे मन्त्रगत इतिहासों अथवा आख्यानों के रहस्य का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि मन्त्रगत अर्थ का सम्यक् दर्शन करने वाले ऋषि की भी इस आख्यानांश के मन्त्र के साथ संयोग करने के लिए प्रीति होती है, यथा – ''**ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति आख्यानसंयुक्ता'' (नि. 10.46)।** मन्त्र में संयुक्त इस इतिहासात्मक अथवा आख्यानात्मक अंश का उद्देश्य सम्प्रेषणीय अर्थ के सम्प्रेषण के लिए मनोहारिता की सृष्टि करना है। अतः आचार्य यास्क के वचन से यह सुस्पष्ट है कि ऋषि द्वारा दृष्ट अर्थ अर्थात् मन्त्रगत प्रसिपाद्य अन्य होता है तथा उसके साथ मनोरम सम्प्रेषण हेतु संयुक्त इतिहास अथवा आख्यायिका आदि मुख्यार्थ के रूप में उससे सर्वथा भिन्न होता है। इस प्रकार मन्त्रगत इतिहास अथवा आख्यान आदि भी मूलमन्त्र का भाग होता है और यह तत्त्वतः औपचारिक, अर्थवादात्मक आत्मकड़ारिक तथा प्रतीकात्मक होता है; वास्तविक व्यक्ति विशेषों से सम्बद्ध विवरण नहीं होता है। यह इतिहास या आख्यान वैदिक संहिताओं या वैदिक साहित्य में आध्यात्मिक, आधि दैविक अथवा आधि भौतिक अर्थ का आख्यान करने वाला होता है और नित्य होता है। इस विषय में पूर्व इकाई में सविस्तार विवेचन के साथ प्रभूत सामग्री दी जा चुकी है; अतः उसकी पुनरूक्ति यहाँ अपेक्षित नहीं है। मन्त्र भाग में उपलब्ध ये इतिहास अथवा आख्यान परवर्ती वैदिक ग्रन्थों, यथा – ब्राह्मण, उपनिषदों, आचार्य यास्ककृत निरूक्त, शौनकीय बृहद्देवता, कात्यायन–प्रणीत ऋवसर्वानुक्रमणी, षड्गुरूशिष्यरचित वेदार्थदीपिका, ... भाष्यों, छाद्विवेदकृत नीतिमण्जरी आदि में पल्लवित एवं विकसित हुए। तदनन्त्रर आर्षकाव्यों (वाल्मीकि–रामायण तथा महाभारत), पुराणों और अश्वघोषरचित बुद्धचरित तथा सौन्दरनन्द, कविकुलगुरू कालिदास प्रणीत विक्रमोर्वशीय, कुमारसम्भव एवं रघुवंश, भारविकृत किरातार्जुनीयम्, माधविरचित शिशुपालबध, श्रीहर्ष प्रणीत

नैषधीयचरित आदि लौकिक संस्कृत साहित्य के प्रमुख काव्यों में भी यह परम्परा निरन्तर विकसित होती रही है। यं वैदिक इतिहास अथवा आख्यान ऋषियों, देवताओं, राजाओं, असुरों एवम् अन्य प्राकृतिक अथवा अप्राकृतिक तत्त्वों से सम्बन्ध रखते हैं। वैदिक आख्यानों के क्रमिक विकास या उत्तरोत्तर पल्लवन के सम्यक् ज्ञान के लिए आर्ष काव्यों, पुराणों तथा लौकिक संस्कृत–साहित्य के काव्यों में आगत वैदिक आख्यानों का विश्लेषणात्मक एवं समीक्षात्मक परिशीलन आवश्यक है, तभी उनके मूल में होने वाले परिवर्तन और परिवर्धन का बोध हो सकता है।

वैदिक साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है; अतः आख्यान–परम्परा का आदि स्रोत भी वही है। इसलिए बहुत से आख्यान बीज रूप में ऋग्वेद में मिलते हैं। इस ग्रन्थ में उपलब्ध आख्यानों का वैशिष्ट्य यह है कि यहाँ कोई भी आख्यान वर्णनात्मक रूप में नहीं है, प्रत्युत देवों और ऋषियों की स्तुति के रूप हैं और आख्यानों का संकेत मात्र ही यहाँ मिलता है। इनमें कुछ आख्यान तो वैयक्तिक देवता के विषय में हैं और कुछ आख्यान सामूहिक घटना को लक्ष्य कर प्रवृत्त होते हैं। इन आख्यानों के मल रूप की अभिव्यक्ति वेद के मन्त्रों में ही मिलती है, परन्तु परवर्तिकाल में परिस्थितियों के परिवर्तन से अथवा नवीन युग की नवीन कल्पना के प्रभाव से परिवर्तित और परिवृंहित होकर विकसित रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। ऋग्वेद के अनेक आख्यान ब्राह्मणों, उपनिषदों, सूत्रग्रन्थों, वाल्मीकि – रामायण, महाभारत आदि में तथा विभिन्न पुराणों में अपनी घटनाओं की स्थिति के विषय में विशेषरूप से विकसित और परिवर्तित रूप में उपलब्ध होते हैं। इस विकास के 0पर तत्–तत् युग की धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। अपने मूल रूप में सरल आख्यान परवर्ती ग्रन्थों में अनेक विस्तृत घटनाओं से मण्डित या नवीन समावेश के कारण विषम तथा मिश्रित यप में उपलब्ध होते हैं। वेदों में प्रमुखतया ऋग्वेद में मिश्र, वरूण, सविता, पूषा, उषा, इन्द्र, आपाम्, पर्जन्य, रूद्र, मरूत् आदि देवों तथा पृथ्वी, अग्नि, सोम आदि प्राकृतिक शक्तिपरक देवों से सम्बन्धित अनेक आख्यान सूत्र रूप में मिलते हैं। देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में राजा, ऋषि, पुरोहित तथा असुरों के भी आख्यान हैं। ऋषियों में विश्वामित्र, वसिष्ठ, गौतम तथा अगस्त्य आदि के आख्यान हैं और असुरों में वृत्र, पणि, बल तथा शम्बर आदि के आख्यान कहे जा सकते हैं। सबसे अधिक आख्यान इन्द्र के सम्बन्ध में हैं, यथा – इन्द्र अदिति (4.18), इन्द्र–इन्द्राणी (10.86), इन्द्र–मरूत् (1. 165–170), इन्द्र–सरमा–पणि (10.51.3) आदि कई आख्यान इन्द्र से सम्बन्धित हैं। ऋग्वेद में पाये जाने वाले अन्य आख्यान संवाद्–सूक्तों में विद्यमान हैं और प्रायः ये सूक्त ऋग्वेद के दशम–मण्डल में उपलब्ध होते हैं। इन सूक्तों में 'पुरूरवा–उर्वशी' (10.95); यम–यमी' (10.30), 'सरमा–पणि' (10.108) तथा विश्वमित्र–नदी–संवाद (3.33) अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्द्रादि देवताओं के व्यक्तिगत आख्यानों को छोड़कर ऋग्वेद में लगभग 30 आख्यानों का स्पष्ट निर्देश किया गया है, जिनमें प्रख्यात आख्यान हैं – शुनःशेप (1.24, 25), अगस्त्य तथा लोपामुद्रा (1.179), गृत्स्मद (2.12), वसिष्ठ और विश्वामित्र (3.53, 7.33), सोम का अवतरण (3.33), त्रयरूण और वृषजान (5.2), अग्नि का जन्म (5.11), श्यावाश्व (5.52), बृहस्पति का जन्म (6.71),

राजासुदास (7.18), नहूष (7.95), अपाला (8.91), पुरूरवा–उर्वशी (10.95), सरमापणि (10.108), देवापि–शान्तनु (10.98) तथा नचिकेता (10.135) आदि। इनके अतिरिक्त कक्षिवत् तथा स्वनय (1.125), दीर्घतमस् (1.147), वामदेव (4. 18), सप्तवध्रि (5.78), बब्रु तथा भरद्वाज (6.45), ऋजिश्वन तथा अतियाज (6. 52), सरस्वती तथा वध्रयश्व (6.61), कुत्स (10.38), वृषाकपि (10.86) आदि आख्यान भी मिलते हैं।

'वेद में अनित्य वस्तुओं अथवा प्राणियों का इतिहास नहीं है', इस बात को पुष्ट करने हेतु ऋग्वेद के कतिपय आख्यान यहाँ उदाहरण के रूप में द्रष्टव्य हैं, यथा – 'प्रजापति का दुदहितृगमन' (ऋ. 1.164.33, 3.31.1) आख्यान सर्वथा आलंकारिक वर्णन है, वास्तविक नहीं। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में यह आख्यान संकेतित है, यथा –

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् उत्तानयोश्चम्वोउर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्।।

.... सूर्य का उपलक्षण है, वही सम्पूर्ण संसार को पैदा करता हैं, उसका पालन करता है और उसकी सहायता करता है, अतः संसार का केन्द्र सूर्य है। यही प्रजापतिनीम से भी जाना जाता है। इसकी पुत्री की भान्ति यहाँ उषा को माना गया है। रक्तवर्ण से युक्त निकलती हुई उषा को अपनी किरणों से सम्पृक्त करता है। ऐसा होने पर 'प्रकाश नामक आदित्य पुत्र रूप में जन्म ग्रहण करता है। यहाँ आदित्य रूप पुत्र की माता उषा है और पितृवत् सूर्य .... अलंकारिक वर्णन के कारण दुहिता रूपी उषा में किरणरूप सत्त्व (वीर्य) से दिवस रूपी पुत्र के उत्पन्न होने की बात रूपकालंकार के माध्यम से कही गयी है अतः यहाँ पिता सूर्य एवं उसकी पुत्री रूप उषा के समागम के कारण प्रकाश रूप पुत्र की उत्पत्ति की बात माता–पिता के द्वारा सन्तानोत्पत्ति की भान्ति आलंकारिक रूप से कही गयी है। इसी प्रकार पर्जन्य और पृथिवी की पिता–पुत्री की भान्ति रूपकालंकार के माध्यम से आलंकारिक वर्णन किया गया है, क्योंकि पर्जन्य के जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है; अतः वह पर्जन्य की पुत्रीवत् है तथा वही पर्जन्य वृष्टि द्वारा उस पृथ्वी में वीर्यवत् जलप्रक्षेण करता है और पृथ्वी गर्भधारण करके नाना प्रकार की औषधियों को जन्म देती है, जैसा कि **"तत्र पिता दुहितु गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः" (नि. 4.21)** तथा **"प्रजापतिहतो ...... दुहितरमभिदध्यौ दिवं वोषसं वा मिथुन्येनया स्यामिता तां सम्बभूव" (शत. ब्रा. 1.7.4.1)।** इन सन्दर्भों से प्रमाणित होता है। अतः इस मन्त्र में प्रजपति की अपनी पुत्री में गर्भाधान करने का यह वर्णन आलंकारिक है, वास्तविक नहीं। यही तथ्य इस मन्त्र में आख्यान के रूप में उपस्थापित है और यही इस आख्यान का मर्म है तथा प्रयोजन भी। अन्यत्र ऋग्वेद (3.31.1) के मन्त्र में भी इसी आलंकारिक वर्णन की संगति देखनी चाहिए।

2.3.1 इन्द्र का गौतम की पत्नी अहिल्या का जारत्व

ऋग्वेद (10.10.6) एवं अथर्ववेद (18.1.23) के मन्त्रों में अहिल्या के प्रति इन्द्र का जारत्व अर्थात् अभिगमन का संकेत प्राप्त होता है (जोर आभगम)। इसका संकेत शतपथ ब्राह्मण में भी आया हुआ है, यथा – **"इन्द्रागच्छेति। गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति। तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेनमेतत् प्रमुमोदयिषति" (3.3.4.18)।** वस्तुतः यहाँ पर अहल्या 'रात्रि' का

वाचक है और इन्द्र 'आदित्य' का, क्योंकि **''अहरस्यां लीयत इति अहल्या रात्रि''** अर्थात् दिन जिसमें लय को प्राप्त हो जाता है, वह अहल्या है तथा रात्रि को समाप्त करने के कारण आदित्य जार है (**रात्रेर्जरितृत्वादादित्यस्य जोरत्वम्**)। आचार्य यास्क ने भी निरूक्त में इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि **''अहिल्योव जार उच्यते। रात्रिर्जरयिता। स एव भासाम्'' (3.16)।** अतः इन्द्र का अहिल्या के प्रति जारत्व आलंकारिक वर्णन है, वास्तविक जारत्व नहीं है। यही इस आख्यान का प्रयोजन है।

2.3.2 इन्द्र–वृत्र युद्ध एवं वृत्रन्वध

ऋग्वेद (1.32.1, 2, 5, 7, 10.13), मैत्रायणी संहिता (2.2.10) एवं काठय संहिता (10.9) में इन्द्र–वृत्र आख्यान प्राप्त होता है जिसमें इन्द्र और वृत्र के युद्ध और इन्द्र द्वारा वृत्र–वैध का संकेत प्रतीत होता है। वस्तुतः इस प्रसंग में इन्द्र सूर्य है और अहि अथवा वृत्र मेघ का वाचक है तथा वृष्टिकर्म ही यहाँ इन्द्र द्वारा वृत्र का .... समझना चाहिए। प्रमाण हेतु आचार्य यास्क का .... द्रष्ट का है – **''तत्को वृत्रः मेघ इति नैरूवस्ताः। त्वाष्ट्रोडसुर इत्यैतिहासिकः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्माणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्येन युद्धवर्णा भवति। अहिवस्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मण वादश्चः:'' (निरूयत्र, 2.16)।** अतः यास्क के मत में मेघ ही वृत्र है और सूर्यरश्मिजन्य विद्युत्, दोनों के मिश्रण रूप कर्म से ही वृष्टि उत्पन्न होती है। यही मिश्रीभाव ही उपमा से मन्त्रों में इन्द्र–वृत्र–युद्ध .... वर्णित है। शतपथ–ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में भी इस प्रकार के युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है, यथा – **''वृत्रो ह वाइइदं सर्वं वृत्ता शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी, स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाग। तमिन्द्रो जघान'' (शत. ब्रा., 1.1.3.4–5)।** ऐसे ही इन्द्र वृत्र–संग्राम एवं वृत्र वध का वर्णन मैत्रायणी–संहिता में भी प्राप्त होता है, यथा – **''वृत्रं खलु वाद एष हन्ति यः सड्ग्रामं जयति'' ....।** अतः मन्त्रों में इन्द्र वृत्र युद्ध की चर्चा उमा .... किया गया है, जो आख्यानात्मक है।

इस प्रकार वैदिक संहिताओं से सूत्ररूप में संकेतित आख्यान ब्राह्मण–ग्रन्थों और वेदाग्ड़ो में विकसित एवं पल्लवित होते हुए वैदिक साहित्य तक तो अपने भूतरूप में किण्चित् परिवर्तन के साथ दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु लौकिक साहित्य तक आते–आते उनकी मौलिकता में इतनी भिन्नता आ जाती है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे इनका स्रोत ही भिन्न हो। उदाहरण के लिए वैदिक शुनःशेपाख्यान को देखा जा सकता हैः

2.3.3 शुनःशेपाख्यान

यह आख्यान ऋग्वेद–संहिता में सर्वप्रथम देखा गया है। इस आख्यान के सन्दर्भ में इसी संहिता के ब्राह्मण–ग्रन्थ में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि **''तदेत्परम् ऋक्शतगाथं शौनः शेपआख्यानम्'' (ऐत. ब्रा. 7.18)।** अर्थात् शुनःशेप से सम्बन्धित आख्यान ऋग्वेद की एक सौ से अधिक ऋचाओं में वर्णित हैं। इससे स्पष्ट है कि इस आख्यान की मूलस्रोत ऋग्वेद हैं। इस वेद में एक सौ सात (107) ऐसे मन्त्र उपलब्ध हैं, जिनके ऋषि शुनःशेप हैं। इन मन्त्रों के द्रष्टा के रूप में **''आजीगर्तिः शुनःशेपः सः कृत्रिमों वैश्वामित्रो देवरातः''** ऐसा उल्लेख मिलता है। इससे शुनःशेप के पूर्ण नाम एवं वंश का परिचय प्राप्त होता है। वे सूक्त और मन्त्र ऋग्वेद में 1.24 से 1.30 सूक्त

पर्यन्त (97 मन्त्र) तथा 9.3 सूक्त के (10 मन्त्र) के रूप में प्राप्त होते हैं। इनमें 1.24 सूक्त है अर्थात् प्रस्तुत आख्यान को आधार स्वीकार किया जाता है। इन मन्त्रों में केवल दो बार 'शुनःशेप' (1.24.12,13) नाम पठित है और चार बार पाशबद्धता (ऋ. 1.24.12–13, 15; 1.25.21) की चर्चा प्राप्त होती है। इससे अधिक आख्यान–सन्दर्भ में ऋग्वेद में नहीं मिलता। इन सूक्तों के मन्त्रों और मन्त्रांशों को आधार मानकर ब्राह्मण–ग्रन्थों ने एक रोचक और विस्तृत आख्यान की कल्पना कर डाली और परवर्ती भाष्यकारों ने आख्यान के अंशों को आधार बनाकर सभी मन्त्रों की व्याख्याएं प्रस्तुत कर दी है। यहाँ ऋग्वेद का एक अन्य मन्त्र उदधृत अनुचित नहीं होगा, जिसमें पाश से आबद्ध शुनःशेप को सहस्र यूप से मुक्त करने का संकेत है, यथा –

शुनश्चिच्छे पं निदितं सहस्राद्यूपादमुण्चो अशमिष्ट हि षः।
स्वास्मदग्रे वि मुमुग्धि पाशान् होतश्चिकित्व इह तू निषद्य।। (ऋ. 5.2.7)

ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद (12.12) तथा अथर्ववेद में शुनःशेप ऋषि के मन्त्र प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद में शुनःषेप ऋषि के कुल 23 मन्त्र हैं, जिनमें 17 मन्त्र ऋग्वेद के होते हैं। शेष छः मन्त्र (6.25.13, 7.83.1–2,4) पृथक् हैं, परन्तु सायण के अनुसार यहाँ शुनःशेप की कथा न होकर सामान्य रोग–निवृस्त और कष्ट या बन्धन से मुक्ति की प्रार्थना है। इनके अतिरिक्त तैत्रिरीय संहिता (5.2.1.3–4), काठक–संहिता (19.11) कषिष्ठ संहिता (31.1), मैत्रायणी संहिता ..... में भी शुनःशेप की चर्चा है, किन्तु आख्यान .... है। परन्तु ऋग्वेद के मन्त्रों को आधार बनाकर सर्वप्रथ एक विस्तृत और स्पष्ट आख्यान की रचना इसी वेद से सम्बन्धित ऐतरेय ब्राह्मण (7.13–18 अथवा 33.1–6) में प्राप्त होता है। यहाँ इस आख्यान को राजा के राज्याभिषेक के पश्चात् तथा सन्तान की कामना वाले को सुनाने का निर्देश किया जाता है। ऐसा करने से राजा को यश और निःसन्तान को सन्तान प्राप्ति की बात कही गयी है, यथा **''तदेतत्परऋक्शतगाथं शौनःशेपाख्यानम्। द्वोता राज्ञेडभिषिक्ताया चष्टे। ...... पुत्रकामाः हाप्याख्यापयेरल्लंभन्ते ह पुत्राल्लंभन्ते ह पुत्रान्'' (33.6)।** अन्य किसी ब्राह्मण–ग्रन्थ में यह आख्यान उपलब्ध नहीं है, अतः परवर्ती समग्र साहित्य में वर्णित शुनःशेपाख्यान का आधार यही ब्राह्मणग्रन्थ है।

ऐतरेय ब्राह्मण के पश्चात् इस आख्यान का संकेत यस्कीय निरूक्त में प्राप्त होता है परन्तु निरूक्त में यह आख्यान वर्णित नहीं है। एक स्थल पर उदाहरण रूप में इसका संकेत है, जिससे यह प्रतीत होता है कि यास्क शुनःशेपाख्यान से भली–भान्ति परिचित थे। एकत्र स्त्रियों के ही दान–विक्रय त्याग होने के प्रसंग में उसका उत्तर देते हुए यास्क ने ऐसा उल्लेख किया है कि पुरूषों के भी दान–विक्रय और त्याग होते हैं और प्रमाण रूप में शुनःशेप के आख्यान में उसका विक्रय होना एवं विश्व मित्र द्वारा अपने पुत्रों के त्याग की घटना का .... किया है, यथा – **''स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विघन्ते न पुंसः। पुंसोडपीत्येके, शौनःशेपे दर्शनात्'' (नि. 3.4)।** तत्पश्चात् शौनककृत बृहद्देवता (3.103) में आख्यानांश मात्र प्राप्त होता है। यहाँ ऋग्वेद (1.30.16) मन्त्र उद्धृत करते हुए यह कहा गया है कि इस ऋचा द्वारा स्तुति किये जाने पर मन से प्रसन्न होकर इन्द्र ने शुनःशेप को

एक स्वर्ण–निर्मित दिव्य–रथ प्रदान किया। तदनन्तर शांखायन श्रतिसूत्र (15. 20.1; 16.11.2) में यह आख्यान सांकेतिक रूप में प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य के पाश्चात् इस आख्यान का उल्लेख वाल्मीकि–रामायण (बाल., 61–62 सर्ग) में प्राप्त होता है, परन्तु यहाँ इस आख्यान में इतनी मौलिक भिन्नता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः इसके स्रोत ही भिन्न हो। यहाँ हरिश्चन्द्र के स्थान पर राजा अम्बरी का नाम है और पुत्र कामना तथा वरूण का कोई उल्लेख नहीं है।

इस शुनःशेप आख्यान का महत्त्व मानव जीवन हेतु प्रेरणा दायक रूप में माना जाता चाहिए। इसके माध्यम से आगे भी कष्ट पीड़ित व्यक्ति अथवा सांसारिक बन्धनां .... के लिए यह प्रेरणा प्रदान करता है कि वे इनसे स्वयं को मुक्त करने के लिए निरन्तर प्रयास करते रहें। इस आख्यान से ऐसे लोगों को सावधान किया गया है कि नैतिकता के अभिमानी देवता वरूण परमात्मा के रूप में सभी की प्रत्येक चेष्टा पर दृष्टि रखते हैं और शुभाशुभ कर्मों का फल देते हैं। अतः पाप कर्मों का परित्याग करते हुए श्रेष्ठ कर्म करना चाहिए, क्योंकि परमात्मा सर्व व्यापक .... और सब का द्रष्टा है।

2-4 ikjkf.kd vk[;ku ijEijk

पुराणों का अध्ययन करने से हमें यह ज्ञात होता है कि साहित्य के रूप में नहीं, प्रत्युत लोकवार्ता के रूप में वेदों पर भी पौराणिक आख्यानों का अस्तित्व रहा होगा। मत्स्य पुराण से रीत होता है कि ब्रह्मा ने पहले पुराण को स्मरण किया, तत् पश्चात् वेदों का प्रकाश किया, यथा –

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्माणा स्मृतम्।
अन्नतरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिः सृताः।। (53.3)

पद्म पुराण में भी ऐसा माना गया है कि सभी शास्त्रों के निर्माण से पूर्व ब्रह्मा ने पुराण का स्मरण किया, यथा – **''पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्माणा स्मृतम्'' (सृष्टि खण्ड, 1.45)**। वायु पुराण (1.45) से भी .... संकेत प्राप्त होता है। विष्णु पुराण में पुराण की परिभाषा देते हुए ऐसा कहा गया है कि ''जो बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है'', वह पुराण है, यथा – **''यस्मात् पुरा हि अनति इदम् पुराणम्'' (1.203)।** इन पौराणिक कथनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुछ पौराणिक आख्यान लोकानुश्रुति के रूप में वैदिक साहित्य की रचना से पूर्व भी उपस्थित रहे होंगे। उनमें से कुछ को सांकेतिक रूप से वेदों में ग्रहण कर लिया गया होगा। यह स्वाभाविक है कि प्राकृतिक शक्तियों के प्रति श्रृद्धा या भय की भावना को धार्मिक विश्वासों के रूप में वेदों में संग्रह करने के बाद उस काल की मनीषा ने प्राचीन लोक–सम्बन्धी कथाओं को पुराणों में संग्रह कर दिया होगा। भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा ने अपने पूर्व मुख से ऋग्वेद की, पश्चिम मुख यजुर्वेद की, दक्षिण मुख से सामवेद की और उत्तर मुख से अथर्ववेद की रचना की। इस प्रकार उन्होंने अपने पृथक्–पृथक् चार मुखों से चार वेदों की रचना के पश्चात् अपने चारों मुखों से इतिहास पुराण रूप पाँचवे वेद का सृजन किया, यथा –

ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः।
शस्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चितं व्यधात्क्रमात्।।
आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्व वेदामात्मनः।
स्थापत्यं चासृजद् वेदं क्रमांत्पूर्वादिभिर्मुखैः।।
इतिहास पुराणानि पण्चमं वेदमींश्वरः।
सर्वेभ्य एवं वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः।। (3.12.37—39)

पुराणसाहित्य की पण्चम वेद के रूप में प्रसिद्धि (अथर्व., 9.7.24) भी इस इस बात का द्योतक है कि साहित्य के रूप में पुराणों की रचना वेदों के बाद हुई है। परन्तु लोक वार्ता के रूप में सम्भवतः किसी न किसी रूप में पौराणिक आख्यानों की सत्ता वेदों की रचना से पूर्व रही होगी, ऐसा माना जा सकता है।

पौराणिक आख्यानों के लिए अंग्रेजी में 'मिथ' या 'माइथालॉजी' शब्द प्रचलित है। 'मिथ' शब्द का प्रयोग जहाँ एक ओर देवताओं एवं वीरों की प्राचीन परम्परागत गाथा के लिए किया जाता है, जो किसी तथ्य या प्राकृतिक सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत करती है, वहीं दूसरी ओर इसका प्रयोग मिथ्या अथवा कपोलकल्पित अर्थ के लिए भी होता है। किन्तु, 'मिथ' से बना 'माइथॉलाजी' शब्द उस भावना को अभिव्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ है, जो भारतीय मनीषा को व्यक्त करने वाले 'पुराण—गाथा' शब्द से अभिहित किया गया है। भारतीय दृष्टिकोण से 'पुराण' शब्द प्रामाणिकता कर द्योतक है। इस शब्द के साथ मिथ्या या कपोल—कल्पना का दूर—दूर तक भी सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः पुरूष प्रमाणभूत वैदिक चिन्तन को ही आख्यान उपाख्यान या कथा शैली में पुनः प्रस्तः करता है, जैसा कि भगवान वेदव्यास ने महाभारत में स्वयं अभिव्यक्त किया है, — **''इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुप बृहंयेत'' (महाभा.)**। हिन्दू विचारधारा पौराणिक मान्यताओं पर आधृत है। उसका जो रूप आज हमें देखने को मिलता है, वह रामायण और महाभारत तथा अठारह (18) पुराणों में अभिव्यक्त अवधारणाओं एवं विश्वासों पर आधारित है। भारतीय पौराणिक आख्यान एक जीवित धर्म और विश्वास के रूप में हैं अतः 'मिथ' या 'माइयार्थॉलाजी' शब्द भारतीयों के मानस में वह भावना नहीं जगा पाता या वह रूप—चित्र उपस्थित नहीं कर पाता जो पुराण शब्द करता है। इसलिए पौराणिक विश्वासों और आख्यानों के लिए भारतीय चिन्तर में 'धर्मगाथा' शब्द का व्यवहार होता है, क्योंकि इनका भारतीय धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

धर्मगाथा या पौराणिक आख्यान के विषय में मेरिया लीच की यह अवधारणा है कि ''मिथ वह कथा है जो किसी युग में घटित दिखायी गयी हो। इन कथाओं में किसी देश के धार्मिक विश्वास, प्राचीन वीरों, देवी—देवताओं, जनता की अलौकिक तथा अद्भुत परम्पराओं तथा सृष्टि .... का वर्णन होता है।[1] मेरिया लीच के कथन से 'धर्म गाथा' या मिथ के विषय में स्पष्टतः यह कहा जा सकता है कि (1) इसकी पृष्ठभूमि धार्मिक होनी चाहिए, (2)

[1] Dictionary of Folklora, Part-II, Page 778: Myth is a story presented as having actually accured in a previous age explaining the cosmological and superratural traditions of a people, their Gods, heroes, cultural traits, religious belisefs etc.

इसके प्रधान पात्र देवी–देवता होने चाहिए और (3) इसका प्रधान प्रतिपाद्य सृष्टि–रचना तथा प्राकृतिक शक्तियों (सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि) के सृष्टि–संचालन सम्बन्धी क्रिया–कलापों और उनके सम्बन्ध में आदिम मनुष्यों अर्थात् ऋषियों–महर्षि ..... की मान्यताओं को विज्ञान–पूर्व युग के विज्ञान के रूप में प्रकट करने वाला होना चाहिए। यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि केवल देवी–देवताओं के नामोल्लेख से कोई कहानी धर्म गाथा नहीं कही जा सकती, प्रस्तुत किसी तथ्य की व्याख्या करने वाली कहानियों में देवी–देवताओं के समावेश के साथ–साथ उन देवताओं में आस्था हो तथा उक्त दोनों बातों के साथ उसका धार्मिक महत्त्व भी हो। उसके कहने–सुनने में किसी धार्मिक लाभ की भी सम्भावना जुड़ी होनी चाहिए। इस विषय में इससे भी महत्त्वपूर्ण तत्व यह है कि धर्म गाथा में देवी–देवता का समावेश पारम्परिक कथा के अभिप्राय के रूप में नहीं होना बल्कि धर्मगाथा किसी न किसी देवी–देवता के वृत से गुंथी रही है। 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' नामक ग्रन्थ के सम्पादक डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार कोई कथा तभी तक 'मिथ' कही जा सकती है, जब तक उसके प्रमुख पात्र देवी और देवता हैं अथवा इन पात्रों में देवत्व की भावना रहती हो। परन्तु, जब ये पात्र देवत्व की कोटि से नीचे उतर कर मनुष्य की श्रेणी में आ जाते हैं तब वह कथा 'लीजेण्ड' अर्थात् सामान्य कथा कही जाती है। उपर्युक्त विचारों के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि पौराणिक कथा में देव–परिकर के समावेश के साथ–साथ उसमें धार्मिकता या धार्मिक माहात्म्य की भावना भी होनी चाहिए। इसके बिना वह देव कथा तो कही जा सकती है परन्तु 'धर्मगाथा' नहीं कही जा सकती।

2-5 ikjkf.kd lkfgR; e vk[;kuk dk Lo:i

'पौराणिक आख्यान' का तात्पर्य अठारह हिन्दू पुराणों में वर्णित आख्यानों से है, परन्तु 'पुराण' शब्द का व्यवहार प्राचीन आख्यानों के लिए भी होता रहा है। वैदिक साहित्य में प्रयुक्त 'पुराण' शब्द इसी अर्थ में आया है। वस्तुतः आख्यान परम्परा का आदि स्रोत ऋग्वेद है। बहुत से आख्यान बीज रूप में ऋग्वेद में मिलते हैं। बाद में उन्हीं का पल्लवन ब्राह्मणों, अग्नि वेदों, सूत्र ग्रन्थों, महाकाव्यों और पुराणों में उपलब्ध होता है। पुराण साहित्य में 'रामायण' और 'महाभारत' के आख्यानों का पल्लवन सर्वाधिक देखा जाता है, किन्तु पुराणों में आख्यानों को ऐतिहासिक और धार्मिक स्वरूप देने का जितना प्रयास हुआ, उतना उनके काव्यात्मक तथा शीलगत रूप को उभारने का प्रयत्न दृष्टिगोचर नहीं होता। केवल श्रीमद्भागवत पुराण ही एक ऐसा पुरण है, जो काव्य तत्व की दृष्टि से भी समृद्ध है। पुराणों में आख्यान की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों तथा लोकानुश्रुतियों से बहुत कुछ संचित किया गया है। उदाहरणार्थ शुनःशेप, वामनावतार, इन्द्र–अहल्या जार, मरूत्, ययाति तथा पुरूरवा–उर्वशी आदि अनेक प्राचीन आख्यानों का पुराणों में वर्णन किया गया है। अवतार वाद का प्रभाव दिखाने के लिए मत्स्य, कर्म्म, वाराह तथा वामन आदि की कथाओं का भी इनमें समावेश हुआ हैं। इनके अलावा बहुत से नये आख्यानों का भी जन्म हुआ है, जिनके विषय में यह कहना कठिन है कि वे पुराणों के लेखक की कल्पना से लिखे गये अथवा लोकानुश्रुति से

ग्रहण किये गये थे। भागवत धर्म का प्रभाव प्रकट करने के लिए भगवद्भक्तों की बहुत सी कथाएं भी पुराणों में सम्मिलित कर ली गयी हैं। उदाहरण के लिए आजामिल, पिंगला, गणिका, गजकर्ण, धुन्धकारी, गजग्राह–युद्ध आदि की कथाएँ इसी कोटि की हैं। इसके अतिरिक्त विविध धार्मिक सम्प्रदायों के प्रभाव के कारण पौराणिक आख्यानों में संकीर्ण साम्प्रदायिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उनमें परिवर्तन, ... वर्द्धन और संशोधन भी होते रहे, जिन्होंने पुराणों का स्वरूप बहुत विकृत कर दिया और पुराण 'भानुमती के पिटारे' की भान्ति हो गये।

पुराणों का अध्ययन करने पर उनकी रचना शैली के आधार पर उनके आख्यानों की कुछ विशेषताएँ भी देखी जा सकती हैं, जो इस प्रकार हैं –

1. पुराणों की रचना वक्ता–श्रोता पद्धति पर हुई है। सूत और सैनिक संवाद के रूप में अधिकांश पुराण लिखे गये हैं; अतः कथा की परम्परा बताने तथा शंका–समाधान के रूप में कथा कही गयी है।
2. पुराणों में अलौकिक, अतिमानवीय और अति प्रस्कृत ...... और उनके अतिशयोक्ति पूर्ण कथन का अधिवय है, जो अर्थवाद का रूप है।
3. पुराणों में प्रबन्ध काव्य और धर्मगाथा (माइथॉलाजी) की शैलियों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है।
4. बहुत से आख्यान कई पुराणों में एक जैसे मिलते हैं। प्रत्येक पुराण में कुछ ऐसे भी आख्यान हैं, जो दूसरों में नहीं मिलते और कुछ आख्यान कुछ परिवर्तन के साथ कई पुराणों में ग्रहण कर लिये गये हैं।
5. जो पुराण जिस देव–सम्प्रदाय से विशेषतः सम्बन्धित हैं, उनमें उसी के इष्ट देव का माहात्म्य और गौरव आख्यानों के माध्यम से वर्णित किया गया है।
6. .... उपवास आदि धार्मिक कृत्यों, तीर्थों तथा पुराण .... की महिमा का वर्णन अधिकांश पुराणों का मुख्य विषय प्रतीत होता है, जो कथाओं के माध्यम से प्रतिपादित हैं। इन विषयों के कारण इन पुराणों में पंच लक्षणों के निष्ठापूर्वक निर्वाह की भी अवहेलना कर दी गयी है।
7. पुराणों के आख्यानों का गठन किसी योजना और क्रम के अनुसार नहीं है। इस दृष्टि से उनकी कथा–वस्तु शिथिल है और उनमें अवान्तर प्रसंगों और विषयों का आधिक्य हैं।

इस प्रकार पुराणों में सामान्य जन को रोचक एवं रूपात्मक शैली में अध्यात्म, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, सृष्टि–विज्ञान, इतिहास एवं खगोल–शास्त्र आदि का ज्ञान करवाने के लिए आख्यानों का समायोजन किया जाता है। इस लिए पुराणों में संकलित आख्यानों का अनेक दृष्टियों से महत्त्व है। उन्हें कपाले–कल्पित, अप्रमाणिक, मिथ्या मानना अपने ही अज्ञान का परिचय देना है। पुराण कथाओं के बाहय आवरण को भेद कर उनके मूल तत्व तक पहुँचना तभी सम्भव हो पाता है, जब उन आख्यानों के मर्म को भली भान्ति

समझा जाये, क्योंकि पुराणों के तथ्यों को कल्पना के मिश्रण से मनोरंजक बनाया गया है तथा आख्यान के आवरण में उन्हें सामान्य जन के लिए बाह्य बनाने की चेष्टा की गयी है। प्राचीन काल में पुराणों को सुनने–सुनाने का माहात्म्य कदाचित इसी लिए लोक में अधिक माना जाता था, क्योंकि ये पुरान ज्ञान–विज्ञान के प्रसारण के उपर्युक्त साधन थे। पुराणों की कथा–शैली को न समझकर उनके प्रति अश्रद्धा प्रकट करने की प्रवृत्ति आजकल विशेष रूप से देखी जाती है, जबकि प्राचीन संस्कृत–साहित्य में इतिहास और पुराण दोनों अलग विद्याओं के नाम थे जिनका अध्ययन और अनुशीलन नित्य प्रति करना आवश्यक माना जाता था, जैसाकि शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है –

''इतिहासपुराण मित्यहरहः स्वाध्ययमधीते'' (11.5.7.9)।

पुराणों के आख्यानों को देखकर उन्हें अविश्वसनीय कहते समय लोग यह भूल जाते हैं कि पुराणों के वंश और वंशानुचरितों में मानव सभ्यता के जिस इतिहास का वर्णन है, वह ऐतिहासिक होते हुए भी पौराणिक है, और इसीलिए उसमें तथ्यान्वेषण करते समय सावधानी की आवश्यकता है। पुराण सृष्टि–विद्या का नाम है ओर उसमें मानव–इतिहास के साथ–साथ नक्ष–नक्षत्रों का वर्णन तथा नाना प्राकृतिक व्यापारों .... का आलंकारिक शैली में निरूपण भी होता है। .... में अचेतन ग्रह–नक्षत्रों तथा चेतन मानव की भावनाओं का मानवीकरण करने के साथ–साथ सत्कर्मों में प्रवृत्तिर और दुष्कर्मों से विरक्ति उत्पन्न करने के लिए भी रोचक और अद्‌भुत कहानियों का संकलन किया गया है। यदि पुराणों के उपमित कथा–रूप को समझा जा सके तो उनकी बहुत सी कथाओं और वृन्तों के पीछे सृष्टि–विज्ञान, मानव–स्वास्थ्य, आचार–शास्त्र और मानव–इतिहास के उपयोगी तथ्यों का संयोजन लेगा। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ पौराणिक आख्यानों का सामान्य परिचय एवं उनका महत्त्व देना अनु ....।

2.5.1 इन्द्र–अहल्या–आख्यान

वस्तुतः इस आख्यान का मूल स्रोत वैदिक साहित्य है। इस कथा का प्राचीनतम रूप शतपथ ब्राह्मण (3.3.4.17–19) में प्राप्त होता है। पुराणों में ब्रह्म पुराण (अध्याय 87) में यह कथा गौतमी गंगा तथा इन्द्र–तीर्थ के माहात्म्य–वर्णन प्रसंग में उपलब्ध है। यहाँ अहल्या के जन्म एवं पालन–पोषण आदि की घटनाएँ 'रामायण' के उत्तरकाण्ड के समान हैं, शेष घटनाओं में नवीनता है। तदनुसार ब्रह्म द्वारा निर्मित अपूर्व रूप–गुण सम्पन्न कन्या (अहल्या) को जब यौवनावस्था तक अपने पास रखने के बाद गौतम ऋषि ने ब्रह्मा को अक्षत ही लौटा दिया, तब ब्रह्मा उनके संयमपूर्ण आचरण से बहुत प्रसन्न होते है। छन्द, अग्नि, वरूण आदि सभी देवता उस पूर्ण युवती अहल्या को माँगने लगे। उन सभी देवताओं में इन्द्र अधिक आतुर थे। तब ब्रह्मा ने शर्त रख दी कि जो पृथ्वी की परिक्रमा करके सबसे पहले लौटेगा, उसी को अहल्या मिलेगी। सभी देवता परिक्रमा करने चल पड़े। गौतम ने अर्द्धप्रसूता कामधेनु को पृथ्वी–स्वरूपा मानकर उसी की प्रदक्षिणा की और उन्होंने शिवलिंग की भी परिक्रमा कर ली। तब ब्रह्मा के पास आये। ब्रह्मा ने गौतम को अहल्या दे दी। सभी देवता निराश हो गये। इन्द्र के मन में ईर्ष्या जागी। ब्रह्मा ने ब्रह्म गिरि का क्षेत्र गौतम का दे दिया, जहाँ रहते हुए वे तप करते

थे। इन्द्र .... एक बार गौतम के आश्रम में आया और ब्राह्मण के रूप में बहुत दिनों तक वहाँ रहा। एक दिन गौतम शिष्यों सहित कहीं बाहर गये हुए थे। तब गौतम का रूप धारण करके इन्द्र अहल्या के पास गये। अहल्या ने उन्हें गौतम मानकर उनसे साथ रमण किया। तभी गौतम वापस आ गये। आश्रम के रक्षकों ने उन्हें द्वार पर ही कह दिया कि आप आश्रम के भीतर और बाहर रहते हैं, यह आपके तप का ही प्रभाव है। गौतम की आवाज सुनकर अहल्या ने जोर से पूछा कि तू कौन है? तब गौतम के शाप के भय से इन्द्र बिदाल बनकर छिप गया। अहल्या भी लज्जा .... कुछ नहीं बोली। गौतम ने जब शाप देने की बात कही, तब बिडाल रूपधारी इन्द्र अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुआ। गौतम ने इन्द्र को सहस्रभग तथा अहल्या को शुष्क नदी हो जाने का शाप दिया। परन्तु अहल्या ने जब अपने को निर्दोष बताया तब गौतम ने अहल्या को शाप–मोचन का उपाय बताते हुए कहा कि गौतमी गंगा से जब तुम्हारे नदी रूप का संगम हो जायेगा तब तुम अपना पूर्व रूप प्राप्त कर लोगी। इन्द्र ने भी अपराध स्वीकार कर शाप–मुक्ति का उपाय पूछा। तब गौतम ने उन्हें यह कहा कि गौतमी गंगा में स्नान करने से तुम्हारे पाप नष्ट हो जाएंगे और तुम्हारे सहस्रभग सहस्र नेत्रों में परिवर्तित हो जाएंगे। यह कथा (आख्यान) कुछ परिवर्तन और नवीनताओं के साथ पद्मपुराण (सृष्टि खण्ड, अ. 56), श्रीमद्भागवत पुराण (9.21.33–34), देवी भागवत पुराण (6.8.12–13), ब्रह्मवैवर्त पुराण (कृष्ण जन्म खण्ड, 47, अध्याय तथा 61–62 अध्याय), स्कन्द पुराण (खण्ड, 207–208 और अवन्ती खण्ड, अ. 136) तथा अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है।

वस्तुतः इस आख्यान का निहितार्थ कुछ और है। कुमारिल भट्ट के तन्त्रवार्तिक (1.3.7) से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण तेजस्वी पदार्थों में ऐश्वर्य है, इस कारण तेज फुल को इन्द्र कहा गया है। दिन में लीन होने के कारण .... का शाब्दिक अर्थ रात्रि है, सूर्य ही रात्रि के क्षय स्वरूप जरण का कारण है। अहल्या अर्थात् रात्रि जिसमें जीर्ण हुई अथवा जिसके उदय होने से अहल्या जीर्ण हुई, उसी को अहल्या–जार कहते हैं। 'अहल्या–जार' शब्द का अर्थ सूर्य है। इस आख्यान में पर स्त्री के साथ व्याभिचार की बात आलंकारिक शैली में ही कही गयी है। यहाँ अहल्या रात्रि का वाचक है और इन्द्र सूर्य का। रात्रि के पीछे सूर्य का दौड़ना तो एक प्राकृतिक सत्य हैं, अतः देवताओं द्वारा धर्म–उल्लंघन करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यही इसका आलंकारिक वर्णन है। इस यथार्थ रूप को न समझने के कारण लोग इसे सत्य कथा मान बैठते हैं। जबकि वस्तुतः यह प्राकृतिक घटना का आलंकारिक वर्णन मात्र है।

2.5.2 चन्द्रमा द्वारा गुरू–पत्नी तारा का अपहरण

यह आख्यान वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। इसका उद्भव एवं विकास पौराणिक साहित्य में ही हुआ है। हरिवंश पुराण (हरिवंश पर्व, 25. 3–6; 25.20–49) में यह आख्यान प्राप्त होता है। तदनुसार जब अत्रिमुनि की आँखों से सोम–रूप तेज जल के आकाश में चढ़ने लगा, तब ब्रह्माजी ने चन्द्रमा को बीज, औषधि, ब्राह्मण और जल का राजा बना दिया। प्रचेताओं के पुत्र दक्ष ने अपनी नक्षत्र–रूपिणी सत्ताइस कन्याएँ चन्द्रमा को ब्याह दी। चन्द्रमा ने राजसूय यज्ञ किया। उसे अहंकार हो गया। अनीतिवश उन्होंने

ब्रह्मस्पति की भार्या द्वारा .... अपहरण कर लिया। देवताओं तथा देवविषयों के कहने पर भी उसने तारा को नहीं लौटाया। बृहस्पति बहुत क्रुद्ध हुए। चन्द्रमा शुक्राचार्य की शरण में चला गया। इस बात को लेकर देवताओं और दानवों में संग्राम छिड़ गया। रूद्र ने बृहस्पति की सहायता की, क्योंकि वे बृहस्पति के पिता आंगेरा के शिष्य थे। ब्रह्म ने दोनों पक्षों को समझा–बुझाकर यह युद्ध बन्द कराया और तारा को लाकर बृहस्पति को दे दिया। उस समय तारा गर्भवती थी। बृहस्पति ने अपने क्षेत्र में पराये बीज पर आपत्ति की। तारा ने सीकोंके झुरमुट में जाकर तेजस्वी बुध का जन्म दिया। ब्रह्म के पूछने पर तारा ने यह बता दिया कि यह .... का पुत्र है। यह आख्यान कुछ नवीनताओं के साथ ब्रह्म पुराण (अ. तथा 152), पद्म पुराण (सृष्टि खण्ड, अ. 12 तथा उत्तर खण्ड, अ. 211), विष्णुपुराण (4.6), वायु पुराण (अ. 90), श्रीमद्भागवत पुराण (9.14), देवी भागवत (स्कन्द 1, अ. 11), अग्नि पुराण (अ. 274), भविष्य पुराण (उत्तरार्द्ध, अ. 88), पूर्णिमा व्रत के प्रसंग में), ब्रहम वैवर्त पुराण (प्रकृति खण्ड, अ. 58–61 तथा कृष्ण जन्म खण्ड, अ. 80–81), वाराह पुराण (अ. 32), स्कन्द्र पुराण (काशीखण्ड, पूर्वार्द्ध, अ. 15), मत्स्य पुराण (अ. 23–24), ब्रह्माण्ड पुराण (मध्य भाग, उपोद्घात पाद, अ. 65) और गरूण पुराण (पूर्व खण्ड, 139.1–2) में प्राप्त होता है। यहाँ ध्यातव्य बात यह है कि कुद पुराणों के अनुसार तार स्वयं चन्द्रमा के यहाँ गयी थी। चन्द्रमा उसे देखकर कामासक्त हो गया था। तारा भी उसके वैभव को देखकर काम पीड़ित हो गयी और दोनों ने स्वेच्छा से भोग किया। ऐसा आख्यान प्राप्त होता है और अपहरण की बात नहीं कही गयी है। कुछ पुराणों में कथा संक्षेपेण प्राप्त होती है।

वस्तुतः यह आख्यान एक आध्यात्मिक रूपक के रूप में प्राप्त होता है। इसका निहितार्थ यह है कि बृहस्पति और चन्द्रमा तो गुरू–शिष्य के प्रतीक हैं। गुरू–विद्या में रमण करता है, इसलिए यह उसकी पत्नी हुई। यह विद्या साधारण नहीं है, प्रत्युत 'तारा' है, जो संसार–सागर से तारती है (**तारयति संसार सागरात् या सा तारा–विद्या**)। शिष्य गुरू की विद्या को ग्रहण करता है, इसे ही गुरू पत्नी तारा का शिष्य चन्द्रमा द्वारा अपहरण कहा गया है। गुरू की विद्या पाकर शिष्य के .... कारण में ज्ञान पैदा होता है, उसे ही 'बुध' कहा गया है। जब शिष्य को ज्ञान मिल जाता है तब उसे विद्या की आवश्यकता नहीं रहती, अतः वह विद्या पुनः गुरू के पास लौट जाती है, जैसे कि तारा बृहस्पति के पास चली गयी। यहाँ आलंकारिक वर्णन के माध्यम से इस आध्यात्मिक रहस्य को प्रस्तुत किया गया है। अतः आख्यानों में असंगत या अधर्म की बात नहीं कही जाती प्रत्युत रूपकादि अलंकारों के द्वारा उसे रोचक व जिज्ञासापूर्ण बनाने का प्रयत्न किया जाता है। यही इसका भर्म है, जो जन–सामान्य तक पहुँचाया जाता है। अनीति, अनाचार आदि का उल्लेख करना पुराणों का प्रयोजन नहीं है। इस बात का ध्यान अवश्य करना चाहिए।

2.5.3 अगस्त्य द्वारा दक्षिण दिशा का सेवन एवं विन्ध्याचल को 0पर बढ़ने से रोकना

यह आख्यान सर्वप्रथम वाल्मीकि रामायण (अरण्यकाण्ड, 11. 79–85) में उपलब्ध होता है। पुराणों में मात्र स्कन्द पुराण (काशी खण्ड,

पूर्वार्द्ध, अ. 9–5) में यह कथा प्राप्त होती है। तदनुसार एक बार देवर्षि नारद ने सुमेठ गिरि .... अपना अपमान सुनकर विन्ध्याचल ईर्ष्या तथा क्राचम आकर आकाश की ओर 0पर बढ़ने लगा और सूर्य का मार्ग रोक कर खड़ा हो गया, जिससे समग्र विश्व काँप उठा और सभी देवता घबरा कर ब्रह्मा के पास पहुँचे। ब्रह्मा ने उन्हें महर्षि अगस्त्य के पास जाकर प्रार्थना करने हेतु भेजा। तब अगस्त्य लोपामुद्रा को काशी छोड़ कर विन्ध्य के पास पहुँचे। उन्हें देखते ही विन्ध्य इतना छोटा हो गया मानो धरती में समा जाना चाहता हो। अगस्त्य ने विन्ध्यपर्वत को आदेश दिया कि देखो, जब तक मैं यहाँ पुनः लौटकर न आ0ँ तब तक तुम उसी तरह लघुरूप में रहना। तब अगस्त्य दक्षिण दिशा को चले गए और विन्ध्याचल आज भी उनकी प्रतीक्षा में उसी रूप में खड़ा है।

इस आख्यान का निहितार्थ यह है कि अधिदैवत पक्ष में सूर्य अगस्त्य एवं पृथ्वी लोपामुद्रा है। इसी प्रकार परमेश्वर और प्रकृति को भी अगस्त्य और लोपापमुद्रा कहा जा सकता है। दक्षिण दिशा भी पृथ्वी पर होने के कारण लोपामुद्रा को ही माना जाता है। अध्यात्म की दृष्टि से विचार करने पर मनुष्य का मन अगस्त्य तथा लोपामुद्रा तन का वाचक है। अतः ये मनः स्थितियों के प्रतीक रूप में भी .... सकते हैं। पौराणिक दृष्टि अर्थात् सृष्टि .... विचार करने पर दक्षिण दिशा की ओर गमन करने वाले अगस्त्य (सूर्य) की प्रतीक्षा करता हुआ विन्ध्याचल एक अविश्वसनीय कल्पना नहीं, प्रत्युत भूगर्भशास्त्र के एक तथ्य का आख्यानात्मक निरूपण मात्र है। अगस्त्य का दक्षिण अर्थात् पृथ्वी के और निचले स्तर सुतल में चले जाना पर्वतों के 0ँचे बढ़ने की समाप्ति का सूचक है। इसी प्रकार सभी आख्यानों को प्रतीकात्मक का आलंकारिक वर्णन समझकर उनके गर्भ ....
....

प्रमुख पौराणिक आख्यान : प्रस्तुत प्रसंग में मात्र परिचय के लिए कतिपय पौराणिक आख्यानों को अकारादिक्रम से यहाँ दिया जा रहा हैः

अगस्त्य ऋषि समुद्र शोषण, इन्द्र–अहल्या आख्यान, इन्द्र का अपने वज्र से पर्वतों के पंख काटना, उषा–अनिरूद्ध प्रेमाख्यान, कच–देवयानी–प्रेमाख्यान, कर्ण–जन्म की कथा, कर्ण द्वारा इन्द्र को कवच दान, कृष्णावतार की कथा, कृष्ण द्वारा कालियनाग का दमन, कृष्ण का गोपियों के साथ महारास, कृष्ण द्वारा कुब्जा का कूबड़ ठीक करना, कृष्ण द्वारा कंस–वध, कृष्ण का राधा और गोपियों से पुनमिलन, कृष्ण द्वारा सांदीपनिगुरू के पुत्र को यमपुर से वापस लाना, कृष्ण द्वारा सुदामा का दारिद्रय दूर किया जाना, कृष्ण से ब्याध कर प्रतिशोध लेना, कृष्ण द्वारा स्वर्ग से अमृत–लाना, चन्द्रमा और सूर्य से राह की शत्रुता, कृष्ण चन्द्रमा का कलंकी होना, चन्द्रमा का क्षयी होना, जनमे जय का नाग–यज्ञ, द्रौपदी का अक्षय भण्डार, नल–दमयन्त्री प्रेम ख्यान, नागों का पाताल लोक में वास, नारद–मोह की कथा, नृसिंहावतार की कथा, परशुराम द्वारा सहस्रबाहु तथा अन्य क्षत्रियों का विनाश, पाण्डवों द्वारा कर्म–फलभोग, भागीरथ द्वारा गंगा का पृथिवी पर लाना, राम कथा, विष्णु का मत्स्यावतार, शंरखासुर को लीलना और वेदों का उद्धार, विष्णु के वामनावतार की कथा, शंकुन्तला–दुष्यन्त–प्रेमाख्यान, श्रवणकुमार की कथा, शिवजी के ललाट पर द्वितीया का चन्द्र, शिवजी द्वारा ब्रह्मा की हत्या और कामदेव की हत्या, शिव

जी का कामदेव से पराजित होना, शिवजी द्वारा अन्धकार का वध, शिव जी का त्रिनेत्र और योगीश्वर होना, शिव जी कोशरण में आकर आकार राम का रण–जीतना, शिव जी द्वारा त्रिपुर–संहार, शिव जी द्वारा दक्ष–यज्ञ विध्वंस, शिव जी द्वारा सती का परित्याग, शिवजी का पार्वती के कहने से कैलाश छोड़ना, शुकदेव जी का दो घड़ी से अधिक कहीं न ठहरना, समुद्र–मंथन की कथा, हनुमान का आकाश में चढ़ना, हनुमान द्वारा ऋषि राक्षस (कालनेमि) का वध, हनुमान का भीम से युद्ध और अर्जुन की ध्वजा पर आसीन होना, हरिशचन्द्र की सत्यद्रिव्यता एवं दानशीलता की कथा आदि आख्यान पुराणों में दृष्टि .... होते हैं, जिन्हें तथ्यात्मक दृष्टि से समझकर उनके माध्यम से दी गयी शिक्षा या सन्देश का पालन करना .... योजन जानना चाहिए।

प्रायः सभी संवाद सूक्तों में आख्यानों के संकेतों का आभास मिलता है। विश्वामित्र नदी संवाद नदियों के अधिदेवत्व और उनके मातृतया स्वरूप का निर्देश करता है। यमयमी संवाद सूक्त भाई और बहिन के वैवाहिक सम्बन्ध के निषेध को रेखांकित करता है। राजा रथवीति और ऋषि श्यावाश्व का आख्यान ऋषिभाव की प्रतिष्ठा के निमित्त है। आर्जीगर्ति शुनःशेप और वरूण की कथा के द्वारा सदाचार के मार्ग पर चलने का शाश्वत संदेश दिया गया है। इन्द्र ने अगस्त्य ऋषि के साथ संवाद मे धर्म का गूढ़ रहस्य बताते हुए कहा है कि धार्मिक कार्य को करने में कभी भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। धर्म का निश्चय करने वाला चित्त दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है।

इस उपदेश की पृष्ठभूमि के लिए इन्द्र का देर से पहुँचना और आगस्त्य का मरूतों को हवि दे देना आदि वृतांत माध्यम बनाया गया है। नाभानेदिष्ठ आख्यान में संकेतिक रूप से यह तथ्य समझाया गया है कि इस सृष्टि में चेतन अचेतन रूप जितने भी पदार्थ है, उनका स्वामित्व एवं उपयोग का सम्बन्ध मनुष्य तक ही सीमित नहीं है।

ऋग्वैदिक आख्यानों में अध्यात्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों और विचारों का निर्देश भी बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। बार–बार उल्लिखित किये जाने वाला देवों और असुरों का संघर्ष आदि भौतिक अर्थ में प्रकाश और अन्धकार का संघर्ष है। तो आध्यात्मिक दृष्टि में सुवृत्तियों और दुष्प्रवृत्तियों को द्वन्द्व का संसूचक कहा जा सकता है जो मानवीय अन्तःकण में नित्यप्रति चलता रहता है। दाशराज्ञ युद्ध का ऋग्वैदिक उपाख्यान लाक्षणिक रूप में बड़ी सरलता से इस ऋषि दृष्टि को प्रस्तुत करता है कि इन्द्र रूप जीवात्मा की सहायता से सुदास रूप सुन्दर संकल्प दस राजा रूप अनेक शक्तियों पर भी जय प्राप्त कर सकता है।

कुछ ऋग्वैदिक आख्यानों के अन्तर्निहित स्वरूप को संक्षेप में समझाने का यहाँ प्रयास किया गया है। प्रत्येक आख्यान में असीम अर्थ की सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं। ऊपरी तौर पर उनसे सामाजिक, नैतिक और व्यावहारिक शिक्षाओं का अधिग्रहण किया जा सकता है। पर उसी को आख्यान का वास्तविक स्वरूप मानकर सन्तोष कर लेना उचित नहीं। वेद के वेदत्व के अनुरूप आख्यानों से समन्तात् है आख्यापित् अर्थ अध्येताओं के लिए सदा ही गवेषणीय बने रहेंगे क्योंकि भाषा सीमित और अपर्याप्त है और ऋषि–दृष्टि अर्थ असीमित और पर्याप्त।

2-6 सारांश

वेद में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ प्राप्त करने के लिये विवेच्य विषय का विवेचन सूत्र, व्युत्पत्ति, कथा दृष्टान्त एवं संवाद विधियों की भांति कथा एवं आख्यान विधि भी वैदिक ज्ञान सम्प्रेषण का एक सशक्त माध्यम है। आख्यान द्वारा विषय का स्पष्टीकरण किया गया है। वैदिक ज्ञानपरम्परा में ज्ञान–विज्ञान की जितनी बातें बताई गई है, वे सभी कहीं न कहीं आख्यान से जुड़ी हुई है।

आपने पढ़ा कि आख्यान परम्परा का बीजरूप ऋग्वेद से मिलते हैं। देवों तथा ऋषियों के स्तुति के रूप में प्राप्त होती है। जैसे–जैसे परिस्थितियाँ बदलती गयी और नवीन युग का आगमन हुआ इस नवीन युग की नयी रचना धर्मिता विकसित हो गई। यही कारण है कि वेदों से अधिक और पूर्व विकसित आख्यान पुराणों में मिलते हैं यह बात अलग है कि पौराणिक आख्यानों में कल्पना के तत्त्व अधिक है। पौराणिक आख्यानों में पुराण लेखन काल के सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है। जैसे– इन्द्र, गौतम की पत्नी अहिल्या तथा इन्द्र सम्बन्धित आख्यान शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। यह आख्यान पुराणों में विकसित होकर वर्णित है।

2-7 पारिभाषिक शब्दावली

2-8 lUnHkZxzUFk

1. निरूक्त
2. महाभारत

2-9 बोधप्रश्न

1. वैदिक आख्यान परम्परा तथा पौराणिक आख्यान परम्परा के ज्ञानात्मक पक्षों पर विचार कीजिए
2. इन्द्र वृत्त आख्यान का विषयवस्तु अपने शब्दों में लिखिए।
3. पुराणों में वर्णित अगस्त्य ऋषि द्वारा दक्षिणभारत गमन सम्बन्धी आख्यान को अपने शब्दों में लिखिए।

इकाई-3 भारतीय ज्ञान परम्परा और कथा

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 कथा का अर्थ, परिभाषा
    3.3.1 भारतीय दार्शनिक स्रोतों में कथा की अवधारणा
    3.3.2 भारतीय साहित्यिक स्रोतों में कथा की संकल्पना
    3.3.3 कथा के प्रकार एवं अधिकारी
3.4 सारांश
3.5 शब्दावली
3.6 अभ्यास-प्रश्नों की उत्तरमाला
3.7 सन्दर्भ-ग्रन्थ
3.8 बोध-प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम भारतीय ज्ञानपरम्परा में ज्ञान प्राप्ति के साधनों विशेषतः श्रवण विधि की प्रणाली पर चर्चा करेंगे। जैसा कि हम जानते है भारतीय ज्ञानपरम्परा लिखित ज्ञान परम्परा से अधिक वाचिक परम्परा है। इसलिये भारतीय ज्ञान परम्परा की श्रुति परम्परा भी कहा जाता है। भारतीय ज्ञान सृष्टि के आदि से वर्तमान तक इसी प्रणाली से निरन्तर प्रवाहमान है।

किसी भी सभ्यता का विकास करके परम्पराओं के ऊपर आश्रित होता है इसी तरह हमारी भारतीय हिन्दू सभ्यता विभिन्न परम्पराओं के द्वारा विकसित होती आयी है लेकिन इन परम्पराओं में सबसे प्रमुख ज्ञानपरम्परा है, इसमे आत्मा, ईश्वर, सृष्टि, आदि के विषय में बहुत ही गहनरूप से तात्त्विक विचार किया गया है।

भारतीय ज्ञानपरम्परा गुरूशिष्य परम्परा के द्वारा प्रवाहित होती है। गुरूशिष्य परम्परा एक अत्यन्त महत्वपूर्ण परम्परा है जिसके अन्तर्गत शिष्य कए गुरू के सानिध्य में रहकर ज्ञान प्राप्त करता है। भारतीय समाज में पुरूषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) के आधार पर एक व्यक्ति का जीवन संचालित होता है तथा जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष बताया गया है। एक व्यक्ति के मानव योनि में जन्म लेने से उसे यह अवसर प्राप्त होता है कि वह मोक्ष पाने के लिये प्रयत्न करें।

वेदान्त दर्शन में जीवन के परम पुरूषार्थ मोक्ष को पाने के लिये आत्मज्ञान यानि ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक बताया गया है। ज्ञान की प्राप्ति हेतु साधन चतुष्टय से युक्त होकर शुरू के सानिध्य में रहकर वेदान्त की शिक्षा लेता है। ज्ञान प्राप्ति की 3 प्रणाली श्रवण, मनन, निविध्यासन का अनुसरण करता है। श्रवण प्रणाली के अन्तर्गत 6 लिंगों के माध्यम से साधक कैसे मौक्ष की ओर अग्रसर होता है, उसकी चर्चा हम इस इकाई में करेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई में कथा के स्वरूप और प्रकार का अध्ययन कर लेने के बाद आप सभी-

- भारतीय ज्ञानपरम्परा में कथा के महत्त्व को समझ सकेंगे।
- भारतीय-दर्शन के सम्प्रदाय पर संक्षिप्त परिचय दे सकेंगे।
- कथा का अर्थ और उसको परिभाषित कर सकेंगे।
- भारतीय दार्शनिक स्रोतों में कथा का उल्लेख करने में समर्थ हो सकेंगे।
- भारतीय साहित्यिक स्रोतों में कथा का विवेचन करने में समर्थ हो सकेंगे।
- कथा के प्रकार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखने में समर्थ हो सकेंगे।

3.3 कथा का अर्थ, परिभाषा

कथा के स्वरूप का प्रारम्भ वैदिक-काल से होता है। वेद जिनके अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आते हैं। इनमें कथाओं का विस्तृत स्वरूप देखने को मिलता है। वेदों में प्रथम वेद ऋग्वेद में अनेक संवाद-सूक्त देखने को मिलते हैं। जिनमें प्रमुख रूप से सूक्त हैं- पुरूरवा-उर्वशी संवादसूक्त, नदी-विश्वामित्र संवादसूक्त, सरमा-पणि संवादसूक्त, यम-यमी संवादसूक्त। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी संवाद की विस्तृत परम्परा दिखायी देती है।

कथा का अर्थ, परिभाषा-

कथा का अर्थ 'शास्त्रार्थ' है। शास्त्रार्थ शब्द का प्रयोग शास्त्र-चर्चा अर्थ में रूढ हो गया

है। कथा को तीन रूपों- वाद, जल्प, वितण्डा, इन तीनों का प्रयोजन शास्त्रों के अर्थ को स्पष्ट करना है। इसलिये तत्त्वनिर्णयकारियों द्वारा इन तीनों कथाओं का सम्मिलित रूप 'शास्त्रार्थ' समझा जाने लगा।

आचार्य उदयन कहते हैं-

'ननु शास्त्रार्थ प्रयोजनव्युत्पादनावसरे प्रमाणम् अर्थवदिति कुछ ? न हि प्रमाणं शास्त्रार्थ: अपितु न्याय:।' (न्यायवार्तिक परिभाषा 1/1/1)

अर्थात् प्रमाण तत्त्वनिर्णय पर जब तक नहीं पहुंचता तब तक वह शास्त्रार्थ नहीं है, अपितु न्याय है तत्त्वनिर्णय करने वाला शब्द प्रमाण शास्त्रार्थ का साधन है। खण्डन-मण्डन परम्परा में तत्त्वनिर्णय कराने वाला शब्द प्रमाण शास्त्रार्थ निर्णय का साधन है। खण्डन-मण्डन की परम्परा में तत्त्वनिर्णय रूप शास्त्रार्थ की स्थापना होती है। इसलिये लक्षण से शास्त्रार्थ शब्द का प्रयोगशास्त्र के साधन (युक्ति प्रत्युक्ति प्रदर्शन) में होने लगा।

वाद, जल्प, वितण्डा जिनकी चर्चा अभी की गयी है। उन तीनों का सामान्य नाम है- कथा। कथा का लक्षण है पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का प्रतिपादन करने के लिये अनेक वक्तत्यों के द्वारा प्रयुक्त होने वाला वाक्यसमूह।

3.3.1 भारतीय दार्शनिक स्रोतों में कथा की अवधारणा

भारतीय दार्शनिक परम्परा का मूल स्रोत उपनिषदों में भी कथा का स्वरूप देखने को मिलता है-

(1) **छान्दोग्य-उपनिषद्** में आत्म-जिज्ञासा की भावना जब उत्पन्न होती है। तब वहां पर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्योपनिषद् 3/14/1) विषय को लेकर के आत्म-जिज्ञासा की भावना उत्पन्न होती है और इसी आत्म-जिज्ञासा की शांति के लिए तत्त्वज्ञान के लिये शास्त्रार्थ प्रणाली का जन्म होता है न्याय-दर्शन में इसकी विस्तृत परम्परा देखने को मिलती है।

तत्त्व-ज्ञान रूप महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्राच्य मनीषियों ने तीन उपाय बतलायें हैं- (1)प्रस्तुत विषय का स्वाध्याय अर्थात् श्रवण (2) चुने गये विषयों का मनन और (3) मनन के बाद उन विषयों का निरन्तर चिन्तन करते रहना।

(2) **बृहदारण्यक-उपनिषद्** में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को परमतत्त्व आत्मा की अपरोक्षानुभूति के लिये संवाद द्वारा प्रोत्साहित किया- आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि!(बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/5) बृहदारण्यक- उपनिषद के तृतीय अध्याय में जनक की सभा में याज्ञवल्क्य-अश्वल-संवाद, याज्ञवल्क्य-आर्तभाग-संवाद, याज्ञवल्क्य-लाह्यायनि- भुज्यु-संवाद, याज्ञवल्क्य-चाक्रायण-उषस्त-संवाद, याज्ञवल्क्य-कहोल-संवाद, याज्ञवल्क्य-गार्गी-संवाद, याज्ञवल्क्य-आरुणि-उद्दालक-संवाद,याज्ञवल्क्य-शाकल्य-संवाद, शास्त्रार्थ की प्रश्न-प्रतिप्रश्न परम्परा के दर्शन होते हैं। याज्ञवल्क्य के द्वारा गार्गी को सचेत करना स्पष्ट दिखाई देता है-

'स होवाच गार्गि मातिप्राक्षी:! मा ते मूर्धा व्यपप्तद् अनतिप्रश्न्यां वै देवताम् अतिपृच्छति गार्गि माति प्राक्षीरिति।' (बृहदारण्यक -उपनिषद् 3/6/1)

अर्थात् हे गार्गि ! अतिप्रश्न मत कर तेरा मस्तक न गिर जाये। तूझे जिसके विषय में अतिप्रश्न नहीं करना चाहिये उस देवता के विषय में प्रश्न कर रही है।

याज्ञवल्क्य के द्वारा इस प्रकार सावधान किये जाने पर गार्गी का मौन होना वाद कथा को तत्त्वनिर्णय तक ले जा रहा है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य-शाकल्य-संवाद में याज्ञवल्क्य ने

शाक्ल्य के प्रश्नों के सही उत्तर दे दिये किन्तु जब उन्होंने शाक्ल्य से शर्त के साथ एक प्रश्न किया तो वह उत्तर न दे सका। उसके बाद अन्य ब्राह्मणों से भी उन्होंने प्रश्न किये ब्राह्मणों का साहस न उनसे प्रश्न करने का हुआ न उत्तर देने का। तब उपसंहार करते हुये याज्ञवल्क्य इस तत्त्वनिर्णय पर पहुंचे-

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति।' (बृहदारण्यक-उपनिषद् 3/9/28)

अर्थात् विज्ञान आनन्द ब्रह्म है। वह धनदाता (कर्म करने वाले यजमान) की परम गति है और ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता का भी परम आश्रय है।

(3) **कठोपनिषद्-**

यजुर्वेद की कठ-शाखा से सम्बन्धित यह उपनिषद् कथा का अच्छा संकेत करता है। वाजश्रवा 'विश्वजित्' नामक यज्ञ करते हैं और अपना सबकुछ दान करने का संकल्प लेते हैं यह यज्ञ ही ऐसा होता है कि इसमें सर्वस्व दान कर दिया जाता है। परन्तु दान करते समय राजा वाजश्रवा को अपने पुत्र नचिकेता के प्रति मोह उत्पन्न हो जाता है कि मैं सब दान कर दूंगा तो मेरा पुत्र क्या करेगा और वह ऋषियों को दूध देने में असमर्थ गायों का दान करने लगते हैं, अनुपयोगी वस्तुओं का दान करने लगते हैं। तब पिता को अधर्म से बचाने के लिये नचिकेता पिता पूछते हैं, पिताजी आप मुझे किसे दान में देंगे ? इस प्रकार कई बार प्रश्न पूछने पर क्रोध से उन्होंने कहा- जाओ मैं तुम्हें यमराज को देता हूं। इसके बाद नचिकेता यमराज की खोज में निकल पड़ते हैं और तीन दिन, तीन रात्रि तक वह यमराज की प्रतीक्षा करते हैं। यमराज अपने द्वार पर बालक नचिकेता को देखकर के प्रसन्न होते हैं और उनसे तीन वरदान मांगने को कहते हैं। इस प्रकार पहले वर के रूप- में तो नाचकेता कहते हैं कि मेरे पिता शांत संकल्प वाले हों, मेरे वापस जाने पर मुझे पहचान ले, मुझसे पूर्व सामान बातचीत करें, मुझे प्रेत न समझे। दूसरे वरदान में- स्वर्ग को गये हुये मनुष्य किस प्रकार अमृततत्त्व को प्राप्त करते हैं ? और यह अग्नि तत्त्व क्या है? तीसरे वरदान में- वह आत्मा के विषय में जानना चाहते हैं। यमराज एक-एक प्रश्न का समाधान करते हैं। इस प्रकार से सम्पूर्ण कठोपनिषद् में कथा का स्वरूप दिखाई देता है।

भारत के दार्शनिक सम्प्रदायों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है। वह है- आस्तिक और नास्तिक दर्शन। भारतीय विचारधारा में आस्तिक उसे कहा जाता है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करता है और नास्तिक उसे कहा जाता है जो वेद को प्रमाण नहीं मानता है। इस दृष्टिकोण से भारतीय दर्शन में 6 दर्शनों को आस्तिक दर्शन कहा जाता है। ये 6 दर्शन हैं- न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त। इन्हें षड्दर्शन भी कहते हैं। नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत चार्वाक, जैन और बौद्ध को रखा जाता है। इस प्रकार नास्तिक दर्शन 3 हैं। इनके नास्तिक कहलाने का मूल कारण है कि यह वेद को प्रमाण नहीं मानते हैं।

नास्तिक और आस्तिक शब्दों का प्रयोग एक दूसरे अर्थ में भी होता है। नास्तिक उसे कहा जाता है जो ईश्वर का निषेध करता है और आस्तिक उसे कहा जाता है जो ईश्वर में आस्था रखता है। इस प्रकार से आस्तिक दर्शन ईश्वरवादी और नास्तिक दर्शन अनीश्वरवादी है।

आयुर्वेद के महान् ग्रन्थ चरक संहिता में कथा को 'सम्भाषा' कहा गया है और उसके दो भेद बताये गये हैं- 'सन्धाय सम्भाषा' और 'विगृह्य सम्भाषा'। 'सन्धाय सम्भाषा' का अर्थ है सन्धि से- सौमनस्य से किया जाने वाला विचार-विनिमय। यह न्यायशास्त्र की 'वाद' कथा है। 'विगृह्य सम्भाषा' का अर्थ है विग्रह-संघर्ष-जय-पराजय की भावना से किया जाने वाला विचार-विनिमय।

इसमें न्यायशास्त्र में वर्णित जल्प और वितण्डा का समावेश होता है।

जैन-दर्शन में कथा का एक ही प्रकार स्वीकृत है और वह है 'वाद'। जल्प और वितण्डा को कथा न कहकर कथाभास कहा गया है और उसे त्याज्य माना गया है। जैनों की अनेक कथायें हैं। सिद्धार्थ की **उपमितिभवप्रपञ्च** कथा में आत्मा का वर्णन है। मेरुतुंग ने **प्रबन्धचिन्तामणि** की रचना की जिसमें पांच प्रकाश हैं। इसमें प्राचीन राजाओं, विद्वानों, कवियों का वृतान्त हैं। जैन कवि राजशेखर ने **प्रबन्धकोश** लिखा। जिसमें 24 प्रसिद्ध व्यक्तियों की जीवनी है।

बौद्ध-दर्शन के पूर्ववर्ती अनेक तार्किकों ने तो कथा के उपर्युक्त तीनों भेद माने थे पर पश्चाद्वर्ती विद्वानों ने जल्प, वितण्डा को कथा के क्षेत्र से पृथक् कर जैन-आचार्यों के समान 'वाद' मात्र को ही कथा के रूप में मान्यता प्रदान की है। बौद्ध लोक कथाओं में प्राचीनतम ग्रन्थ **अवदान-शतक** है। जिसमें अशोक के पुत्र कुणाल की करुण कथा का वर्णन है। इसमें उसकी विमाता उसके आंख निकालवा लेती है। आर्यसूर रचित **जातकमाला** में बोधिसत्त्व की 34 कथायें हैं।

भारतीय-दर्शन के अतिरिक्त यूरोपीय दर्शन की भी एक परम्परा हमारे सामने दिखायी देती है। वहां एक दर्शन के नष्ट हो जाने के बाद प्रायः दूसरे दर्शन का विकास होता हुआ दिखायी देता है। सुकरात के बाद प्लेटो का आगमन हुआ, डेकार्ट के दर्शन के बाद स्पिनोजा का दर्शन विकसित हुआ। बाद के दर्शन ने अपने पूर्व के दर्शन की आलोचना की है। स्पिनोजा का दर्शन डेकार्ट की कमियों को दूर करने का प्रयास है। बर्कले का दर्शन लॉक की कमियों को दूर करने का प्रयास कहा जाता है। स्पिनोजा का दर्शन विकसित हुआ नहीं कि डेकार्ट का दर्शन लुप्त हो गया ऐसे ही बर्कले का दर्शन जब विकसित हुआ तो धीरे-धीरे लॉक का दर्शन समाप्त होता गया। इस प्रकार हम यूरोप में देखते हैं कि वहां एक दर्शन के समाप्त होने पर ही दूसरा दर्शन प्रारम्भ होता है जबकि भारतीय दर्शन में ऐसी परम्परा नहीं दिखायी देती। भारतीय दर्शन कई दर्शनों को एक साथ लेकर के चलता है यहां सभी दर्शन एक साथ जीवित रहते हैं और भारत में दर्शन को जीवन का एक अंग माना गया है। यहां पीढ़ी दर पीढ़ी प्रत्येक दर्शन का विकास होता चला आ रहा है या उसका संरक्षण होता रहता है।

भारतीय दर्शन के आस्तिक सम्प्रदायों का विकास सूत्र-साहित्य के द्वारा हुआ है। प्राचीनकाल में लिखने की परिपाटी नहीं थी दार्शनिक विचारों को अधिकांश तथा मौखिक रूप से ही जाना जाता था। समय के विकास के साथ दार्शनिक समस्याओं का संक्षिप्त रूप सूत्रों में बांधा गया। इस प्रकार दर्शन के प्रणेता ने सूत्र-साहित्य की रचना की, जैसे- न्याय-दर्शन का ज्ञान गौतम के न्यायसूत्र से, वैशेषिक का ज्ञान कणाद के वैशेषिकसूत्र से, शंकर का ज्ञान कपिल के सांख्यसूत्र से तथा योग का ज्ञान पतञ्जलि के योगसूत्र से मीमांसा का ज्ञान जैमिनी के मीमांसासूत्र से और वेदान्त का ज्ञान बादरायण के ब्रह्मसूत्र द्वारा प्राप्त होता है।

न्याय-दर्शन में विस्तार के साथ 16 पदार्थों का वर्णन किया गया है। आइये हम सब इन 16 पदार्थों का अध्ययन करते हैं। वात्स्यायन ने परमन्याय कहकर वाद, जल्प, वितण्डारूप विचारों का मूल एवं तत्त्वनिर्णय का आधार बतलाया है, जैसे-

साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धि: परिसमाप्यते, तस्य पञ्चावयवा: प्रतिज्ञादय: समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते। तेषु प्रमाणसमवाय:। आगम: प्रतिज्ञा, हेतुरनुमानम्, उदाहरणं प्रत्यक्षम्, उपमानमुपमानम्, सर्वषामेकार्थसमवाये सामथ्-र्यप्रदर्शनं निगमनमिति। सोऽयं परमो न्याय इति। एतेन वादजल्पवितण्डा: प्रवर्तन्ते, नातोऽन्यथेति। तदाश्रया च

तत्त्वव्यवस्था।(न्यायभाष्य 1सूत्र)

जिस अर्थ का साधन करना अभीष्ट है उसकी सिद्धि जिस वाक्यसमूह का प्रयोग करने पर सम्पन्न होती है, प्रतिज्ञा आदि पांच वाक्य उस वाक्यसमूह- न्यायवाक्य के अवयव कहे जाते हैं। उन वाक्य में सभी प्रमाणों का समावेश होता है। जैसे 'प्रतिज्ञा' में शब्द प्रमाण का, 'हेतु' में अनुमान प्रमाण का, 'उदाहरण' में प्रत्यक्ष प्रमाण का और 'उपनयन' में उपमान प्रमाण का। 'निगमन' से एक अर्थ के साधन में सभी प्रमाणों के योगदान का प्रदर्शन होता है। यह शब्दसमूह 'परमन्याय' है। इसी के द्वारा वाद, जल्प, वितण्डात्मक कथायें की जाती हैं। इसके बिना वाद आदि कथायें सम्भव ही नहीं हो सकतीं। तत्त्वनिर्णय भी इसी पर आश्रित होता है।

न्यायशास्त्र के प्रवर्तक गौतम मुनि ने 'नि:श्रेयस-मोक्ष' को ही उस शास्त्र का प्रयोजन माना है और उसे प्रमाण, प्रमेय आदि 16 पदार्थों के तत्त्वज्ञान से साध्य बताया है-

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभासच्छल, जाति, निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसाधिगम:। (न्यायदर्शन 1/1/1)

आइये अब हम इन 16 पदार्थों के विषय में संक्षिप्त रूप से ज्ञान प्राप्त करते हैं-

(1) प्रमाण-ज्ञान के साधन को प्रमाण कहा जाता है। न्याय के मातानुसार प्रमाण चार हैं, वह है- प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान।

(2) प्रमेय-ज्ञान के विषय को प्रमेय कहा जाता है। प्रमेय के अन्दर ऐसे विषयों का उल्लेख है जिनका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

(3) संशय- मन की अनिश्चित अवस्था को जिसमें मन के सामने दो या दो से अधिक विकल्प उपस्थित होते हैं, संशय कहा जाता है। इस अवस्था में विषय का विशेष ज्ञान नहीं होता है।

(4) प्रयोजन-जिस वस्तु की प्राप्ति के लिये जो कार्य किया जाता है उसे प्रयोजन कहा जाता है।

(5) दृष्टान्त-ज्ञान के लिये अनुभव किये हुये उदाहरण को दृष्टान्त कहा जाता है। उदाहरण- हमारे तर्क को सबल बनाता है।

(6) सिद्धान्त- सिद्ध स्थापित सिद्धान्त को मानकर ज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ना सिद्धान्त कहा जाता है।

(7) अवयव- अनुमान के अवयव को अवयव कहा जाता है अवयव के अनुमान के अवयव पांच हैं-प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन।

(8) तर्क-यदि किसी बात को प्रमाणित करना है तब उसके विपरीत शब्द को सही मानकर उसकी प्रामाणिकता को दिखलाना तर्क कहा जाता है।

(9) निर्णय-निश्चित ज्ञान को निर्णय कहा जाता है। निर्णय को अपनाने के लिये संशय का त्याग करना आवश्यक हो जाता है।

(10) वाद-वाद उस विचार को कहा जाता है जिसमें सभी परमाणु और तर्कों की सहायता से विपक्षी के निष्कर्ष को काटने का प्रयास किया जाता है।

(11)जल्प-जीतने की अभिलाषा से तर्क करना जल्प कहा जाता है। इसमें वादी और प्रतिवादी का उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करने के बजाय विजय को शिरोधार्य करना होता है।

(12)वितण्डा-यह भी केवल जीतने के उद्देश्य से अपनाया जाता है। इसमें प्रतिवादी के विचारों को काटने की चेष्टा की जाती है। इसमें वादी, प्रतिवादी की बात सुनता है और न ही अपनी बात कहता है, यह अलग ही विषय को प्रस्तुत करता है उसे भी वितण्डा कहते हैं।

(13) हेत्वाभास- प्रत्येक अनुमान हेतु पर निर्भर रहता है। यदि हेतु में कोई दोष हो तो अनुमान भी दूषित हो जाता है। हेतु के दोष को हेत्वाभास कहा जाता है। साधारणतया अनुमान के दोष को हेत्वाभास कहते हैं।

(14) छल-किसी व्यक्ति की कही हुयी बात का अर्थ बदलकर उसमें दोष संकेत करना छल कहा जाता है। उदाहरण के रूप में यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि रमेश के पास नव कंबल है, उस व्यक्ति के कहने का अर्थ है कि रमेश के पास एक नया कंबल है अब प्रतिवादी इसके विपरीत 'नव' शब्द का अर्थ नया न लेकर नौ संख्या समझ लेता है। तब यह छल कहा जायेगा। छल तीन प्रकार के होते हैं- (1) वाक् छल (2) सामान्य छल (3) उपचार छल।

(15)जाति-जाति भी छल की तरह एक प्रकार का दुष्ट उत्तर है। समानता और असमानता के आधार पर दोष दिखलाया जाता है, वह जाति है। यह एक प्रकार का विपरीत उत्तर है।

(16) निग्रह स्थान- वाद-विवाद के मध्य में जब वादी ऐसे स्थान पर पहुंच जाता है जहां उसे हार माननी पड़ती है तो वह निग्रह स्थान कहलाता है। दूसरे शब्दों में पराजय के स्थान को निग्रह स्थान कहा जाता है। निग्रह स्थान के दो कारण हैं। ये है- गलत ज्ञान और अज्ञान।

इन 16 पदार्थों के तत्त्वज्ञान से नि:श्रेयस-मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह न्याय-दर्शन का पहला सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि प्रमाण आदि 16 पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रमाण आदि पदार्थों का तत्त्वज्ञान सम्यक्ज्ञान यथार्थज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि इनका प्रमाण आदि समस्त पदार्थों का उद्देश्य लक्षण और परीक्षा न कर ली जाये। जैसा कि भाष्यकार न्यायदर्शन के भाष्यकर्ता वात्स्यायन ने कहा है कि इस शास्त्र की न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति, रचना, उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा इन तीनों रूपों में है अर्थात् शास्त्र के तीन कार्य हैं- उद्देश्य करना लक्षण बताना लक्षण के युक्ततत्त्व, अयुक्ततत्त्व की परीक्षा करना।

यहां तक आप सभी ने न्याय-दर्शन के स्वरूप और न्याय-दर्शन में प्रतिपादित 16 पदार्थ का विस्तृत अध्ययन किया है। आइये अब हम अपने पढ़े हुये विषयों को अभ्यास-प्रश्नों के माध्यम से जांचने का प्रयास करते हैं।

3.3.2 भारतीय साहित्यिक स्रोतों में कथा की संकल्पना

संस्कृत-साहित्य में देखते हैं तो लोक कथाओं में पञ्चतन्त्र की बहुत सारी कथायें लोक-कथाओं के रूप में दिखायी देती हैं। हितोपदेश, बृहद्श्लोक संग्रह, बृहत्कथामंजरी, बेताल पंचविंशति कथा आदि, कथाओं का उद्गम स्थान हैं।

(1) पञ्चतन्त्र-विष्णु शर्मा द्वारा रचित पञ्चतन्त्र में पशु-पक्षियों तथा मनुष्यों को पात्र रूप में रखकर कथायें कहीं गयीं हैं। इन कथाओं द्वारा नीतिगत, धर्मगत अनेक उपदेश दिये गये हैं। आचार और कौशल का मुख्य स्रोत पञ्चतन्त्र है। शिक्षा से दूर भगाने वाले राजकुमारों को कथा के द्वारा उपदेश देते हुये शिक्षा के प्रति उन्मुख किया जाता है। यहां कथा गद्य रूप में और नीतिगत शिक्षा श्लोक रूप में दिखायी देती है। पञ्चतन्त्र में पांच खण्ड हैं। इन खण्डों को तन्त्र कहते हैं। पांच खण्ड हैं- (1)मित्रभेद (2)मित्रसम्प्राप्ति (3)काकोलूकीय (4)लब्धप्रणाश (5)अपरीक्षितकारक। इनमें कुल 70 कथायें हैं। कुछ कथाओं के नाम- सियार और ढोल कथा, बगुला भगत और केकड़ा, हाथी गौरैया, गौरैया और बंदर, जैसे को तैसा, मूर्ख बगुला और नेवला, साधु और चूहा आदि कथायें हैं।

(2) हितोपदेश-यह नारायण पण्डित द्वारा रचित है। इसमें 43 कथायें हैं। जिनमें 25 कथायें

पञ्चतन्त्र से ली गयीं हैं। हितोपदेश में चार परिच्छेद हैं- (1)मित्रलाभ (2) सुहृदभेद (3)विग्रह (4)सन्धि। इनमें अनेक रोचक और शिक्षाप्रद श्लोक आयें हैं, जैसे मूर्ख को उपदेश देने से उनका क्रोध बढ़ता है शान्त नहीं होता है-

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।

(3) बृहत्कथा- यह गुणाढ्य द्वारा रचित है। गुणाढ्य द्वारा पैशाची-भाषा में लिखी गयी कथा थी। मूल ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। गुणाढ्य ने लोक-जीवन में प्रचलित कथाओं का संकलन करके बृहत्कथा की रचना की। यह लोककथा नायक उदयन का पुत्र नरवाहनदत्त है और इसकी नायिका मदनमंजूषा पर आधारित है। बृहत्कथा को जानने के लिये बृहत्कथामञ्जरी और कथासरित्सागर पढ़ना चाहिये।

(4) बृहत्कथामञ्जरी-यह क्षेमेन्द्र द्वारा रचित है। इसमें 700 श्लोक हैं। इन्होंने महाभारत और रामायण के आधार पर बृहत्कथामञ्जरी लिखी। इस काव्यात्मक कथा में अनेक उपकथायें भी दी गयीं हैं।

(5) कथासरित्सागर-इसमें 24000 श्लोक हैं। इसके लेखक पंडित सोमदेव थे। इस ग्रन्थ का विभाजन लम्बको और तरंगों में किया गया है। इसमें कश्मीर के विदूषकों और सामान्य जनों की कहानी भी जोड़ी गयी हैं। अन्धविश्वास, जादूगरी, शैवमत, बौद्धमत, कर्मवाद, शिवपूजा, मातृपूजा आदि कथायें हैं।

(6) वेतालपञ्चविंशतिका-इसमें 25 कहानियां दी गयीं हैं। इसमें विक्रमसेन (विक्रमादित्य) की कथायें हैं। कोई सिद्ध पुरुष राजा को रत्नगर्भित फल देता है और उसकी सिद्धि में सहायता के लिये राजा को एक वृक्ष पर लटकते हुये शव को लाने के लिये कहता है। वह शव किसी वेताल के वश में है जो शव ले जाते समय राजा को चुप रहने को कहता है किन्तु वेताल विचित्र कथायें सुनाता है कि राजा को बोलना ही पड़ता है। वेताल के कठिन प्रश्नों का उत्तर राजा बुद्धिमत्ता से देता है इस प्रकार से इस कथा में बुद्धि की परीक्षा होती है।

(7) सिंहासनद्वात्रिंशिका (द्वात्रिंशत्पुतलिका)- यह एक रोचक कथा संग्रह है। इस कथा संग्रह में 32 पुतलियां राजा भोज को 32 कहानियां सुनाती हैं। पृष्ठभूमि इस प्रकार है- राजा भोज भूमि में गड़े हुये विक्रमादित्य के सिंहासन को उखाड़ता है और उसे पर बैठना चाहता। किन्तु उसे सिंहासन में जड़ी हुयीं 32 पुतलियां एक-एक करके विक्रमादित्य के पराक्रम को सुनाती हैं और राजा भोज को आयोग के सिद्ध करके उस पर बैठने से रोकते हैं।

(8) शुकसप्तति-इसमें 70 कहानियां हैं। इस कहानी को खाने वाला एक तोता होता है। मदनसेना नामक व्यापारी को कार्यवश विदेश जाना पड़ता है तो वह पत्नी के पास एक तोता छोड़ जाता है। इस प्रकार नववधू के सती धर्म से पथभ्रष्ट न हो तो तोता प्रत्येक रात्रि को एक-एक कहानी सुनाता है। इससे उस स्त्री का मन लगा रहता है जब 70वीं कथा सुनने की रात आने वाली रहती है तभी उसका पति आ जाता है। इस प्रकार इसमें वर्णित सभी कहानियां उपदेशप्रद, रोचक और सरल हैं।

इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में अनेक कथायें प्रचलित हैं जो कथा के स्रोत के रूप में हमारे सामने दिखाई देती हैं।

3.3.3 कथा के प्रकार एवं अधिकारी

क) कथा के प्रकार-

कथा के तीन प्रकार होते हैं- (1) वाद (2) जल्प (3) वितण्डा। अभी तक आप सभी ने

कथा के स्वरूप के विषय में अध्ययन किया है। आइये हम सब कथाओं के इन तीनों प्रकारों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करते हैं।

(1) वाद- वाद उसको कहते हैं जहां वादी-प्रतिवादी किसी विषय पर वाद प्रतिवाद इसलिये करते हैं जिससे तत्त्वज्ञान हो जाये। यहां वाद का उद्देश्य तत्त्वनिर्णय करना है। वाद का लक्षण करते हुये न्यायसूत्र कहते हैं-

'प्रमाण-तर्क-साधनोपालम्भ: सिद्धान्ताविरुद्ध: पञ्चावयवोपपन्न: पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रहो वाद:।' (न्यायसूत्र 1/2/1)

जहां प्रमाण और तर्क से स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष का निराकरण किया जाता है - ऐसा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन इन अनुमान वाक्य के पांच अवयवों से युक्त सिद्धान्त से बिना विरोध का वाक्यसमूह 'वाद' है। भाष्याकार वात्स्यायन के अनुसार-

'वाद: खलु नानाप्रवक्तृक: प्रत्यधिकरणसाधनोऽन्यतराधिकरणनिर्णयावसानो वाक्यसमूह:।' (न्यायसूत्र 1/1/1)

अर्थात् जिनमें अनेक वक्ता हों तथा उनके अपने-अपने विषय के साधक हेतु हों और दोनों में से किसी एक पक्ष में ही अन्त में निर्णय हो। ऐसे वाक्यसमूह वाद कोटि के अन्तर्गत आते हैं।

न्यायवार्तिककार उद्योतकर के अनुसार-

'नायं कथा नियम:, अपितु विचारवस्तुनियम:।

यद् वस्तु विचार्यते तत् त्रेधा विचार्यते-वादो जल्पो वितण्डा।' (न्यायसूत्र 1/2/1)

इसी की व्याख्या करते हुये तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र कहते हैं-

नानाप्रववक्तृक-विचारविषया वाक्यसंदृब्धि: कथा। (न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका 1/2/1)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नाना वक्ताओं के वाक्य का विस्तार वाद कथा है जहां विचारणीय विषय का विवेचन किया जाता है-

विचारविषयो नाना प्रवक्तृको वाक्यविस्तर:।

(तार्किक रक्षा-न्याय परिभाषा, पृष्ठ 239)।

(2) जल्प- जहां वादी और प्रतिवादी विजय की इच्छा रख कर न्याय अनुकूल उक्ति-प्रत्युक्तिरूप वाक्य-समूह को प्रस्तुत करते हैं वह जल्प है-

यथोक्तोपपन्न: छलजाति-निग्रहस्थान-साधनोपालम्भो जल्प:। (न्यायसूत्र 1/2/3)

जल्प कथा में कुछ नियम होते हैं। उसमें वादी, प्रतिवादी और मध्यस्थ तीनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। मध्यस्थ निर्णायक का दायित्व निभाता है। इसलिये उसको सम्पूर्ण शास्त्रविद् होना चाहिये। पहले मध्यस्थ वादी और प्रतिवादी की परीक्षा करता है कि दोनों प्रस्तावित विषय पर शास्त्रार्थ कर सकते हैं। प्रतिवादी का कर्तव्य वादी के पक्ष में प्रमाणपूर्वक दोष दिखाना है। वह तर्क की कसौटी पर उसे उतारेगा। वादी यदि अनुमान प्रस्तुत करेगा तो प्रतिवादी उसमें हेत्वाभास दिखायेगा। वादी के हेतु में हेत्वाभास लक्षण घटा देगा। तब वादी की पराजय हो जायेगी। किन्तु यदि प्रतिवादी, वादी के पक्ष को दूषित नहीं कर पायेगा तो उसकी पराजय होगी। वादी और प्रतिवादी का यह क्रम पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में चलता रहेगा। तब निर्णायक निष्पक्ष रूप में पराजय की घोषणा करेगा। इस प्रकार जल्प कथा विजिगीषा से अनुप्राणित है। इसमें जय लाभ के लिये वादी और प्रतिवादी तर्क प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार यहां पर स्पष्ट है कि एक विषयवस्तु को लेकर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष में परस्पर चर्चा होती है और यह चर्चा वाद-विवाद के रूप में होती है और इसमें मुख्य उद्देश्य किसी तत्त्वनिर्णय

पर न पहुंच करके बल्कि जीतने की इच्छा होती है। इसमें एक की पराजय और दूसरे की विजय इसका भाव निहित होता है।

(3) वितण्डा-जहां अपने पक्ष की स्थापना न होकर केवल पूर्वपक्ष का खण्डन होता है। उसे भी वितण्डा कहा जाता है-

'स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा'

(न्यायसूत्र 1/2/3)।

यहां भी जल्प की ही भांति जय-पराजय की कामना होती है। अतः प्रतिज्ञा-हानि आदि निग्रहस्थान को अवकाश मिलता है। यद्यपि वितण्डा को निकृष्ट कोटि की कथा माना गया है। तथापि कहीं-कहीं इसका विशेष महत्त्व है, जैसे- खण्डनखण्डखाद्य में निर्विशेष ब्रह्म का बोध कराने के लिये वितण्डा का आश्रय लिया जाता है। क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन निषेधात्मक रीति से ही सम्भव है।

वाद कथा में यदि कहीं हेत्वाभास अथवा अपसिद्धान्त हो जाये अर्थात् तत्त्वनिर्णय करता। यदि भ्रांतिवशात् अपसिद्धान्त कर दे तो बुभुत्सु उस पर प्रश्न कर सकता है। अन्यथा तत्त्वनिर्णय का उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा।

यहां वितण्डा का एक सामान्य अर्थ यह हम समझ सकते हैं कि यदि किसी वस्तु पर वादी और प्रतिवादी परस्पर वाद-विवाद करने के लिये होते हैं तो वहां जहां तत्त्वनिर्णय की भावना हो उसके अनुसार विषयवस्तु का वादी और प्रतिवादी उपस्थापना करें। तब वहां पर वादरूपी कथा होती है। लेकिन जहां पर विषयवस्तु को लेकर वादी और प्रतिवादी में परस्पर जीतने की इच्छा हो और दूसरे पक्ष को हराने की इच्छा हो वहां पर जल्परूपी कथा होती है। लेकिन जहां पर विषयवस्तु पर न तो वादी बात करे न प्रतिवादी बात करे कहने का तात्पर्य है कि उत्तरपक्ष पूर्वपक्ष की बात को सुने और न ही अपनी ही बात करे। वहां पर जब एक-दूसरे की बात को न सुनते हुये न अपनी बात कहता है, एक अन्य ही विषय का विवेचन प्रारम्भ कर देता है तो उसको कहते हैं कि यह तो वितण्डा कर रहा है। यदि हम 'ब्रह्म' विषयवस्तु को ले तो ब्रह्म विषयवस्तु को न तो पूर्वपक्ष की बात को सुनकर के उत्तरपक्ष अपने सिद्धान्त को दे रहा हो और ब्रह्म की विषय की चर्चा न करते हुये वह उत्तरपक्ष अन्य ही किसी विषय की चर्चा करने लग जाये और वहां पर उच्च स्वर में बोलने लग जाये तब उसको कहते हैं कि यह अलग ही विषय पर चर्चा कर रहा है। यह अब वितण्डा कर रहा है। यह वितण्डारूपी कथा है।

ख. कथा के अधिकारी-

वाद, जल्प, वितण्डा इन तीनों कथाओं के अधिकारी कैसे होने चाहिये, यह भी एक विचारणीय विषय है। कथा का अधिकारी ऐसा होना चाहिये जो श्रवणपटु हो, बहरा या प्रमत्त न हो, सर्वजनसिद्ध वस्तु का अपलाप न करता हो, कथा के सभी व्यापारों में निपुण हो, कलह प्रिय न हो, जो तत्त्वनिर्णय की कामना रखता हो, जानबूझकर सत्य का अपलाप न करे, प्रकृत विषय में ही वाक्य का उपयोग करे, अवसर पर उत्तर करे, युक्तिसिद्ध तत्त्व को ग्रहण करे, वही वाद का अधिकारी है। वादकथा गुरु और शिष्य के बीच होती है। जैसा कि न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने कहा है- तत्र गुर्वादिभि: सह वाद:। (न्यायवार्तिक 1/2/1)

किन्तु जल्प और वितण्डा के अंग के रूप में वादी नियम, प्रतिवादी नियम, सभापति नियम और मध्यस्थ नियम बताये गये हैं। वादी और प्रतिवादी कौन हो सकता है ? इसका निर्णय करना आवश्यक है। सभापति इसका निर्णय करता है। वादी और प्रतिवादी अपने वक्तव्य को मध्यस्थ

के सामने रखते हैं।

जल्प और वितण्डा में नियमों का पालन करना आवश्यक होना चाहिये। इससे क्रोध व कलह की सम्भावना कम हो जाती है। महर्षि गौतम ने जल्प, वितण्डा को तत्त्वनिर्णय के संरक्षण में उपयोगी माना है- तत्वाध्यवसाय-संरक्षणार्थं जल्पवितण्डे, बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्। (न्यायसूत्र 4/2/50) अर्थात् जैसे कृषक खेत में बीज बोता है उसके अंकुरित होने पर गाय, भैंस आदि से उसको बचाने के लिये कांटे वाली डाल से खेत को घेरकर उन अंकुरों की रक्षा करता है, उसी प्रकार मुमुक्षु को अपने तत्त्वनिर्णय की संरक्षा के लिये जल्प, वितण्डा का सहारा लेना पड़ता है।

भाष्यकार वात्स्यायन ने वाद, जल्प, वितण्डा की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुये कहा- शास्त्रों के तत्त्वों का श्रवण करने के उपरान्त जिसको तत्त्वज्ञान परिपक्व एवं दृढ़ नहीं हुआ है, वह व्यक्ति उसकी दृढ़ता के लिये गुरु के उपदेश में प्रवृत्त होता है। उसके समीप नास्तिक प्रतिपक्षी उसके विपरीत पक्ष का समर्थन करते हैं जिससे तक तो निश्चय में हानि होती है। अतः उस तत्त्व निश्चय की रक्षा के लिये मुमुक्षु को जल्प, वितण्डा को अपनाना पड़ता है। जिससे नास्तिकों का मत निराकृत हो जाता है। किन्तु यह कार्य धन लाभ और लोकप्रसिद्धि के लिये नहीं होना चाहिये- तदेतद् विद्या परिपालनार्थं न लाभपूजाख्यात्पर्थम्। (न्यायभाष्यकार 4/2/51) यहां पर न्याय-दर्शन में कथा के स्वरूप का अध्ययन करने के लिये अधिकारी के विशेष नियम जो बताये गये हैं वह मात्र केवल कथा के स्वरूप का ही अध्ययन करने के लिये ही नहीं है, बल्कि किसी भी गम्भीर शास्त्र का अध्ययन करने के लिये गुरु की आवश्यकता होती है और उस शास्त्र के अध्ययन हेतु जो भी नियम अनुशासन होते हैं उसका पालन अधिकारी को अवश्य ही करना चाहिये। क्योंकि बिना नियमों और अनुशासन के अनुसार शास्त्र का अध्ययन या शास्त्र को ग्रहण कर पाना शास्त्र ज्ञान की अभिलाषा रखने वाले के लिये यह सम्भव नहीं हो सकता है कि वह विशुद्ध रूप से शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर सके।

इस प्रकार आप सभी यहां पर कथा के स्वरूप, कथा के प्रकार और कथा को ग्रहण करने का अधिकारी कौन हो सकता है, इस विषय पर विस्तृत अध्ययन कर लिया है। आइये अब हम अपने पढ़े हुये विषय को अभ्यास-प्रश्नों के माध्यम से जांचने का प्रयास करते हैं।

3.4 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत आप सभी कथा के स्वरूप एवं प्रकार का विस्तारपूर्वक अध्ययन कर लिया है। इस प्रकार यहां आप सभी ने देखा कि न्यायशास्त्र में कथा का विस्तार रूप से वर्णन प्राप्त होता है। वैदिक-काल से ही कथा का प्रारम्भ हो चुका था। जिसका स्वरूप हमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों में स्पष्ट रूप से दिखायी देता है और इसी कथा का विस्तार आगे चलकर के दर्शन के क्षेत्र में न्याय-दर्शन में विस्तार से हुआ। न्याय-दर्शन में कथा के तीन रूप जिस प्रकार बताये गये हैं उनमें वाद को उच्चकोटि की कथा, जल्प को मध्यकोटि की और वितण्डा को निकृष्टकोटि की कथा बतलाया गया है। लेकिन वर्तमान समय में यदि हम देखें तो हमें अपनी बात को या अपने मत को कभी-कभी सिद्ध करने के लिये वितण्डा का आश्रय लेना ही होता है। यह भाव हमें तब दिखायी देता है जब अन्य दर्शन विकसित होने लगे तब अपने धर्म और दर्शन को स्थापित रखने के लिये नास्तिकों के समक्ष वितण्डा का आश्रय लेते हुये विद्वानों ने वितण्डा का भी आश्रय लिया।

जैन-दर्शन ने इन तीनों में से केवल वादरूपी कथा को ही स्वीकार किया और जल्प और वितण्डा कथा को कथाभास माना है। इसी तरह से बाद के विद्वानों ने भी विशुद्धरूप से वाद कथा को ही मुख्य रूप से अपनाया और शेष कथाओं का समयानुसार विशेष परिस्थिति में प्रयोग किया है। साहित्य में विस्तार के साथ कथा के स्रोत प्राप्त होते हैं।

कथा को ग्रहण करने के अधिकारी के विषय में भी विस्तारपूर्वक न्याय-दर्शन में बतलाया गया है कि कथा को ग्रहण करने वाला जो अधिकारी है, वह प्रमत्त न हो, श्रवणपटु हो, नियमबद्ध हो और निरन्तर गुरु के समीप बैठ करके अध्ययन में संलग्न हो विचार करके ही विषयवस्तु का उपस्थापना करे। इस इकाई में कथा के स्वरूप और प्रकार का विस्तृत अध्ययन करने के उपरान्त इससे सम्बन्धित आगे दिये गये बोध-प्रश्नों के उत्तर दे पाने में आप समर्थ हो सकेंगे।

3.5 पारिभाषिक शब्दावली

1. **उपस्थापना**- प्रस्तुतीकरण।
2. **मुमुक्षु**-मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाला।
3. **अपलाप -** व्यर्थ की बातें बोलना।
4. **प्रमत्त**- पागल भांति व्यवहार करना।
5. **अपसिद्धान्त**- सिद्धान्त के विपरीत कथन कर देना।
6. **ब्रह्मवेत्ता**- ब्रह्म को जानने वाला।
7. **ब्रह्मनिष्ठ**- ब्रह्मप्राप्ति में लगा हुआ।
8. **सर्वशास्त्रविद्**- सम्पूर्ण शास्त्रों को जानने वाला।

3.6 सन्दर्भग्रन्थ

1. पुस्तक- भारतीय दर्शन का इतिहास लेखक- आचार्य बलदेव उपाध्यक्ष, प्रकाशन- चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, प्रथम संस्करण।
2. पुस्तक- छान्दोग्योपनिषद्, प्रकाशन- गीता प्रेस, गोरखपुर।
3. श्रीकेशवमिश्र की तर्कभाषा, सम्पादक- बदरीनाथ शुक्ल, प्रकाशन- मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1968 ई0।
4. गौतमकृत न्यायदर्शनम्, लेखक- प्रो. अनन्तलाल ठाकुर, प्रकाशन-मिथिलाविद्यापीठ, संस्करण 1967 ई0
5. पुस्तक- न्याय-दर्शन, सम्पादक- पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रकाशन- संस्कृति संस्थान, बरेली उत्तर-प्रदेश, प्रथम संस्करण, 1964 ई.

3.7 बोध-प्रश्न

1. भारतीय-दर्शन के सम्प्रदाय का संक्षेप में उल्लेख करिये।
2. कथा का अर्थ और परिभाषा का उल्लेख करिये।
3. भारतीय दार्शनिक स्रोतों में कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन करिये।
4. भारतीय साहित्यिक स्रोतों में कथा की संकल्पना पर टिप्पणी लिखिये।
5. कथा के प्रकार का विस्तारपूर्वक वर्णन करिये।
6. कथा को जानने वाले अधिकारी की योग्यता क्या-क्या होनी चाहिये ? स्पष्ट करिये।

खण्ड- चार (Section-D)
वाद परम्परा

इकाई-1 वाद परम्परा एवं तात्पर्य निर्णय

इकाई की रूपरेखा

1-1 प्रस्तावना

1-2 उद्देश्य

1-3 मुख्य भाग: वाद परम्परा

1-3-1 वाद परम्परा की अवधारणा

1-3-2 वाद परम्परा का ऐतिहासिक विकास

1-3-3 तात्पर्य निर्णय

1-3-4 न्यायशास्त्र में वाद परम्परा और तात्पर्य निर्णय

1-4 सारांश

1-5 पारिभाषिक शब्दावली

1-6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1-7 सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

1-8 सहायक उपयोगी सामग्री

1-9 निबन्धात्मक प्रश्न

1-1 प्रस्तावना

भारतीय ज्ञानपरम्परा में वादपरम्परा का उल्लेखनीय स्थान है। वाद शब्द का अभिप्राय 'विचार-विमर्श' अथवा 'तर्क-वितर्क' से है। यह परम्परा संवाद एवं विमर्श की उन प्रणालियों का परिचय देती है जिनके द्वारा विविध दार्शनिक, नैतिक, एवं सामाजिक विषयों पर सत्य की अन्वेषणा की जाती है। प्राचीन भारत में ज्ञान की प्राप्ति एकालापी न होकर वाद-विवाद और तर्कयुक्त संवाद के माध्यम से विकसित होती थी। वादपरम्परा का प्रमुख उद्देश्य केवल वाग्वैदग्ध्य प्रदर्शन नहीं अपितु सत्यान्वेषण, विचारों की विशदता, तथा आत्मबोध की लालसा भी थी।

न्यायशास्त्र के ग्रन्थों में वाद के प्रकारों का विस्तृत वर्णन मिलता है। यह परम्परा केवल दार्शनिक शास्त्रों तक सीमित न रहकर न्याय, धर्मशास्त्र, और भाषाशास्त्र में भी इसका व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वाद के तीन मुख्य रूप प्रचलित हैं: जल्प, वितण्डा, एवं संवाद। जहाँ जल्प और वितण्डा वाक्चातुर्य और वाक्विवाद के लिए प्रयुक्त होते हैं, वहीं संवाद को सत्यान्वेषण के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। उदाहरणतः- महाभारत में श्रीकृष्ण और अर्जुन के मध्य का संवाद एक श्रेष्ठ वाद का उदाहरण है, जिसमें तर्क और प्रतितर्क के साथ-साथ आत्मिक मार्गदर्शन भी सम्मिलित है।

वेदों और उपनिषदों में वाद के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं, जहाँ ऋषि-मुनियों के मध्य विचार-विमर्श और तर्क-वितर्क द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती थी। वाद परम्परा का सार यही है कि सत्य का अन्वेषण खुले हृदय से किया जाए और अपर के विचारों का सम्मान करते हुए नवीन दृष्टिकोणों को स्वीकारा जाए। इस परम्परा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य यह भी था कि व्यक्ति की तर्क क्षमता का विकास हो और वह अपने विचारों को सुस्पष्ट और वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत कर सके।

तात्पर्य निर्णय इस वाद प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है। तात्पर्य का अर्थ है किसी कथन या वाक्य का सटीक अर्थ निकालना, और यह निर्णय इस बात पर आधारित होता है कि उस वाक्य का संदर्भ, संदर्भित शब्द और तात्कालिक परिस्थिति क्या है। तात्पर्य निर्णय में भाषा और व्याकरण का सही-सही प्रयोग अनिवार्य है, जिससे सही अर्थ तक पहुँचा जा सके। तात्पर्य का सिद्धांत प्राचीन भारतीय न्यायशास्त्र, मीमांसा, और व्याकरणशास्त्र में गहराई से जुड़ा हुआ है।

भारतीय दर्शन में, विशेषकर न्याय दर्शन में, वाद और तात्पर्य निर्णय का व्यापक उपयोग हुआ है। न्यायशास्त्र में वाद-विवाद को व्यवस्थित और तार्किक रूप में प्रस्तुत करने की प्रक्रिया विकसित की गई, जिससे सही निर्णय तक पहुँचने में सहायता मिल सके।

इस प्रकार, वाद परम्परा न केवल भारतीय ज्ञान परम्परा का अभिन्न अंग रही है, बल्कि इसके माध्यम से सत्य, तर्क और विचारशीलता की स्थापना भी की गई है। यह परम्परा आज भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह हमें विचारशील बनने, दूसरों के दृष्टिकोण को समझने और सही निर्णय लेने की क्षमता प्रदान करती है।

1-2 उद्देश्य

वाद परम्परा एवं तात्पर्य निर्णय अध्ययन के मुख्य उद्देश्य व्यापक और महत्वपूर्ण हैं, जिनका लक्ष्य न केवल ज्ञान की गहराई को बढ़ाना है, बल्कि छात्रों को तार्किक और विचारशील व्यक्तित्व में विकसित करना भी है। निम्नलिखित उद्देश्य इस अध्ययन के केंद्र में हैं:

1. **वाद परम्परा की विस्तारशीलता को समझना:** भारतीय ज्ञान परम्परा में वाद की भूमिका को समझने का उद्देश्य छात्रों को दार्शनिक चिंतन और तर्कशीलता में पारंगत करना है। इससे वे विभिन्न दृष्टिकोणों की पहचान कर सकेंगे और तर्कशील संवाद में भाग लेने के लिए तैयार होंगे।
2. **तात्पर्य निर्णय की प्रक्रिया की व्याख्या:**वाद विमर्श में तात्पर्य निर्णय का महत्व समझना और इसकी विधियों का विस्तृत अध्ययन करना, ताकि विद्यार्थी संदर्भ के अनुरूप सही अर्थ की व्याख्या करने में सक्षम हो सकें। यह उनकी भाषा कौशल और संवादात्मक क्षमताओं को बढ़ाने में सहायक होगा।
3. **भारतीय दर्शन और न्यायशास्त्र में वाद की परिकल्पना:**भारतीय दर्शन एवं न्यायशास्त्र में वाद की प्रक्रियाओं और इसके उपयोग को विस्तार से समझना, जिससे छात्र वैचारिक संवादों में अपनी भूमिका को प्रभावी ढंग से निभा सकें। यह उन्हें समाज में विभिन्न नैतिक और न्यायिक मुद्दों पर संवाद करने के लिए सक्षम बनाएगा।

इन उद्देश्यों का अध्ययन करने से विद्यार्थी न केवल भारतीय वाद परम्परा के सिद्धांतों को समझ पाएंगे, बल्कि वे अपने विचारों को अधिक सुस्पष्ट और तार्किक ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता का भी विकास कर सकेंगे। इस प्रकार, यह अध्ययन उन्हें वैचारिक संवादों में अधिक सक्रिय और प्रभावी बनाने में मदद करेगा, जिससे वे समाज में बेहतर योगदान दे सकेंगे।

1-3 मुख्य भाग: वाद परम्परा

1-3-1: वाद परम्परा की अवधारणा—

वाद परम्परा की अवधारणा भारतीय दर्शन और विचार-विमर्श के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्तम्भ के रूप में स्थापित है। इसे समझने के लिए सर्वप्रथम वाद के शाब्दिक अर्थ और इसकी व्यावहारिक प्रक्रिया को देखना आवश्यक है। वाद शब्द 'वद' धातु से निर्मित है जिसका अर्थ होता है बोलना या विचार व्यक्त करना। इस प्रकार, वाद में वह तर्क-संगत और सिस्टमैटिक विचार विमर्श शामिल है जिसमें विचारों की परख, समीक्षा, और उनका मूल्यांकन किया जाता है।

वाद की प्रक्रिया—

वाद की प्रक्रिया भारतीय दर्शनिक परंपरा में एक गहन और योजनाबद्ध तरीका है, जिसमें वाग्मिता, तार्किकता, और गहराई का समावेश होता है। इस प्रक्रिया का मूल उद्देश्य सत्य की खोज और विचारों की परस्पर जांच पड़ताल करना है।

वाग्मिता का महत्व: —

वाग्मिता, वाद प्रक्रिया में भाषा की कला और कुशलता को दर्शाता है। यह किसी विचार या तर्क को सटीक और प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता है। एक अच्छा वक्ता वह होता है जो अपने शब्दों के माध्यम से श्रोताओं को बांध सके और उन्हें अपने विचारों की गहराई तक ले जा सके।

तार्किकता की भूमिका: —

तार्किकता, वाद की प्रक्रिया में विचारों की वैज्ञानिक पड़ताल करने का माध्यम है। इसमें तर्कों को क्रमबद्ध और योजनाबद्ध तरीके से प्रस्तुत किया जाता है, ताकि सामने वाले को युक्ति-युक्त समझ में आसानी हो। यह सभी प्रमुख तर्कों और प्रतितर्कों का विश्लेषण और मूल्यांकन करता है, जिससे विचारों की पारदर्शिता और विश्वसनीयता सुनिश्चित होती है।

गहनता और संवाद: —

वाद प्रक्रिया में गहनता, विचारों के विस्तार और उनकी गहन समझ को दर्शाती है। यह न केवल विचारों की प्रस्तुति है बल्कि एक व्यापक संवाद की प्रक्रिया है जिसमें विविध दृष्टिकोणों को समझा जाता है और उन्हें मूल्यांकित किया जाता है। यह संवाद विभिन्न पक्षों के बीच की कड़ियों को जोड़ता है और एक साझा समझ की ओर ले जाता है, जो समाधानों और नवाचारों की नींव रखता है।

इस प्रकार, वाद की प्रक्रिया व्यक्तिगत और सामूहिक चिंतन में एक महत्वपूर्ण कदम है, जो ज्ञान की वृद्धि और सामाजिक सद्भाव को प्रोत्साहित करती है।

वाद के प्रकार—

भारतीय दर्शन में वाद की प्रक्रिया अत्यंत विविधतापूर्ण और जटिल होती है, जिसमें तीन मुख्य प्रकार हैं: जल्प, वितण्डा, और संवाद। ये प्रकार विचार-विमर्श की विभिन्न शैलियों को दर्शाते हैं और विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं।

1. जल्प: —जल्प एक तर्क-संगत प्रक्रिया है जिसमें वक्ता अपने विचारों को ऐसे सशक्त और तार्किक ढंग से प्रस्तुत करता है कि वह विमर्श में विजयी हो सके। जल्प का उद्देश्य न केवल अपनी बात को मजबूती से रखना है, बल्कि प्रतिद्वंद्वी के तर्कों को चुनौती देना और उन्हें खंडित करना भी है। यह तर्कशास्त्र में बहुत महत्वपूर्ण होता है और विचारों के मूल्यांकन की गहराई को बढ़ाता है।

2. वितण्डा: — वितण्डा की प्रक्रिया में मुख्य रूप से विरोधी के तर्कों को अस्वीकार करना होता है। यह वाद का एक ऐसा रूप है जिसमें कोई सकारात्मक प्रस्ताव नहीं होता है; बल्कि, इसका मुख्य लक्ष्य विपक्षी के तर्कों को खारिज करना और उन्हें अवैध सिद्ध करना होता है। वितण्डा तब प्रयोग किया जाता है जब उद्देश्य मात्र विरोध करना होता है, और यह अक्सर बहसों में देखा जा सकता है जहाँ वक्ता विरोधी के विचारों को चुनौती देने पर केंद्रित रहता है।

3. संवाद: — संवाद वाद-विवाद का सबसे उच्च और सद्भावपूर्ण रूप है, जिसमें दो या अधिक व्यक्ति मिलकर सत्य की खोज करते हैं। इस प्रक्रिया में, सभी पक्ष एक साथ काम करते हैं और विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, जिससे एक समृद्ध और गहन ज्ञान की खोज हो सके। संवाद में, वाद-विवाद का उद्देश्य विजय प्राप्त करना नहीं बल्कि साझा समझ और सहमति बनाना होता है।

इन प्रकारों के माध्यम से, वाद परम्परा ने भारतीय चिंतन और दर्शन को एक विशेष आयाम प्रदान किया है। यह सिर्फ तर्क और वितर्क तक सीमित नहीं रहता बल्कि यह एक व्यापक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उत्थान का माध्यम भी बनता है। वाद की यह परम्परा न केवल वैदिक काल में बल्कि मध्यकालीन और आधुनिक काल में भी विद्वानों के बीच विचार-विमर्श का एक प्रमुख साधन रही है।

ये वाद के प्रकार भारतीय दर्शन में विचार-विमर्श की गहराई और विविधता को दर्शाते हैं और यह दिखाते हैं कि कैसे विचारों की सृजनात्मक और तार्किक जांच प्रक्रिया समाज में ज्ञान की वृद्धि और सामाजिक सद्भाव को प्रोत्साहित करती है।

1-3-2 वाद परम्परा का ऐतिहासिक विकास—

वाद परम्परा का ऐतिहासिक विकास भारतीय दर्शन और तर्कशास्त्र की समृद्ध विरासत का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसकी उत्पत्ति और विकास विभिन्न युगों में विद्वानों द्वारा किए गए विचार-विमर्श और शास्त्रार्थ के माध्यम से समझी जा सकती है।

वैदिक युग में वाद—

वैदिक युग भारतीय ज्ञान परम्परा का एक महत्वपूर्ण चरण है, जहाँ वाद का मुख्य उद्देश्य धार्मिक और ऋत्विजिक कर्मकांडों के सही अनुष्ठानों को समझना और उन्हें उचित तरीके से आचरण में लाना था। इस काल में वाद की प्रक्रिया को धार्मिक सिद्धांतों, अनुष्ठानों, और ब्रह्मविद्या के गहन अध्ययन से जोड़ा गया।

ब्रह्मोद्यम की प्रक्रिया: —

इस युग में ऋषियों और विद्वानों के बीच वैदिक मंत्रों और उनके अर्थों पर विमर्श होता था, जिसेब्रह्मोद्यमकहा जाता था। यह प्रक्रिया विचारों का आदान-प्रदान और शास्त्रों की व्याख्या के लिए एक महत्वपूर्ण मंच प्रदान करती थी। यहाँ, ऋषि-मुनियों के बीच ज्ञान की खोज में गहन चर्चा होती थी, जिससे उन्होंने वेदों के गूढ़ अर्थों को स्पष्ट किया और धर्म के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया।

धार्मिक अनुष्ठान और वाद: —

विवेचनात्मक वाद ने वैदिक युग में धार्मिक अनुष्ठानों की सटीकता सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस समय, वैदिक मंत्रों के सही उच्चारण, उनके अर्थ, और अनुष्ठान के विधियों पर विमर्श किया जाता था, ताकि धार्मिक क्रियाएँ सही ढंग से संपन्न की जा सकें। यह सुनिश्चित करता था कि विधियों का पालन न केवल अनुशासनात्मक दृष्टिकोण से, बल्कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी सही तरीके से किया जाए।

ज्ञान का आदान-प्रदान: —

इस वाद प्रक्रिया ने ज्ञान के आदान-प्रदान में भी सहायता की, जहाँ विद्वान अपने ज्ञान को साझा करते थे और एक-दूसरे के विचारों का सम्मान करते हुए विमर्श करते थे। यह संवाद न केवल व्यक्तिगत ज्ञान के विस्तार में मददगार था, बल्कि यह सामूहिक रूप से भी सामाजिक और धार्मिक ज्ञान का संवर्धन करता था।

इस प्रकार, वैदिक युग में वाद ने न केवल धार्मिक अनुष्ठानों की शुद्धता और सत्यता को स्थापित किया, बल्कि यह भारतीय ज्ञान परम्परा में संवाद और विचारशीलता की नींव भी रखी।

उत्तर वैदिक युग और दार्शनिक विकास—

उत्तर वैदिक युग भारतीय दार्शनिक परंपरा में एक महत्वपूर्ण मोड़ है, जहाँ वाद का स्वरूप और अधिक परिष्कृत हुआ। इस युग में उपनिषदों का उदय हुआ, जो न केवल वेदों की व्याख्या करते हैं बल्कि ज्ञान, आत्मज्ञान, और ब्रह्मविद्या के गहन विषयों पर चर्चा करने का एक मंच प्रदान करते हैं।

उपनिषदों में वाद विमर्श: —

उपनिषदों के समय में वाद विमर्श आत्मज्ञान और ब्रह्मविद्या के संदर्भ में अधिक प्रचलित हुआ। विद्वानों ने विभिन्न उपनिषदों के माध्यम से जीवन, मृत्यु, आत्मा, और ब्रह्मांड के बारे में गहराई से चर्चा की। इस समय, वाद की प्रक्रिया ने ज्ञान के सूक्ष्म पहलुओं की जांच-पड़ताल को प्रेरित किया, जिससे विचारों का व्यापक और गहन स्तर पर विश्लेषण संभव हुआ।

आध्यात्मिक ज्ञान की खोज: —

इस युग में आध्यात्मिक ज्ञान की खोज में वाद ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। विद्वानों ने न केवल तर्क की प्रक्रियाओं का अनुसरण किया, बल्कि उन्होंने आंतरिक अनुभवों और आत्मबोध के माध्यम से सत्य की खोज की। वाद का यह रूप विचारों के आदान-प्रदान, प्रश्नों की प्रस्तुति, और अंतर्दृष्टि के आधार पर निर्मित हुआ, जिससे ज्ञान की एक नई परिभाषा स्थापित हुई।

दार्शनिक चिंतन का विकास: —

उत्तर वैदिक युग ने दार्शनिक चिंतन के विकास को भी सशक्त किया। यहाँ पर, विद्वानों ने ब्रह्म के साथ आत्मा के संबंध, जीवन के उद्देश्य, और मृत्यु के रहस्यों पर विचार किया। यह चर्चा दार्शनिक संवादों के रूप में प्रकट हुई, जहाँ विभिन्न विचारों का आदान-प्रदान होता रहा। वाद की इस प्रक्रिया ने विचारों की स्पष्टता और सटीकता को बढ़ावा दिया, जिससे विद्वानों को अपनी अवधारणाओं को परिष्कृत करने में सहायता मिली।

इस प्रकार, उत्तर वैदिक युग में वाद ने न केवल दार्शनिक विकास को समृद्ध किया, बल्कि यह भारतीय ज्ञान परंपरा में आत्मज्ञान और ब्रह्मविद्या की खोज में एक केंद्रीय भूमिका निभाने वाला तत्व बन गया।

बौद्ध और जैन दर्शन में वाद—

बौद्ध और जैन दर्शन के विकास के साथ, वाद परम्परा ने नया रूप धारण किया और यह दर्शन की गहराई में एक महत्वपूर्ण आयाम जोड़ दिया। इन दर्शनों में वाद विमर्श को अहिंसा और अनेकांतवाद के परिप्रेक्ष्य में देखा गया, जिससे विचारों के प्रति एक नया दृष्टिकोण विकसित हुआ।

बौद्ध धर्म में वाद विमर्श: —

बौद्ध धर्म में शास्त्रार्थ का बड़ा महत्व था, जहाँ बुद्ध और उनके अनुयायी विभिन्न दार्शनिकों और धर्मों के साथ वाद विवाद करते थे। बुद्ध ने तर्कशीलता और विवेचना के माध्यम से अपने विचारों को प्रस्तुत किया। उनका उद्देश्य केवल अपनी सत्यता को स्थापित करना नहीं था, बल्कि उन्होंने श्रोताओं को तर्क के माध्यम से आत्मज्ञान की ओर अग्रसर करने का प्रयास किया। यह संवाद न केवल बौद्ध दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है, बल्कि यह एक ऐसे संवाद को भी जन्म देता है जो विविध विचारों और दृष्टिकोणों को एक साथ लाता है।

जैन धर्म में अनेकांतवाद: —

जैन धर्म में, अनेकांतवाद ने विचारों की विविधता और संभावनाओं को स्वीकार करने की शिक्षा दी। यह दर्शन बताता है कि सत्य एक से अधिक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है, और किसी भी विषय पर विभिन्न विचारों का सम्मान करना आवश्यक है। जैन विद्वानों ने वाद की प्रक्रिया को गहराई से समझा और इस सिद्धांत के आधार पर संवाद किया, जिससे न केवल अपने विचारों को प्रस्तुत किया गया, बल्कि दूसरों के विचारों को समझने का भी प्रयास किया गया।

अहिंसा और संवाद: —

बौद्ध और जैन दोनों ही दार्शनिक परंपराओं में अहिंसा का सिद्धांत वाद विमर्श की प्रक्रिया को प्रभावित करता है। यह सिद्धांत संवाद के दौरान सहिष्णुता, सम्मान और संवेदनशीलता को प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार, वाद का यह रूप एक रचनात्मक और सहकारी संवाद का निर्माण करता है, जिसमें विभिन्न विचारों को स्वीकार करते हुए सत्य की

खोज की जाती है। इस प्रकार, बौद्ध और जैन दर्शन में वाद परम्परा ने न केवल विचारों के प्रति खुलेपन को बढ़ावा दिया, बल्कि इसे एक नई दिशा और गहराई प्रदान की, जिससे ज्ञान की विविधता और समृद्धि में योगदान मिला।

न्याय और मीमांसा दर्शन—

न्याय और मीमांसा दर्शनों में वाद की परम्परा ने तर्कशास्त्र और विधि-विधानों के सूक्ष्म अनुशीलन को बढ़ावा दिया। ये दोनों दर्शन भारतीय दार्शनिक परंपरा के प्रमुख स्तंभ हैं और इनका प्रभाव ज्ञान के अध्ययन और न्याय की प्रक्रियाओं पर गहरा है।

न्याय दर्शन: —

न्याय दर्शन विशेष रूप से तर्कशास्त्र और विचारणा की प्रक्रियाओं पर जोर देता है। न्याय में वाद की प्रक्रिया का उद्देश्य तर्क और प्रमाण के माध्यम से सत्य की खोज करना है। यहाँ तर्क के विभिन्न प्रकारों, जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द, का प्रयोग करते हुए विचारों की स्पष्टता और सटीकता को बढ़ाया जाता है। न्याय में वाद का अध्ययन विद्वानों को तर्क की गहराई में जाने और विभिन्न दृष्टिकोणों का विश्लेषण करने की अनुमति देता है, जिससे न्यायिक निर्णयों में विवेक और तर्क का समावेश होता है।

मीमांसा दर्शन: —

वहीं, मीमांसा दर्शन वेदों की व्याख्या और अनुष्ठान कर्मकांड की विधियों पर ध्यान केंद्रित करता है। यह दर्शन न केवल धार्मिक अनुष्ठानों को सही रूप से संपन्न करने की प्रक्रिया पर बल देता है, बल्कि इसे तर्क और संवाद के माध्यम से भी विकसित करता है। मीमांसा में वाद परम्परा का प्रयोग शास्त्रों की व्याख्या में गहराई लाता है और विभिन्न विचारों को समाहित करने की क्षमता प्रदान करता है। यहाँ पर शास्त्रार्थ को वैदिक अनुष्ठानों की सटीकता सुनिश्चित करने के लिए एक साधन के रूप में देखा जाता है।

वैज्ञानिक और व्यवस्थित दृष्टिकोण: —

इन दोनों दर्शनों ने वाद को और अधिक वैज्ञानिक और व्यवस्थित बनाया, जिससे शास्त्रार्थ और विचार-विमर्श की परम्परा को नई दिशा मिली। यह दृष्टिकोण विचारों की तर्कसंगत प्रस्तुति और ज्ञान की जांच-पड़ताल में सहायक होता है। न्याय और मीमांसा दर्शन ने भारतीय दार्शनिकता में तर्क, सिद्धांत और व्यावहारिकता का समन्वय किया है, जिससे ज्ञान और न्याय की प्रक्रियाएँ और भी सुसंगत और प्रभावशाली बन सकें। इस प्रकार, न्याय और मीमांसा दर्शनों में वाद की परम्परा ने न केवल दार्शनिक चिंतन को समृद्ध किया, बल्कि यह समाज में न्याय और ज्ञान की प्रक्रियाओं को बेहतर बनाने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

1-3-3 तात्पर्य निर्णय—

तात्पर्य निर्णय भारतीय दर्शन और वाद परम्परा में एक केंद्रीय अवधारणा है, जो शब्दों और वाक्यों के सही अर्थ की व्याख्या के लिए आवश्यक है। यह प्रक्रिया संवाद के दौरान विचारों की सटीकता और उनके उद्देश्य को समझने में मदद करती है।

तात्पर्य की तात्त्विक विश्लेषण—

तात्पर्य निर्णय की प्रक्रिया में शब्दों के सही अर्थ को समझने के लिए व्याख्यानिक संदर्भ, प्रसंग, और प्रकरण का गहन अध्ययन शामिल है। इसमें वाक्य के घटकों की व्यवस्था और उनके पारस्परिक संबंधों को देखते हुए अर्थ का निर्धारण किया जाता है। भारतीय

न्यायशास्त्र में तात्पर्य निर्णय के लिए 'अभिप्राय' और 'लक्षणा' जैसे तत्वों का उपयोग किया जाता है, जो शब्दों के शाब्दिक और लाक्षणिक अर्थों के बीच भेद करते हैं।

वाक्य के तात्पर्य का निर्धारण—

वाक्य के तात्पर्य का निर्धारण करते समय, वक्ता की मनःस्थिति, श्रोताओं की अपेक्षाएँ और सांस्कृतिक प्रसंग को समझना परम आवश्यक होता है। यह प्रक्रिया वाक्य के प्रयोग के संदर्भ को विश्लेषित करती है और यह सुनिश्चित करती है कि संवाद में निहित अर्थ सही ढंग से संप्रेषित हो।

तात्पर्य निर्णय में प्रयुक्त विधियाँ—

तात्पर्य निर्णय तात्पर्य निर्णय की प्रक्रिया में विभिन्न पारंपरिक विधियों का उपयोग किया जाता है, जो भाषा के अर्थों को स्पष्ट करने और संवाद में गहराई लाने में सहायक होती हैं। इन विधियों का अध्ययन न केवल तात्पर्य निर्णय को सुदृढ़ करता है, बल्कि यह विचारों की स्पष्टता और सटीकता में भी योगदान देता है। निम्नलिखित प्रमुख विधियाँ हैं:

1. **अभिधा (Abhidha):** अभिधा शब्दों का शाब्दिक अर्थ समझने की प्रक्रिया है। यह वह प्राथमिक अर्थ है जो शब्दों से सीधे संबंधित होता है। उदाहरण के लिए, "गृह" शब्द का अभिधात्मक अर्थ "घर" होता है। अभिधा का उपयोग यह सुनिश्चित करने में किया जाता है कि शब्द का प्राथमिक अर्थ सही ढंग से समझा जाए, जो संवाद में स्पष्टता लाने में मदद करता है।
2. **लक्षणा (Lakshana):** लक्षणा एक विशेष विधि है जिसमें शब्दों के अन्तर्निहित या व्यापक अर्थों का निर्धारण किया जाता है। यह शब्दों के उन अर्थों की ओर संकेत करता है जो उनके शाब्दिक अर्थ से परे होते हैं। उदाहरण के लिए, "आग" का शाब्दिक अर्थ गर्मी होता है, जबकि इसका लक्षणात्मक अर्थ किसी कठिनाई या संकट को व्यक्त करने में भी किया जा सकता है। लक्षणा का उपयोग विविधता और गहराई को जोड़ने के लिए किया जाता है।
3. **व्यंजना (Vyanjana):** व्यंजना वह विधि है जिसमें शब्दों द्वारा संकेतित गूढ़ या सूक्ष्म अर्थों को समझा जाता है। यह अक्सर उन अर्थों को संदर्भित करती है जो स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किए जाते, बल्कि संकेतों और परिस्थितियों के माध्यम से प्रकट होते हैं। उदाहरण के लिए, "सूरज का चाँद में मिलना" एक व्यंजना है जो प्रेम या सौंदर्य का संकेत देती है। व्यंजना का उपयोग कला, साहित्य और दर्शन में गहराई से किया जाता है, जहाँ संवाद की सूक्ष्मता और गहराई को समझना आवश्यक होता है।

इन विधियों का उपयोग तात्पर्य निर्णय में एक संरचना और दिशा प्रदान करता है, जो संवाद के दौरान अर्थ की स्पष्टता और सटीकता को सुनिश्चित करता है। यह विधियाँ विचारों की गहनता और संवाद की सृजनात्मकता को बढ़ावा देती हैं।ये विधियाँ विद्वानों को न केवल भाषा के अर्थ की सही व्याख्या करने में सहायता करती हैं, बल्कि ये विचार-विमर्श की गुणवत्ता को भी बढ़ाती हैं।

1-3-4 न्यायशास्त्र में वाद परम्परा और तात्पर्य निर्णय—

न्यायशास्त्र भारतीय दार्शनिक परम्परा में एक महत्वपूर्ण विद्या है, जो तर्कशास्त्र और हेतुविद्या पर केंद्रित है। यह ज्ञान की उस शाखा को इंगित करता है जो न केवल न्याय और कानून की प्रक्रिया को समझाती है, बल्कि सत्य की अनुसंधान और न्यायिक निर्णयों के लिए तर्क की प्रक्रिया को भी मान्यता देती है। वाद परम्परा और तात्पर्य निर्णय न्यायशास्त्र में एक विशेष

भूमिका निभाते हैं, जहाँ वे तर्क की आधारशिला और न्यायिक विवेचना की आवश्यकताएँ निर्धारित करते हैं।

न्यायशास्त्र में वाद के नियम और सिद्धांत: —

न्यायशास्त्र में वाद का अध्ययन वाग्मिता और तार्किकता के विकास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस दर्शन में वाद की प्रक्रिया को व्यवस्थित और नियमबद्ध तरीके से समझाया गया है, जिससे विचारों के स्पष्ट प्रस्तुतीकरण और परीक्षण में मदद मिलती है। न्याय दर्शन में 'तर्क' के प्रमाणों को चार भागों में विभाजित किया गया है:

1. **प्रत्यक्ष (PratyakṢa):** यह तर्क का वह प्रमाण है जो प्रत्यक्ष अनुभव या अवलोकन पर आधारित होता है। यह सबसे प्राथमिक और विश्वसनीय प्रमाण माना जाता है, क्योंकि यह भौतिक रूप से सत्यापन योग्य होता है।
2. **अनुमान (Anumāna):** यह एक तर्किक प्रक्रिया है जिसमें पूर्ववर्ती अनुभवों के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति देखता है कि बादल घने हैं, तो वह अनुमान लगा सकता है कि बारिश होगी।
3. **उपमान (Upamāna):** यह तर्क का वह प्रमाण है जो तुलना पर आधारित होता है। इसमें किसी ज्ञात वस्तु या गुण के आधार पर एक नई वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति को उसके मित्र की पहचान उसके स्वरूप से की जा सकती है।
4. **शब्द (Śabda):** यह प्रमाण शास्त्रीय ग्रंथों और विद्वानों के कथनों पर आधारित होता है। यह तर्क की वह विधि है जो प्रमाणित शब्दों और विश्वासनीय स्रोतों पर निर्भर करती है।

इन प्रमाणों का प्रयोग करके वादी अपनी बात को सिद्ध करता है और प्रतिपक्ष के विचारों का परीक्षण करता है। न्यायशास्त्र में वाद की प्रक्रिया यह सुनिश्चित करती है कि सभी तर्क और विचार एक निश्चित तर्कसंगत ढंग से प्रस्तुत किए जाएँ, जिससे न्यायिक निर्णयों की गुणवत्ता और निष्पक्षता में वृद्धि हो सके।इस प्रकार, न्यायशास्त्र में वाद परम्परा और तात्पर्य निर्णय का अध्ययन केवल दार्शनिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि यह न्यायिक प्रणाली और सामाजिक न्याय के लिए भी अनिवार्य है।

न्याय और वाद के मध्य संबंध—

न्यायशास्त्र और वाद परम्परा के मध्य गहरा संबंध है, जहाँ तर्क और सत्य के अन्वेषण की प्रक्रिया केंद्र में होती है। इस संबंध का मुख्य उद्देश्य यह है कि कैसे तर्कशीलता और न्याय का विवेचन एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और समाज में सत्य की स्थापना में योगदान देते हैं।

तर्क और विवाद का महत्व: —

न्याय की प्रक्रिया में तार्किक विवाद और विवेचना का उपयोग किया जाता है, जिससे विद्यार्थियों और विद्वानों को विचारों की परख करने और उन्हें स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने की क्षमता प्रदान की जाती है। यह विवाद तर्क की सटीकता और स्पष्टता को बढ़ावा देता है, जिससे विभिन्न दृष्टिकोणों का मूल्यांकन करना संभव हो पाता है।

तर्कशक्ति और नैतिक निर्णय: —

न्यायशास्त्र में वाद की परम्परा और तात्पर्य निर्णय का अध्ययन न केवल विद्वानों की तर्कशक्ति में वृद्धि करता है, बल्कि यह उन्हें न्यायिक और नैतिक निर्णय लेने की दिशा में भी

मार्गदर्शन प्रदान करता है। यह प्रक्रिया विद्यार्थियों को विभिन्न नैतिक, सामाजिक, और कानूनी मुद्दों पर विचार करने और निर्णय लेने की क्षमता विकसित करने में सहायता करती है।

प्रायोगिक आयाम: —

इस प्रकार, न्यायशास्त्र वाद परम्परा को एक व्यावहारिक और प्रायोगिक आयाम प्रदान करता है। यह ज्ञान और न्याय के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान करता है, जहाँ तर्क और विचार-विमर्श समाज में सामंजस्य और न्याय को सुनिश्चित करने में सहायक होते हैं। न्यायशास्त्र की यह परम्परा समाज में विचारशीलता, सहिष्णुता, और संवाद को बढ़ावा देती है, जिससे समाज में एक स्थायी और संतुलित न्याय प्रणाली का निर्माण होता है।

इस प्रकार, न्याय और वाद के मध्य यह संबंध न केवल दार्शनिक स्तर पर महत्वपूर्ण है, बल्कि यह समाज के हर स्तर पर न्याय और ज्ञान की स्थिरता के लिए अनिवार्य भी है।

प्रश्न:1 वाद परम्परा क्या है और इसके मुख्य प्रकार कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न:2 तात्पर्य निर्णय का क्या महत्व है ?

प्रश्न:3 न्यायशास्त्र में वाद की भूमिका क्या है ?

प्रश्न:4 'अभिधा', 'लक्षणा', और 'व्यंजना' में क्या अंतर है ?

प्रश्न:5 वाद परम्परा का समाज में क्या महत्व है ?

1.4 सारांश

भारतीय दर्शन में वाद परम्परा का महत्वपूर्ण स्थान है, जो संवाद, तर्क-वितर्क और ज्ञान की खोज के लिए एक अभिन्न आधार प्रदान करता है। वाद परम्परा विचारों के आदान-प्रदान, विभिन्न दृष्टिकोणों के मूल्यांकन, और सत्य के अनुसंधान को बढ़ावा देने में सहायक होती है। इस परम्परा में जल्प, वितण्डा, और संवाद जैसे विभिन्न प्रकार के वादों का समावेश होता है, जो विभिन्न सांस्कृतिक और दार्शनिक संदर्भों में तर्क की प्रक्रिया को गहराई प्रदान करते हैं।

तात्पर्य निर्णय, वाद परम्परा का एक महत्वपूर्ण अंग है, जो शब्दों और वाक्यों के अर्थ की सही व्याख्या में सहायक होता है। यह तात्पर्य निर्णय संवाद के दौरान संदेशों के सटीक संप्रेषण और उनके उद्देश्य की व्याख्या को सुनिश्चित करता है। इसके लिए अभिधा, लक्षणा, और व्यंजना जैसी विधियों का प्रयोग किया जाता है, जो शास्त्रीय साहित्य के गहन अध्ययन और विश्लेषण में आवश्यक होती हैं।

न्यायशास्त्र में वाद परम्परा की भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि यह तार्किकता और न्यायिक निर्णय की प्रक्रिया के लिए एक मानक प्रदान करती है। तर्क और सत्य की खोज के माध्यम से न्यायशास्त्र विद्वानों और विचारकों को विचारों की परख करने और सही निर्णय लेने की क्षमता प्रदान करता है।

इस प्रकार, वाद परम्परा और तात्पर्य निर्णय भारतीय दर्शन की उन आधारशिलाओं में से हैं जो न केवल व्यक्तिगत चिंतन की गहराई को बढ़ाते हैं बल्कि समाजिक संवाद और सांस्कृतिक समझ के विकास में भी योगदान देते हैं। ये शिक्षाएं आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं जितनी कि अतीत में थीं, क्योंकि ये हमें विचारशीलता, समझदारी और संवेदनशीलता के साथ विचारों की प्रस्तुति और विमर्श की कला सिखाती हैं।

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

वाद (Vada): तर्क-वितर्क की प्रक्रिया जिसमें विचारों की परीक्षा और उन्हें मूल्यांकित किया जाता है।

जल्प (Jalpa): वाद का एक प्रकार जहाँ वक्ता अपनी विचारधारा को सिद्ध करने हेतु प्रतिद्वंद्वी के विचारों को चुनौती देता है।

वितण्डा (Vitanda): एक प्रकार का वाद जहाँ उद्देश्य मात्र विरोधी के तर्कों को खारिज करना होता है, सकारात्मक प्रस्ताव के बिना।

संवाद (Samvada): सत्य की खोज में सहयोगी तरीके से आयोजित विचार-विमर्श।

तात्पर्य (Tatparya): किसी वाक्य या विचार का गहरा अर्थ या उद्देश्य।

अभिधा (Abhidha): शब्दों का प्राथमिक या शाब्दिक अर्थ।

लक्षणा (Lakshana): वाक्यांश का अन्तर्निहित या व्यापक अर्थ, जो मूल शाब्दिक अर्थ से परे हो।

व्यंजना (Vyanjana): शब्दों द्वारा निहित या सुझाया गया गहरा अर्थ, जो प्रकट नहीं होता है।

वाग्मिता (Vagmita): भाषा के प्रभावी और सुंदर प्रयोग में दक्षता।

हेतुविद्या (Hetuvidya): तर्कशास्त्र; तर्क और कारणों के विश्लेषण का विद्या।

ब्रह्मोद्यम (Brahmodyam): वैदिक काल में ऋषियों द्वारा वेद मंत्रों और उनके अर्थों पर किया गया विचार-विमर्श।

अनेकांतवाद (Anekantavada): जैन दर्शन की अवधारणा जो कहती है कि सत्य कई आयामों से युक्त होता है और विभिन्न दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है।

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

इस खंड में हम पाठ्यक्रम से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण अभ्यास प्रश्नों के उत्तर तैयार करेंगे, जो विद्यार्थियों को विषय की गहराई से समझने और उसे अपने अध्ययन और परीक्षाओं में प्रयोग करने में मदद करेंगे।

उत्तर:1 वाद परम्परा भारतीय दर्शन में विचार-विमर्श और तर्क-वितर्क की एक प्रणाली है, जिसका मुख्य उद्देश्य सत्य की खोज करना है। इसके मुख्य प्रकार हैं जल्प, वितण्डा, और संवाद।

उत्तर:2 तात्पर्य निर्णय वाक्यों और शब्दों के सही अर्थ को समझने की प्रक्रिया है, जो वाद परम्परा में संवाद की सटीकता और गहराई सुनिश्चित करती है। यह विधियाँ विद्वानों को न केवल भाषा के अर्थ की सही व्याख्या करने में सहायता करती हैं, बल्कि ये विचार-विमर्श की गुणवत्ता को भी बढ़ाती हैं।

उत्तर:3 न्यायशास्त्र में वाद की भूमिका तर्कशील विचार-विमर्श को संगठित करने और विवादों को तार्किक और व्यवस्थित ढंग से सुलझाने में केंद्रीय है। यह दर्शन वक्ता को अपने तर्क को सिद्ध करने के लिए ठोस प्रमाण और हेतु प्रदान करता है, जिससे सत्य की खोज में सहायता मिलती है।

उत्तर:4 'अभिधा' शब्दों का शाब्दिक या प्राथमिक अर्थ है, 'लक्षणा' उन अर्थों को संदर्भित करता है जो प्राथमिक अर्थ से परे होते हैं और किसी प्रकार का परोक्ष या व्यापक अर्थ प्रदान करते हैं, और 'व्यंजना' वह तकनीक है जिसमें शब्द या वाक्यांश के माध्यम से कोई गहरा या सूक्ष्म अर्थ प्रकट होता है, जो अक्सर भावनात्मक या विशेष संकेतों के माध्यम से समझा जाता है।

उत्तर:5 वाद परम्परा समाज में विचार-विमर्श और तार्किक बहस को प्रोत्साहित करती है, जिससे विभिन्न विचारों की समझ और सहिष्णुता बढ़ती है। यह परम्परा न्यायिक और नैतिक निर्णयों को सूझबूझ और न्यायसंगत बनाने में मदद करती है, और यह व्यक्तियों को सशक्त बनाती है ताकि वे समाज में जिम्मेदारी के साथ अपनी बात रख सकें।

1.7 संदर्भ सूची

1. गौतम, अ. (2020). न्यायसूत्र (एस. चटर्जी, अनुवादक). प्राचीन ग्रंथालय। (मूल कार्य 200 ईसवी में प्रकाशित).

2. भर्तृहरि. (2019). वाक्यपदीय (के. ए. सुब्रमण्य अय्यर, संपादक). संस्कृत अध्ययन केंद्र।

3. अन्नम्भट्ट. (2018). तर्कसंग्रह (डी. पी. चट्टोपाध्याय, संपादक). दर्शन प्रलेखन केंद्र।

4. मनु. (2021). मनुस्मृति: मनु के नियम (पी. ओलिवेले, अनुवादक). ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

5. जैमिनी. (2017). मीमांसा सूत्र (जे. जी. अरापुरा, अनुवादक). ग्लोबल विज़न पब्लिशिंग हाउस।

6. मातिलाल, बी. के. (1998). भारत में तर्क का स्वरूप. स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यू यॉर्क प्रेस।

7. पॉटर, के. एच. (संपादक). (1981). भारतीय दर्शनों का विश्वकोष: न्याय-वैशेषिक. मोतीलाल बनारसीदास।

8. विद्याभूषण, एस. सी. (1971). भारतीय तर्कशास्त्र का इतिहास: प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक विद्यालय. मोतीलाल बनारसीदास।

9. स्टाल, एफ. (1999). अनुष्ठान और मंत्र: अर्थ के बिना नियम. मोतीलाल बनारसीदास।

10. राधाकृष्णन, एस. (1923). भारतीय दर्शन, खंड 1. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

1.8 सहायक उपयोगी सामग्री

1. वेबसाइट्स
2. ऑनलाइन कोर्सेस
3. पॉडकास्ट्स और वीडियो
4. संगोष्ठियाँ और वर्कशॉप्स
5. शोध पत्रिकाएँ

1.9 निबंधात्मक प्रश्न

यहाँ कुछ निबंधात्मक प्रश्न दिए जा रहे हैं जो वाद परम्परा और तात्पर्य निर्णय से संबंधित हैं, जिन पर छात्रों को विचार करने और लिखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है:

1. **वाद परम्परा में जल्प, वितण्डा, और संवाद की भूमिकाओं का विश्लेषण करें। किस प्रकार ये तीनों भारतीय दर्शन में संवाद की समृद्धि में योगदान देते हैं?**

   इस प्रश्न में छात्रों को विभिन्न वाद प्रकारों के तर्किक, विचारात्मक, और सांस्कृतिक प्रभावों को विस्तार से समझने और प्रस्तुत करने की अपेक्षा की जाती है।

2. **भारतीय न्यायशास्त्र में तात्पर्य निर्णय की विधियों का महत्व क्या है? अभिधा, लक्षणा, और व्यंजना की विस्तृत व्याख्या करें।**

   इस निबंध में, विद्यार्थियों से भाषाई और दार्शनिक विश्लेषण के माध्यम से इन विधियों के प्रभाव और उपयोगिता को उजागर करने की उम्मीद की जाती है।

3. **आधुनिक संदर्भ में वाद परम्परा की प्रासंगिकता का मूल्यांकन करें। वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक बहसों में इसकी भूमिका को कैसे देखा जा सकता है?**

यह निबंध छात्रों को वाद परम्परा के ऐतिहासिक महत्व को समझने के साथ-साथ इसके आधुनिक दौर में अनुप्रयोगों को तलाशने का अवसर प्रदान करता है।

इकाई-2 अधिकरण की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 अधिकरण का अर्थ एवंस्वरूप

2.4 अनुबन्ध चतुष्टय

2.5 मीमांसादर्शन का अधिकरण सिद्धान्त

2.5 शंकराचार्याभिमत अधिकरण सिद्धांत

2.7 सारांश

2.8 बोधप्रश्न

2.9 सन्दर्भग्रन्थ

2.1 प्रस्तावना

भारतीय शास्त्र एक सुव्यवस्थित विधि द्वारा रचे गये हैं। भारत में न केवल विभिन्न विषयों के प्रतिपादन हेतु विभिन्न शास्त्रों की रचना हुए बल्कि इन शास्त्रों में प्रतिपादित विषयों के अनुसार इस शास्त्र का विकास किया गया। किसी भी शास्त्र की रचना किस विधि से की जायेगी तथा विषय का प्रतिपादन किस क्रम से किया जायेगा, इस मुद्दे पर विचार करके ही शास्त्र-रचना की जाती रही है। प्रतिपादित विषय का निर्धारण कर उस विषय का विवेचन करने की विधि को अधिकरण सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। मीमांसादर्शन तथा न्यायदर्शन में अधिकरण सिद्धान्त पर पर्याप्त विचार किया है। इस इकाई में हम अधिकरण का अर्थ एवं स्वरूप, अधिकरण के अंग, मीमांसादर्शन द्वारा वर्णित अधिकरण के स्वरूप तथा शंकराचार्य के मत में अधिकरण इत्यादि विषयों पर चर्चा करने जा रहे हैं।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- भारतीय परम्परा में विचार के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
- अधिकरण के सिद्धान्त के अर्थ एवं अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- भारतीय शास्त्र विवेचना किसी मुद्दे पर केन्द्रित होता है, इस तथ्य से परिचित हो सकेंगे।
- भारतीय शास्त्रीय परम्परा में अधिकरण के महत्व के बारे में लिख सकेंगे।

2.2 अधिकरण का अर्थ एवं स्वरूप

अधिकरण शब्द 'अधि' उपसर्गपूर्वक तथा 'कृ' धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।

अधि क्रियते तत्र। विषयदिपाञ्चावयवविवेचनोपेतः ग्रन्थः।
एकन्यायोपादनीमत्यर्थः। अधिक्रियतेऽथोद्विचारोस्मिन्नेनेतिवा
अधिकरणं वेदीवचारग्रन्थमालिकां मीमांसा।।

अर्थात्, विषय, संसय, पूर्व पक्ष, उत्तर पक्ष, निर्णय ये पाँच अवयव हैं। इन पंचावयवों के विवेचन से युक्त ग्रन्थ को अथवा विषयादि पाँचों अवयवों का प्रतिपादन जिस ग्रन्थ में हुआ है, उसे अधिकरण कहते हैं। अर्थात् मीमांसा शास्त्र द्वारा कथित–एक अर्थ का प्रतिपादन। अधिकरण शब्द का मूल अर्थ 'एकार्थप्रति–पादन' है।

2.4 अनुबन्ध चतुष्टय

भारतीय ज्ञान परम्परा में जब कभी भी किसी नवीन सिद्धान्त को प्रारम्भ किया जाता है तो उस सिद्धान्त से सम्बद्ध अनुबन्ध चतुष्टय के स्वरूप को बताना आवश्यक होता है। अनुबन्ध का अर्थ है बन्धा हुआ, जकडा हुआ कहने का आशय है कि अनुबन्ध से किसी भी शास्त्रसम्बद्धसिद्धान्त को नियमित किया जाता है। आचार्य पार्थसारथि मिश्र रचित शास्त्रदीपिका में अनुबन्ध चतुष्टय कुछ इस प्रकार से है–

शास्त्रदीपिका	विषय	धर्म
	प्रयोजन	धर्मज्ञान

	सम्बन्ध	प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव
	अधिकारिन्	अधीतवेद

प्रस्तुत शास्त्र का प्रयोजन वेदप्रतिपादित धर्म का ज्ञान कराना है, जैसा कि आचार्य पार्थसारथि मिश्र कहते हैं श्रोतृप्रवृत्तिसिद्धये धर्मज्ञानं कथ्यते। अर्थात् इसके बाद धर्म की जिज्ञासा करें।

धर्म शब्द की व्युत्पत्ति धृञ् धारणे धातु से अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्योइ मन् इस उणादि सूत्र मन् प्रत्यय करने पर होती है। इस धातु का अर्थ है धारण करना। अत एव जो कुछ भी धारण किया जाए वह धर्म कहलाता है। वैदिक ऋषियों ने सृष्टि के आदि में जो कुछ भी मानव जाति के लिए प्रतिपादित किया उसे धर्म शब्द कहा जाने लगा। जैसा कि ऋग्वेद के ऋषि ने कहा है यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

बृहदारण्यक्जोपनिषद् में कहा गया है कि सत्य ही धर्म है और राजा को उस सत्य पूर्वक धर्म का पालन करना चाहिए। तच्छ्रेयो रूपमसृजत् तदेतत् क्षत्रस्य यद्धर्मस्तस्माद् धर्मात् परं नास्त्यतो अबलीयांसमाशंसते। धर्मेण यथा राज्ञा एवं यो वै स धर्मः, सत्यं वै तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्यैवैतदुभयम् भवति ।

महाभारत जैसे महाकाव्य में कहा गया है कि प्राणिमात्र के कल्याण के लिए जो धारण किया जाए वह धर्म कहलाता है–

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।

यत्स्याद् धारणायुक्तः स धर्म इत्याहुः ॥

भारतीय दार्शनिक परम्परा में भी धर्म पद का एक पृथक् अर्थ सामने आता है। वैशेषिक दर्शन में कहा जाता है कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो वह धर्म है।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

मीमांसा दर्शन में तो आचार्य जैमिनि ने वेदार्थ के अनुसार क्रिया के प्रवर्तक वाक्य को धर्म कहा है चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। आचार्य लौगाक्षिभास्कर ने यागादि को ही धर्म कहा है और वेद प्रतिपादित याग का महत्त्व सिद्ध किया है– यागादिरेव धर्मः । आचार्य लौगाक्षिभास्कर का कहना है कि जो वेद प्रतिपादित है, प्रयोजनवान् हो तथा अनर्थफल को न देने व्वाला हो उसी को धर्म कहा जाता है–वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मलक्षणम्

मीमांसा दर्शन में धर्म के लिए लक्षण इस प्रकार भी है चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः यहां पर चोदना शब्द का अर्थ है वेद का विधिवाक्य जैसे स्वर्गकामो यजेत, अग्निहोत्रं जुहुयात् इत्यादि। आचार्य आचार्य शबर स्वामी चोदनापद को क्रिया का प्रवर्तक मानते हैं अर्थात् वह वाक्य जो किसी पुरुष को किसी कर्म में प्रेरित करे वह चोदना या विधिवाक्य कहलाता है–चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः। इस प्रकार पूर्वमीमांसा में प्रतिपादित धर्म पद की व्याख्या की जाती है। अब इस प्रस्थान में धर्म की जिज्ञासा के लिए वाद–प्रवाद किए जाते हैं। शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र जो कि आचार्य कुमारिलभट्ट के अनुयायी है ने धर्म जिज्ञासा के विषय को प्रस्तुत किया है जिसमें यह बताया गया है कि वेद के अध्ययन के अनन्तर धर्म अथवा वेदार्थ की जिज्ञासा

करनी चाहिए अथवा नहीं करनी चाहिए। इस विषय को आचार्य लौगाक्षिभास्कर ने भी प्रस्तुत किया है वेदाध्ययनानन्तरं यतोऽर्थज्ञानरूपदृष्टार्थकं तदध्ययनम्, अतो हेतोर्धर्मस्य वेदार्थस्य जिज्ञासा कर्त्तव्या धर्म को समझने से पूर्व सर्वादि में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि श्रुतिग्रन्थ तथा स्मृतिग्रन्थों में कहा है कि– अष्टवर्ष ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयेत् अर्थात् जन्म से आठ वर्ष का होने पर ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करे तथा उसे वेद पढाए। अब पूर्वपक्ष यहां पर शङ्का करता है कि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधिवाक्य के अनुसार वेद का अध्ययन करने के पश्चात् ब्राह्मण बालक को वेदार्थ रूप धर्म का विचार करने के लिए क्या गुरुकुल में ही रहना चाहिए अथवा गुरुगृह से समावर्तन (निष्क्रमण) कर लेना चाहिए? जैसे कि पार्थसारथि मिश्र कहते हैं किमध्ययनान्तरं धर्मजिज्ञासया गुरुगृहेऽवस्थातव्यम्, उत गुरुगृहात् समावर्तितव्यम्।

इस विषय को आचार्य शबर में अपने भाष्य में भी प्रस्तुत किया है कि किन्त्वधीते वेदे द्वयमापतति– गुरुकुलाच्च समावर्तितव्यं वेदवाक्यानि च विचारयितव्यानि । तत्र गुरुकुलान्मा समावर्तिष्ट कथं नु वेदवाक्यानि विचारयेद्। माधवाचार्य भी इसी प्रसङ्ग को प्रस्तुत करते हैं कि अधीतेऽपि वेदे धर्मविचाराय गुरुकुल एवाधिवासः कर्तव्यः।

श्लोकवार्तिककार आचार्य कुमारिलभट्ट भी इस प्रसङ्ग को प्रस्तुत कर चुके हैं–

गुणप्रधानयोर्वापि विरोधाद् गुणबाधनम्।

स्नानोपलक्षिता चात्र निवृत्तिर्गुरुवेश्मनः॥

विरोधित्वेन बाध्येत न तु मध्वादिभक्षणम्।

तस्माद् गुरुकुले तिष्ठन्मधुमांसाद्यवर्जयन्॥

उत्तरपक्ष उपरोक्त शङ्का पर उत्तर देते हैं कि यदि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययन विधिवाक्य में दृष्ट प्रयोजन रूप अर्थज्ञान को माना जाए तो अर्थज्ञान, वेद का विचार किए बिना नहीं हो सकता। अतः यह सिद्ध होता है कि वेदार्थ ज्ञान के लिए वेद का विचार करना पडेगा और वेद के विचार करने के लिए शिष्य को गुरुकुल में ही रहना पडेगा। पार्थसारथि मिश्र कहते हैं स्वाध्यायाध्ययनविधिना धर्ममात्रार्थमध्ययनम्। यदि हि उत्तरपक्ष पुनरपि द्वितीय उत्तर प्रस्तुत हैं कि यदि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययन विधिवाक्य का अदृष्ट प्रयोजन स्वर्गादि को माना जाए तो स्वर्ग की प्राप्ति हो जाने से वेदार्थ विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि फल की प्राप्ति तो हो रही है अत एव गुरुकुल में रहने का कोई औचित्य नहीं है। कहा भी है कि–

स्वर्गाद्यर्थेन विधीयते ततस्तन्मात्रेणैव शास्त्रार्थस्य समाप्तत्वात् अधीत्य स्त्रायात् इति स्मृतिवचनबलेन च समावर्तितव्यम्।

इस प्रसङ्ग को माधवाचार्य ने भी कहा है कि अध्ययन विधि का दृष्टार्थ फल वेदार्थविचार मानने पर मीमांसा शास्त्र का आरम्भ आवश्यक है तथा अध्ययन विधि का अदृष्टार्थफल स्वर्गादि मानने पर वेदार्थ विचार की कोई आवश्यकता नहीं है अतः मीमांसा शास्त्र का आरम्भ नहीं करना चाहिए–

धर्मशास्त्रमनारभ्यमारभ्यं इत्येतदन्तं जैमिनीयं वेति संशयः। अध्ययनविधेरदृष्टार्थत्वदृष्टार्थत्वाभ्याम।

अब उत्तरपक्ष उपरोक्त शङ्का का समाधान करते हैं कि जहां पर दृष्ट फल की प्राप्ति होती है वहां अदृष्ट फल की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नही है। अध्ययन विधि का दृष्ट फल वेदार्थज्ञान है, तथा अदृष्ट फल स्वर्गादि है। अतः यह सिद्ध होता है कि अर्थज्ञान रूप दृष्ट फल के प्राप्त होने से अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करनी चाहिए। इसीलिए अर्थज्ञानफल को देखते हुए शिष्य को गुरुकुल में ही रहते हुए मीमांसा शास्त्र अर्थात् विचार शास्त्र का आरम्भ करना चाहिए। **विचारमन्तरेणासम्भवादध्ययनविधि ततस्तस्य नैवाऽर्थादि चारो विहित इति गुरुगृह एवावस्थाय विचारयितव्यः।**

अब पूर्वपक्ष यह शङ्का करते हैं कि विधि तो वह है जो अज्ञात अर्थ का बोध कराए, यहां पर जो वेदार्थज्ञान है वह अध्ययन के बिना हो ही नहीं सकता यह तथ्य सभी को मालूम ही है। अतः एव सिद्ध होता है कि वेदार्थज्ञान के लिए विधि को मानने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। तब स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह अध्ययन विधि वाक्य निरर्थक हो जाएगा। **स्वाध्यायसंस्कारद्वारेणाध्ययनस्यार्थज्ञानहेतुत्वं विनैव विधिना प्रमाणान्तरेण सिद्धमेवेति तादर्थ्य विध्यानर्थक्यम।**

पूर्वपक्ष कहता है कि इस अध्ययन विधि को हम नियम विधि मान लेते हैं। मीमांसा में नियम उसे माना जाता है जहां पर दो सिद्धान्त आ रहें हो और उनमें से किसी एक सिद्धान्त का चयन करना है। जैसे कि ब्रीहीन् अवहन्ति इस विधि वाक्य में मीमांसक नियम विधि मानते हैं, क्योंकि पुरोडाश (हविर्भाग) बनाने के लिए तण्डुल की को नखों के द्वारा साफ किया जाता है तथा अवघात (कूटना) के द्वारा भी हो सकती है। इस प्रकार यहां पर दो विधियां प्राप्त हो जाती है।

अतः ऐसी स्थिति में नियम विधि नियम बना लेती है कि पुरोडाश निर्माण के लिए तण्डुल की छाल की सफाई अवघातके माध्यम से ही किया जाए। उसी तरह चाहे वेद का अध्ययन करे या न करे वेदाध्ययन के फल की प्राप्ति करने के लिए तो कर्म ही करना पडेगा। यह तथ्य सभी को ज्ञात है। अत एव नियम विधि मानने की कोई आवश्यकता नहीं है– **यदुक्तं लोकसिद्धत्वान्नाप्राप्तविधिरिति तत्तथैवास्तु। नियमविधित्वं तु न वारयितुं शक्यम।**

उत्तरपक्ष उपरोक्त मन्तव्य का उत्तर देते हैं कि अध्ययनविधि को नियमविधि कहना उचित नहीं है, क्योंकि पुरोडाश बनाने के लिए तण्डुल के छाल की निष्पत्ति जो अवघात द्वारा किया गया था उसका प्रयोजन था कि अवघात से तण्डुल के छाल की निष्पत्ति करने पर दर्शपूर्णमास याग में अपूर्व की उत्पत्ति होती है, इसीलिए वहां उस स्थल पर नियम विधि को स्वीकार किया गया था, परन्तु वेदार्थज्ञान के लिए किसी नियम विधि को मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पार्थसारथि मिश्र भी कहते हैं अवघातो हि दर्शपूर्णमासाऽपूर्वे नियम्यते, अवघातनिष्पन्नैरेव तण्डुलैरपूर्वं सिद्ध्यतीति अर्थात् वहां ओअर नियम इसीलिए मान गया था क्योंकि अवघात से तण्डुल की सफाई करने से दर्शपूर्णमासयाग में अपूर्व की सिद्धि होती है। परन्तु

स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययन विधि में कोई भी अपूर्व को सिद्ध नहीं करना है। अत एव इस स्थल पर नियम विधि मानने की आवश्यकता नहीं है।

अब पूर्वपक्ष यह शङ्का करते हैं कि वेदाध्ययन के दृष्ट फल की कल्पना तो लोक में स्वतः ही हो जाता है, तब ऐसी परिस्थिति में स्वाध्याय विधि वाक्य की क्या आवश्यकता है? अतः अध्ययन विधि व्यर्थ हो जाती है।

उपर्युक्त शङ्का का उत्तर देते हैं कि अध्ययन विधि को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वैदिक अग्निहोत्रादि कर्म का अनुष्ठान चतुर्थ वर्ण न करे, इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए स्वाध्याया अध्ययन का विधान वेद ने किया है। योऽयमग्निहोत्रादिष्वधीतवेदानां त्रैवर्णिकानामेवाधिकारः। इस विषय को पार्थसारथि मिश्र और भी स्पष्ट करते हैं कि स्वाध्यायोऽध्येतव्यःइस अध्ययन विधि को व्यर्थ माना जाएगा तो द्विजातीय त्रैवर्णिकों जो कि वेद का अध्ययन करते हैं, ऐसे विद्वानों की उपलब्धि नहीं होगी अर्थात् वेद के अध्ययन कर्ता द्विजातीय वर्ग का मिलना कठिन हो जाएगा। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययन विधि को न माना जाएगा तो चतुर्थ वर्ण में वेदाध्ययन अधिकार प्राप्त हो जाएगा। अतः स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह अध्ययन विधि अधिकार नियम भी बना लेता है। **नाधीतवेदानां शूद्राणामित्यधिकारनियमः स प्रयोजनमध्ययनविधेः।**

अतः इस वाद का सारांश यह है कि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययन विधि का दृष्ट फल वेदार्थज्ञान है तथा वेदार्थज्ञान के लिए शिष्य को गुरुगृह में ही रहना चाहिए, गुरुगृह से समावर्तन नहीं करना चाहिए। तथा च अध्ययनविधि के दृष्ट फल के ज्ञात होने पर अदृष्ट फल की कल्पना करना उचित नहीं।पार्थसारथि मिश्र ने इसे उद्धृत किया है–

लभ्यमाने फले दृष्टे नाऽदृष्टकल्पना।

विधेश्व नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति ॥

माधावाचार्य भी इसे स्पष्ट करते हैं कि फल के दृष्ट होने पर अदृष्ट की कल्पना नहीं करनी चाहिए अर्थावबोधे दृष्टे फले सति फलान्तरकल्पनाया अयोगात्।

2.5 मीमांसा दर्शन का अधिकारण सिद्धान्त

मीमांसा दर्शन जिसका मुख्य प्रतिपाहार विषय 'धर्म' है का प्रथम सूत्र 'अथातो धर्मजिज्ञासा' है। धर्म शब्द का अर्थ काम, यज्ञ, होम आदि से होता है। मीमांसा दर्शन का प्रतिपाद्य द्वादश अध्यायों में किया गया है, जिससे 'द्वादश लक्षणी' भी कहा जाता है। ये प्रतिपाद्य दो भागों में विभाजित है– वह दो प्रकार के विचारात्मक शास्त्र हैं। शास्त्रदीपिकाकार पाठसारथी मिश्र के अनुसार, उपदेश विचार के बाद और अतिदेश विचार का आरम्भ होता है। वर्तमान समय में उपलब्ध मीमांसा दर्शन में बारह अध्याय है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद तथा तृतीय, छठे और दसवें अध्याय में आठ–आठ पाद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में 60 पाद है। इसे 'शबराध्याय' कहते है। इसमें लगभग 1000 अधिकरण है परन्तु मीमांसा दर्शन की सूत्र–संख्या में विवाद है।

मीमांसाशास्त्र प्रसिद्धे एकार्थप्रतिपाद के विषयसंसयपूर्वपक्ष – सिद्धान्तनिर्णयात्मक पञ्चांग बोधक वाक्य समुदाये न्याये। तत्रैकैकमीधकरमं

पञ्चावयवं विषयः सन्देहः संगतिः पूर्वपक्षः सिद्धान्तश्चेति पञ्चावयवा इति। – वाचस्पत्यम भागे 1 पृ0 926

शब्दकल्पद्रुम में सिद्धान्त शब्द की व्युत्पत्ति बतायी गयी है– सिद्धः अन्तो यस्मात् पूर्वपक्षं निरस्त सिद्धान्त पक्षस्थानम् इति भरत।

पदार्थो की परीक्षणों द्वारा अनेक बार परीक्षा करके अनेक माध्यमों द्वारा सिद्ध करने के बाद जो स्थायी और अन्तिम निर्णय लिया जाता है उनको सिद्धान्त कहते हैं। शास्त्रार्थ एवं परीक्षणों द्वारा किसी विषय पर निर्णय किये गये लक्ष्य को भी सिद्धान्त कहते हैं। शास्त्र की दृष्टि से सिद्धान्त चार प्रकार के होते है– 1. सर्वतन्त्र सिद्धान्त,2. प्रतितन्त्र सिद्धान्त, 3. अधिकरण सिद्धान्त, 4. अभ्युपगम सिद्धान्त। अतः शास्त्र के अर्थ की संस्थिति किये गए अर्थ को सिद्धान्त कहते हैं। अब हम क्रमशः इनका संक्षिप्त विवेचना पढेंगे–

1. जो सूत्र प्रत्येक शास्त्रों में अविरूद्धता से स्वीकार किए गए हो, उसे सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहते हैं। अर्थात् जिस बात को सभी शास्त्रकार मानते है। जैसे : पाँच इन्द्रियाँ होना, आयुर्वेद में, सभी ग्रन्थों में रोग निदान के उपाय को स्वीकार किया गया है।

2. जो बात एक शास्त्र में सिद्ध हो, और दूसरे में असिद्ध हो उसे प्रतितत्रे सिद्धान्त कहते हैं। जैसे वेद में 16 संस्कारों का वर्णन है परन्तु अन्य गृह्य सूत्रों में 16 संस्कारों को अलग–अलग प्रकार से बताया गया है। गृह्य सूत्रानुसार विवाह संस्कार को प्रथम संस्कार माना गया है। ना की 'गर्भादान संस्कार' को।

3. जिस अर्थ के सिद्ध होने से अन्य अर्थ भी नियम से सिद्ध तो उसे अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं। इसके पाँच अवयव होते हैं, विषय, संशय, पर्व पक्ष, उत्तर पक्ष एवं निर्णय।

उदाहरण : देह और इन्द्रियों से भिन्न कोई जानने वाला है जिसे आत्मा कहते हैं।

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरण सिद्धांतः।।30।।

4. बिना परीक्षा किए किसी पदार्थ को मानकर उस पदार्थ की विशेष परीक्षा करने को अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं। सामान्य अर्थ में, वादी एवं प्रतिवादी द्वारा शास्त्रार्थ में बताया गया सिद्धान्त खण्डित हो जाने पर भी, उस खण्डित सिद्धान्त को मानना अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है। जैसे :–

वादी : द्रव्य अपने रस द्वारा काम करता है।

प्रतिवादी : द्रव्य अपने गुण, कर्म तथा तेज से कार्य करता है।

तात्पर्य निर्णय के उदाहरण

1. उपक्रम, उपसंहार : छान्दोग्योपनिषद् के छठें अध्याय के प्रकरण में कहा गया है–

''एकम् एवं अद्वितीयम।''

अर्थात्, एकमात्र ब्रह्म ही अद्वितीय वस्तु है अन्य कोई नहीं। (उपक्रम)

''एतत् आत्मा इदम् सर्वम्।'' (छान्दोग्योपनिषद्)

अर्थात्, यह सारा संसार प्रपंच रहस्य स्वरूप है,

एकमात्र आत्मा ही सत्य है। (उपसंहार)

2. अभ्यास : प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु को उसके अर्थात् ग्रन्थ के मध्य में बार–बार प्रतिपादन करना ही अभ्यास है। जैसे : अद्वितीय ब्रह्म के बारे में

कहना – 'तत्वमसि', अहं ब्रह्मास्मि'। इन महावाक्यों के द्वारा ब्रह्म के अद्वितीयता का बार–बार प्रतिपादन करना।

3. अपूर्वता : प्रतिपाद्य विषय – वस्तु को श्रुति या वेद के अतिरिक्त किसी और का विषय नहीं बनाना। अर्थात् जो पृथक–पृथक युक्ति से न समझकर केवल वेद से समझा जाए, वह अपूर्वता कहलाता है।

4. फल : आत्माज्ञान के लिए किए जाने वाले साधन–अनुष्ठान का प्रयोजन जिस प्रकरण में आता है, उसे फल कहते हैं। 'आचार्यवान् पुरूषो वेदः।' आचार्यवान् पुरूष ही आत्मा को जानता है, उसके लिए ब्रह्म की दूरी तभी तक है, जब तक वह शरीर बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता।

5. अर्थवाद : प्रतिपाद्य की स्थान–स्थान पर प्रशंसा ही अर्थवाद है। जैसे : श्वेतकेतू – आरूणि संवाद।

छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित श्वेतकेतु – आरूणि का संवाद : जब श्वेतकेतु ज्ञान की सभी शाखाओं में बारह साल का प्रशिक्षण पूरा करने के पश्चात् गुरूकुल से लौटे, तो उनके पिता उद्दालक ने उनकी अभिव्यक्ति में अहंकार पाया। श्वेतकेतु के अहंकार के खण्डन हेतु ऋषि उद्दालक आरूणी उनसे प्रश्न करते हैं : –

त ह पितोवाच 'श्वेतकेतो! यन्तु सोम्येदं महामना अत्त्वूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्ताक्ष्यों, येनाश्रुत श्रुतं भवल्यमतं मतविज्ञातं विज्ञातमिति।।'

श्वेतकेतु अपने पिता के प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ रहे। अतः उन्होंने अपने पिता से ज्ञान देने का अनुरोध किया। आरूणी ऋषि ने अनुरोध स्वीकार करते हुए श्वेतकेतु से संवाद आगे बढ़ाया।

श्वेतकेतु – आरूणी संवाद में, ब्रह्म के विषय में और उसे कैसे प्राप्त किया जाये, इसके बारे में एक व्यापक विचार देखने को मिलता है।

अधिकरण के अवयव

अधिकरण में निम्न पाँच अवयव हैं– 1. विषय, 2. संशय, 3. पूर्व पक्ष, 4. उत्तर पक्ष, 5. निर्णय।

1. विषय : जिस पर आधारित होकर विचार प्रवत्त होता है, उसे विषय कहते हैं। यहाँ मीमांसा शास्त्र ही विषय है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।' अर्थात् अपने अध्याय का ही अध्ययन करना चाहिए।

2. संशय : जिसमें दो या दो से अधिक पक्षों की सम्भावना पर विचार होता है, उसे संशय कहते हैं। स्थाणों का पुरूषो वा सूखा वृक्ष है अथवा पुरूष है।

3. पूर्व– पक्ष : वादी के द्वारा प्रतिपादित वस्तु को पूर्व पक्ष कहते है। जैसे : वेद अपौरूषेय है।

पूर्व पक्ष इस पर वादी प्रश्न करता है कि – वेद किस प्रकार से अपौरूषेय है।

4. उत्तर पक्ष : वादी द्वारा प्रतिपादित विषय – वस्तु को उत्तर देकर समाधान करना उत्तर पक्ष कहलाता है।

अतः उत्तर पक्ष उपर्युक्त बिन्दुओं के माध्यम से पूर्वपक्ष के समस्या का समाधान करने का प्रयत्न करता है।

5. निर्णय : प्रतिपादय विषय में, विषय के अन्तगर्त संशय, शंका का समाधान करने के बाद अन्तिम सिद्धान्त निर्णय की स्थापना करना है। जैसे – वेद अपौरूषेय है।

निर्णय के लिए तीन संगतियाँ होती है :–

निर्णय – शास्त्र संगति
अध्याय संगति
पाद संगति

उपसंहार : जिसमें विषय, संसय, पूर्वपक्ष, उत्तर पक्ष एवं निर्णय इन पंचावयों का प्रतिपादन हुआ तथा जहाँ अर्थ के सिद्ध होने से अन्य अर्थ भी नियम से सिद्ध हो अधिकरण सिद्धान्त कहलाता है।

अधिकरण सिद्धान्त को पढ़ने एवं समझने के अधिकारी में श्रवण, मनन तथा निद्धिध्यासन जैसे लक्षण होने चाहिए।

2.6 शंकराचार्याभिमत अधिकरण सिद्धांत

अद्वैत वेदान्त विद्या में ब्रह्मज्ञान का अधिकरण अत्यन्त विशिष्ट विद्वान् श्रोत्रिय गुरु के पास उनके अनुकूल पत्र पुष्पादि भेंट लेकर आता है। तदनन्तर श्रद्धापूर्वक उनके उपदेशों का अनुसरण करता हुआ मन, वाणी व कर्म से उनकी सेवा सुश्रुषा करता है । तब 'गुरु' इस प्रकार के ब्रह्मजिज्ञासु के ऊपर अत्यन्त कृपालु होकर ' अध्यारोपापवाद न्याय' से ब्रह्म रूप परम रहस्य का उपदेश करते हैं। जिज्ञासु और गुरु के ये कर्त्तव्य अर्थात गुरु के पास जाना और गुरु का ज्ञानोपदेश करना श्रुतियों में भी कहे गये हैं। श्रुति स्पष्टतया गुरु की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहती हैदृ"आचार्यवान् पुरुषो वेद"। स्पष्ट है कि आचार्योपासक मुमुक्षु ही यथावत् ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। 'ब्रह्म' एक नितान्त सूक्ष्म तत्त्व है, जो बहुश्रुत तत्त्वदृष्टा आचार्य से विचार विनिमय के बिना साक्षात् नहीं हो सकता। संक्षेपशारीरक में गुरु की शरण में जाने की आवश्यकता पर बल देते हुए और इस शंका का कि "यदि अधिकारी पुरुष में पुण्य प्रताप से मुमुक्षा अपने आप उत्पन्न होती है, तब आत्मज्ञान भी स्वयं प्रकट हो जायेगा" का निवारण करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में वेदज्ञों की परिषद् ही धर्म निर्णय में प्रमाण मानी गई है। उसी प्रकार यहाँ मुमुक्षु के लिए 'गुरूपसन' अनिवार्य है, अतः मुमुक्षु में गुरूपसन व गुरूपसदन की कामना उचित ही है।

आचार्य शंकर गुरु का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि जो ईंधनरहित अग्नि के समान शान्त हो, स्वयं आत्मज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ हो, अकारण ही दूसरों पर दया करने की भावना से युक्त है, शरणापन्न सज्जनों का हितैषी बन्धु हो, ऐसे गुरुदेव की विनीत और विनम्र सेवा से भक्तिपूर्वक आराधना करके, उसके प्रसन्न होने पर उनसे अपने आत्म ज्ञान की जिज्ञासा प्रकट करें। यथा

ब्रह्मण्युपस्तः शान्तो निरिन्धन इवानलः ।
अहेतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम् ।
तमाराध्यं गुरूं भक्त्या प्रहप्रश्रयसेवनैः ।
प्रसन्नं तमनुप्राप्य पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः ।

उपनिषद् का आदेश है कि आत्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। मनुष्य आत्मतत्त्व को जानकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है, किन्तु आत्मतत्त्व श्रवण में भक्ति अनेक जन्मों के पुण्योदय से होती है। कर्म, ज्ञान और योग तीनों ही भगवत्प्राप्ति के साधन हैं, परन्तु भक्ति इन तीनों में सबसे श्रेष्ठ है। आत्मतत्त्व का वक्ता, उपदेष्टा व ग्रहण करने वाले अति

दुर्लभ हैं तथा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाला कुशल ज्ञानी पुरुष के द्वारा उपदिष्ट आत्मतत्त्व को जानने वाला भी आश्चर्यमय अर्थात् अति दुर्लभ है। अतः आत्मतत्त्व को जानने के लिए सद्गुरु का अन्वेषण करना चाहिए। जिसने आत्मतत्त्वानुभूतिमय साक्षात्कार कर लिया है। समित्पाणि होकर ऐसे आत्मसिद्ध, श्रोत्रिय और आश्चर्यमय गुरु के पास जाना चाहिए। इसी का प्रतिपादन करते हुए उपनिषद् में कहा गया हैं–

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरूमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।

आध्यात्मिक ज्ञान के प्रवाह के उच्चतर धरातल से निम्नतर धरातल की ओर नैसर्गिक अवतरण में विश्वास के साथ कठोपनिषद् हमें बतलाती है कि यदि गुरु वास्तव में उच्च कोटि का आत्मज्ञानी न हो तो आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति कठिन होगी। पुनः जब यदि दीक्षा ऐसे आध्यात्मिक गुरु से नहीं ली जाती, जिसने आत्मा के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव कर लिया है तो उस सूक्ष्म मार्ग के ज्ञान की कोई आशा नहीं की जा सकती, जो तर्क और विवाद की शक्ति से परे है। आत्मा को जानने के लिए गुरु की आवश्यकता क्यों पड़ती है ? इस विषय में कठोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मविषयिणी मति अपनी कल्पनाओं से प्राप्त नहीं की जा सकती है। वस्तुतः आगमविद् आचार्य के उपदेश रूपी जल से प्रक्षालित बुद्धि आत्मसाक्षात्कार के योग्य हो जाती है। इस दूसरे अवतरण में वही उपनिषद् कहती है किदृ **"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।।"** अर्थात् उठो, जागो और अपने से श्रेष्ठ पुरुषों, गुरुओं से ज्ञान सीखों क्योंकि आत्मज्ञान के मार्ग पर चलना उतना ही कठिन है, जितना तलवार की धार पर चलना । मनुस्मृति में भी कहा है–

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
न्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ।

अर्थात् तीन से अधिक वेदवेत्ताओं का समूह एक ऐसी परिषत् है जिस पर धर्मसंशय का निर्णय करना निर्भर है। उसी प्रकार ब्रह्मशास्त्र में भी सन्दिग्ध ब्रह्म का निर्णय गुरु की शरण में ही अधिकारी कर सकेगा। नैतिक सद्गुणों के पूर्णतया सम्पादन के बाद एक योग्य गुरु से दीक्षा लेने की आवश्यकता होती है। उपनिषदों में गुरु दीक्षा की आवश्यकता पर बल दिया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में सत्यकाम केवल औरों की सम्मतियाँ प्रदर्शित कर रहा है। जब वह अपने गुरु से यह कहता है कि अब तक उसने गुरु तुल्य वन्दनीय पुरुषों से यही सुना है कि जब तक गुरु द्वारा आत्मसाक्षात्कार की दीक्षा नहीं मिलती तब तक मनुष्य आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता । इन तथा अन्य अवतरणों से यह स्वतः स्पष्ट है कि आत्मज्ञान मनुष्य को केवल अपने वैयक्तिक प्रयत्नों से नहीं मिल सकता है क्योंकि ज्ञान इतना सूक्ष्म तथा रहस्यमय है कि कोई भी बिना गुरु कृपा के केवल अपने वैयक्तिक प्रयासों से इसकी प्राप्ति नहीं कर सकता। दूसरे यह भी आवश्यक है कि गुरु, जिसके पास हम विद्या सीखने जाएं, वह ब्रह्म के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव अवश्य कर चुका हो क्योंकि जब तक गुरु ने इस तादात्म्य का अनुभव न किया होगा, वह ऐक्यानुभूति के उच्च शिखर

पर स्थित न होगा, तब तक उसका दिया हुआ ज्ञान उसके शिष्य में सफल नहीं हो सकता। साधक शिष्य को अध्यात्म ज्ञान की दीक्षा देने के पूर्व गुरु को कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। गुण्डकोपनिषद् हमें बतलाती है कि जब तक शिष्य ऐसा कठोर कार्य पूर्ण न कर ले जैसे कि अपने शिर पर अग्नि चहन करना आदि, तब तक गुरु को उसे अध्यात्मज्ञान की दीक्षा नहीं देनी चाहिए ।

छान्दोग्योपनिषद् में एक दृष्टान्त में एपष्ट किया गया है कि किस प्रकार गुरु शिष्य का पथ प्रदर्शक हो सकता है। गान्धार देश के एक पुरुष को कुछ डाकूओं ने आँखें बाँधकर एकान्त तथा घोर अरण्य में ले जाकर उसे यथेच्छ विचरने को छोड़ दिया। वह अपने देश जाने के लिए सहायता और पथ निर्देश के लिए करुण चीत्कार कर रहा था। एक मनुष्य अकस्मात् वहाँ से निकला और बोला– 'उरा दिशा में जाओ, उस दिशा में गान्धार देश है।' अपनी बुद्धि का यथाशक्ति उपयोग करता हुआ वह एक गाँव से दूसरे गाँव का मार्ग पूछता हुआ बड़े कष्ट से अपने घर लौट कर आया। यह अन्धगान्धार का दृष्टान्त आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण है, जो विशद् रूप में आत्मा के गूल अज्ञान के अन्धकार से लेकर उसके ज्ञानालोक तक की यात्रा को स्पष्ट कर देता है। हमारा वास्तविक देश तो ब्रह्मलोक है, वहाँ से वासनाओं के डाकू नश्वर वस्तुओं के प्रति हमारी अनुरक्ति से हमारी आँखे बाँधकर हमें अज्ञान के घोर अरण्य में ले आते हैं। यहाँ हम सहायता के लिए करूण चीत्कार करते हैं, जिससे हमें प्रकाश मिल सके और जो हमें ब्रहालोक तक पहुँचा दे। अकस्मात् हमें अध्यात्म गुरु मिल जाता है। सम्भवतः हमारे पूर्वजन्मों के सुकृतों के प्रतिफल रूप सद्गुरु हमें हमारे स्वदेश के पथ का बोध कराता है, तब अपनी शक्तियों का यथासाध्य उपयोग करते हुए हम अध्यात्म के पथ पर क्रमशः पद पद बढ़ते जाते हैं, जब तक कि हम ब्रह्मलोक में नहीं पहुँच जाते, जो हमारा मूल है।

आचार्य शंकर कहते हैं कि ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय, आत्मज्ञानी, गुरु के समीप जाकर शिष्य को नम्रतापूर्वक सर्वप्रथम उनका अभिवादन करके विनम्रभाव से अपने मन्तव्य को निष्ठापूर्वक स्पष्ट करते हुए कहना चाहिए कि हे शरणागतवत्सल ! दया के आगाध सागर ! प्रभो ! आपको मैं शत–शत नमन् करता हूँ। संसार सागर में डूबते हुए मेरा आप अपनी अति सरल तथा अतिशय करूणा रूपी अमृतवाणी के कृपाकटाक्ष से आत्मज्ञान का तत्त्वतः उपदेश देकर ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग दिखलाकर उद्धार कीजिए। इस संसार की काम क्रोधादि रूप दावानल से दग्धप्रायः व सन्तप्त हुए अपने आप से किये हुए पाप कर्म रूप भयंकर वायु वेग के थपेड़ों से कम्पायमान व भयग्रस्त हुए शरणागत शिष्य की मृत्यु से रक्षा गुरु ही कर सकता है। कठोपनिषद् में भी यमराज द्वारा नचिकेता को सांसारिक भोग्य पदार्थों, ऐश्वर्य, धन दौलत आदि का प्रलोभन दिये जाने पर भी नचिकेता अपने आत्मतत्त्वविषयक तृतीय वर से तनिक भी विचलित नहीं होता है। नचिकेता कहता है कि 'वक्ता चास्य त्वादृ गन्यो न लभ्यो" अर्थात हे यमराज ! आपके सामने आत्मतत्त्व का वक्ता, उपदेष्टा दूसरा कोई नहीं है, अतः आपके अतिरिक्त इसे कौन बता सकता है ? सन्त च ब्रहाज्ञानी गुरु की महिमा बताते हुए शंकर कहते हैं कि शिष्य को कहना चाहिए कि हे गुरुदेव । जिस प्रकार भरान्त ऋतु अपने गगगोहक

रमणीय मनोहारी मौसम, वृक्षों की छाया, भीनी–भीनी फूलों की सुगन्ध आदि से लोगों को सुकून, आराम व उनके गानस को शीतलता प्रदान कर उपकार करता है। तथैव, राज्जन ज्ञानी महिगावान् रान्त व गुरु भी आत्मतत्त्वज्ञान के उपदेश जल से शरणागत व ब्रह्मतत्त्व के जिज्ञासु पुरुष की बुद्धि को प्रक्षालित कर उन्हें संसार के जन्म–मरण के चक्र से तारने की क्षमता रखते हैं। आप स्वयं ही इरा संसार सागर से मुक्त हैं, सत्कर्म करते हैं, राग द्वेषादि कषायों से सर्वथा विमुक्त हैं। अतः आप जैसे महात्मा रान्त निश्चित रूप से ही निःस्वार्थ भाव से शरण में आये गुगुक्षु पुरुषों को अपने ज्ञान की पवित्र गंगा में बहाकर गोक्ष रूप परम् ब्रह्मधाम में पहुँचाते हैं। अतः हे करूणानिधान! मेरी नाव को भी इस संसार सागर से पार लगाकर मेरा उद्धार कीजिए। आचार्य शंकर के शब्दों में–

स्वामिन्नमस्ते मतलोकबन्धो कारुण्यसिन्धो पतितं भवाब्धौ ।

गागुद्द्वरात्मीयकटाक्षदृष्ट्या ऋज्यातिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या ॥

शिष्य को पुनः विनम्रभाव से गुरु की अनुशंसा करते हुए यह कहना चाहिए कि जिस प्रकार प्रचण्ड व भीषण ग्रीष्ण के आतप से सन्तप्त सूखी मृतप्राय धरती को गगन मण्डल में सुशोभित हिमांशु अपनी शीतल रश्मियों की ठण्डक से पृथ्वीतल की उष्णता को दूर करता है, उसी प्रकार महात्मा की तो यह प्रकृति ही होती है कि वे स्वतः ही दूसरों का श्रम, चिन्ता एवं खेद का निवारण कर देते हैं । अतः हे गुरुवर ! आप भी आत्मज्ञान का सम्यक् उपदेश करने वाली अपनी अमृतमयी सुधा का सेवन करनी वाली शान्त व मधुर वाणी से ज्ञान की वृष्टि करके मेरे अन्तःकरण में ब्रहातत्त्वविषयक प्रदीप्त होने वाली जिज्ञासा का शमन करें। सद्गुरु को उपदेश में सन्मुख करने के लिए आचार्य शंकर कहते हैं कि शिष्य इस प्रकार नग्रभाव से गुरु से ज्ञानप्राप्ति की अभ्यर्थना करे तथा निवेदन करे कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इन त्रिविध दुःखों की तीव्र व प्रचण्ड दावानल की ज्वाला से अति सन्तप्त व क्लेश को प्राप्त मुझ दीन, शरणापन्न को अपने ब्रह्मानन्दानुभूतिजन्य रसानुभव से युक्त, परम पवित्र, सुशीतल, निर्मल, निर्दोष, शान्ति, सुख देने वाले श्रवणसुखदवचनामृत युक्त उपदेशों से मेरे अन्तःकरण को तृप्त कीजिए। हे गुरुवर ! आपके परम अनुग्रह व कृपा कटाक्ष से क्षण भर मात्र के लिए उपकृत हुए जन बड़े ही पुण्यात्मा व सृकृती है। अतः मुझे भी उन्हीं में समझकर आपकी करुणामय दृष्टिपथ में आया हुआ जानकर अपने उपदेश से कृतार्थ करें । भगवद् गीता में भी श्रद्धापर्वक की गई सेवा से ही भगवद् प्राप्ति कही गयी है। भक्ति के साधनों तथा सहायकों का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम गुरुसेवा का ही उल्लेख है। यतोहि, गुरुसेवा से सब कुछ सुलभ हो जाता है। गुरु साक्षात् भगवान रूप है। वह ज्ञान रूपी दीपक शिष्य को देता है, अतः गुरु को साधारण नहीं समझना चाहिए।

श्रुतियाँ भी "आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति" यह कह कर आचार्य से प्राप्त विद्या की श्रेष्ठता प्रतिपादित करती है। श्रुतियाँ यह भी कहती हैं कि 'आचार्यवान पुरुषो वेद' अर्थात् जिस पुरुष को श्रेष्ठ व प्रशस्त आचार्य प्राप्त होता है, वही ब्रह्म को जानता है। ऐसे श्रेष्ठ आचार्य श्रोत्रिय,

वेदज्ञ, अवृजिन् अर्थात् शास्त्रानुसार कर्मानुष्ठान द्वारा निष्पाप तथा अपापहत मोक्षेतर फल की कामना से हत नहीं होता। विवेक–चूडामणि में शंकर इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए यही कहते हैं कि संसारानल से सन्तप्त शरणागत मुमुक्षु व जिज्ञासु शिष्य के विनम्र प्रार्थना भरे वचनों को सुनकर उसे ज्ञानोपदेश के लिए स्वीकार कर महात्मा गुरु अपनी करूणामयी कृपाकटाक्षकोर से उसे अभय प्रदान कर ज्ञानोपदेश देकर संसार सागर से मुक्त करें । तदनन्तर उस शिष्य की पात्रता की समुचित परीक्षा करने के उपरान्त शरणागति की इच्छावाले मुमुक्षु आज्ञाकारी, शान्त चित्त, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा व समाधि रूप साधन सम्पत् से युक्त, संयत व साधु शिष्य को कृपापूर्वक तत्त्वोपदेश करे। जिस प्रकार अपने शरीर के रोगादि की निवृत्ति के लिए औषध करते हैं, वैसे ही शिष्य के संसार रूप रोग दूर करने के लिए गुरु आत्मदृष्टि से ही उपदेश करे।

अन्यत्र आचार्य शंकर ने ब्रह्म की प्राप्ति में शास्त्रों, युक्तियों व गुरु के वाक्यों को अनुमान व आगम प्रमाण माना है। अर्थात् बिना पूजा लाभादि के उपदेशदाता दयालु ब्रह्मनिष्ठ गुरुदेव के उपदेश वचन मोक्ष में साधक है। आचार्य शंकर ने यह भी बतलाया है कि जिस प्रकार 'तत्त्वमसि' 'सर्वं खल्विदं' 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' आदि श्रुतिवाक्य जिस प्रकार व्यक्ति को ब्रह्म का ताटस्थ्येन परोक्ष अनुभव कराती है, उसी प्रकार समाधि अवस्था में लीन साधक शिष्य को 'तत्त्वमसि' वाक्य द्वारा होने वाला ब्रह्म का अपरोक्ष अनुभव तटस्थ अनुभव ही है । अतः गुरु ब्रह्मावबोध प्राप्ति का मार्गदर्शक अथवा पथप्रदर्शक हो सकता है इसलिए विवेकी विद्वान् शिष्य को चाहिये कि अपनी ही ईश्वरानुगृहीत् बुद्धि से तथा 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यार्थ के मनन से जन्य ब्रह्मात्मा की एकता वृत्ति करके ही स्वयं ही प्रज्ञा से ब्रह्म का साक्षात् अनुभव कर संसार सागर से पार हो जाए। आत्मबोध के लिए गुरु के श्रुतिप्रमाणयुक्त वचन और भगवत्कृपा दोनों आवश्यक हैं। वस्तुतः आत्मबोधोपलब्धि में श्रुतिवचन एवं गुरुवचन सहायक होते हैं । इन्द्रियनिग्रही की आत्म स्वरूप में अवस्थिति तो वृत्तिरहित चित्त की निश्चल अवस्था में स्वयं के चित्त के शान्त हो जाने से भगवत्कृपा से ही प्राप्त होती है। यथा द्रष्टव्य है।

इति गुरुवचनाच्छ्रुतिप्रमाणात्परमवगम्य सतत्त्वमात्मयुक्तया ।
प्रशमितकरणः समाहितात्मा क्वचिदचलाकृतिरात्मनिष्ठितोअभूत् ।

गुरु का महत्त्व बतलाते हुए विवेक–चूडामणि में बताया गया है कि सच्चा गुरु वह है, जो स्वयं आत्मज्ञानी है और जिसके कृपा कटाक्ष रूप शरद ऋतु के चन्द्र की स्निग्ध व सघन चाँदनी के संसर्ग से संसारतापजन्य श्रम दूर हो जाता है। फलस्वरूप शिष्य अखण्ड, एकरस, अद्वितीय, नित्य, व्योमवत् सर्वव्यापी आनन्दमय, विज्ञानघन, एकतत्त्व, अक्षय, परमपद को प्राप्त कर लेता है, आत्मैक्यानुभूति कर लेता है। ऐसे असंग सन्तशिरोमणि, नित्य, अद्वितीय, आनन्दरसस्वरूप, अतिमहान् और नित्य अपार दयासागर महात्मा गुरुदेव को शिष्य अत्यन्त भावविभोर होकर बारम्बार नमस्कार करता है। गुरुकृपा से ही शिष्य में ब्रह्मभाव उत्पन्न होता है। इसी मन्तव्य को स्पष्ट करते कहते हैं कि जिस प्रकार सिंह शावक भेड़ों के झुण्ड में रहने से स्वयं भेड़वत् आचरण हुए शंकर करता था, किन्तु सिंह की दहाड़ सुनकर तथा

जल में अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसका सिंहत्व जाग जाने पर सिंहवत् व्यवहार करने लगता है। उसी प्रकार गुरु के उपदेश रूपी कृपा से जीव का ब्रह्मत्व जाग्रत् हो जाता है तथा वह अपने को ब्रह्म स्वरूप ही अनुभूत. करने लगता है। जिस प्रकार स्वयं अपने गले में पड़ी हुई माला का ज्ञान किसी दूसरे द्वारा कराये जाने पर व्यक्ति प्रसन्न होता है और जिस प्रकार जंगल में खोये हुए राजकुमार को राज्य में पहुँचाने पर अपने राजत्व का बोध हो जाता है, तथैव अपने ब्रह्मस्वरूप को विस्मृत् किए हुए अज्ञानी जीव को गुरु 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि अमृतमय उपदेश वचनों से उसके स्वरूप का ज्ञान करा देता है। यह है गुरु कृपा का है अद्‌भुत चमत्कार ।

2.7 सारांश

इस इकाई में हमने भारतीय शास्त्र संरचना में अधिकरण के स्वरूप के बारे में पढ़ा। भारतीय परम्परा में शास्त्र समाज के उपयोग में लाने हेतु सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं। सिद्धान्तों के निर्माण की क्रमबध्य और सुव्यवस्थित प्रक्रिया को अधिकरण कहा जाता है। अधिकरण का प्रयोग भारतीय दार्शनिक परम्परा में मीमांसा और न्यायदर्शन ने किया है। मीमांसादर्शन जहां हमें वैदिक ज्ञानराशि को प्राप्त करने में सहायता करता है, वहीं न्यायदर्शन भारतीय ज्ञानपरम्परा के तार्किक परम्परा में सहायक है। भारत के प्रमुख आचार्य जैसे– शंकाराचार्य, माधवाचार्य, जैमिनि इत्यादि ने शास्त्रसंरचना में अधिकरण का उपयोग किया है। भारत के किसी भी प्रौढ़ ग्रन्थ को पढ़ने, समझने में अधिकरण सिद्धान्त का ज्ञान आवश्यक है।

2.8 बोधप्रश्न

1. विचार की प्रक्रिया में अधिकरण सिद्धान्त के उपयोग पर प्रकाश डालिए।
2. मीमांसादर्शन में वर्णित अधिकरण सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
3. अधिकरण के सिद्धान्त शास्त्र संरचना का आवश्यक अंग है, इस कथन पर प्रकाश डालिए।

2.9 सन्दर्भग्रन्थ

1. मीमांसादर्शन
2. न्यायसूत्र
3. मीमांसादर्शन
4. कौटिल्य का अर्थशास्त्र
5- वेदांत सार- सदानंद योगेन्द्र
6. श्रीमद्भगवद्गीता- गीताप्रेस, गोरखपुर

इकाई- 3 वैदिक संवादों का परिचय

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 संवाद का अर्थ

3.4 संवाद में प्रमुख तत्त्व तथा सीमाएँ

3.5 कुछ महत्त्वपूर्ण वैदिक संवाद

3.5.1 सरमा-पणि-संवाद

3.5.2 यम-यमी संवाद

3.5.3 यम-नचिकेता संवाद

3.5.4 व्याघ्र गोमायु संवाद

3.5.5 याज्ञवल्क्य मैत्रयी संवाद

3.6 सारांश

3.7 पारिभाषिक शब्दावली

3.8 सन्दर्भग्रन्थ

3.9 बोध प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों आपने पढ़ा कि भाषा संवाद का माध्यम है, उद्देश्यपरक संवाद का महत्व बहुत है जैसे हमारे शास्त्र, ग्रन्थ, उपनिषद आदि। । स्मृतियां अभिमुखीकरण अर्थात् अपनी ओर प्रवृत्त करती है मनुस्मृति, व्यास स्मृति, विष्णु स्मृति ,यम स्मृति आदि ।

अभिमुखीकरण हम कैसे करेंगे जैसे कोई पाठक जब पुस्तक पढ़ता है तो पढ़ते पढ़ते अपने आप को पुस्तक के साथ संवादात्मक शैली में पढ़ता है। पुनश्च हम स्मृतियों को पढ़ने देखने का, आत्मसात करने का दृष्टिकोण, भारत की सामासिक संस्कृति को किस रूप में गृहण कर रहे हैं, फिर सामासिक संस्कृति की यह विशेषता है कि वह जो कुछ भी जहां अच्छा है उसको अपने भीतर समावेश करने में सक्षम होती है।

जब हम महापुराणों की बात करते हैं तो महापुराण क्या है, कितने हैं, उनकी रचना के ऋषि-मुनियों का क्या उद्देश्य रहा है क्या-क्या विषय है तो हम उसे संवादात्मक शैली में पढ़ते हैं तो उसे सुधीजन, सामान्य जन अधिक से अधिक ग्रहण कर लेता है और सुलभता से आत्मसात करते हैं उनके उद्देश्यों को पूरा करने में लग जाते हैं ये सब कब सम्भव है जब उसे हम संवादात्मक रूप से अपने आपको मन मस्तिष्क को डुबोकर आत्मसात करते हैं। हम वेदों को पढ़ते हैं लेकिन यह सभी के द्वारा पढ़ने और समझने में सुलभ नहीं है तो वेदों का उपबृंहण हुआ।

हमारे शास्त्र की संवाद शैली ही आध्यात्मिक, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक विकास के पथ पर अग्रसर करती है।इसीप्रकार वेद को श्रुति कहा गया। श्रुति अर्थात् श्रवण पद्धति अर्थात् संवाद के द्वारा अध्ययन अध्यापन ।

संवाद भारतीय संस्कृति ,वं दर्शन के पुनर्बोध का,कमेव उपकरण है। भारत का संपूर्ण इतिहास सभा, समिति, गोष्ठी, शास्त्रार्थ, प्रश्नोत्तर और वाद-विवाद संवाद से भरा पूरा है, लेकिन आधुनिक भारत में राष्ट्रीय चुनौतियों एवं व्यापक लोकहित के प्रश्नों पर भी उद्देश्यपरक संवाद का अभाव है। राष्ट्रीय एकता के प्रश्न भी उपेक्षित हैं।

पूर्व की ईकाईयों में आप भारत में वादपरम्परा के स्वरूप और महत्व तथा वाद-संवाद के नियमों और उन नियमों की संरचना से आप परिचित हो चुके हैं। अब हम आपको भारत में प्राचीन कुछ महत्वपूर्ण संवादों से परिचित कराने जा रहे हैं। वैदिक परम्परा के अधिकांश संवाद जिज्ञासा पर आधारित है। यह जिज्ञासा भी तीन प्रकार की होती है-

1. **साधारण जिज्ञासा:** उषस्ति एवं महावत संवाद, हंसों के संवाद, जानश्रुति पौत्रायण तथा सेवक संवाद इत्यादि।
2. **विशेष जिज्ञासा:** नारद सनत्कुमार संवाद, श्वेतकेतु तथा आरूणि संवाद, जनक याज्ञवल्क्य तथा याज्ञवल्क्यमैत्रयी संवाद इत्यादि।
3. **पूर्वाग्रह पूर्वक जिज्ञासा:** याज्ञवल्क्य से अश्वल, आर्तभाग, भुज्यु लाह्यायनि, उषस्त, कहोल, गार्गी, आरूणि एवं विदग्ध शाकल्य संवाद इत्यादि।

इस प्रकार भारतीय परम्परा में कतिपय संवाद विशेष है, जहाँ किसी सत्य का अन्वेषण अथवा किसी देवता विशेष का निर्देश किया जाता है।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई को पढ़ने के बाद आप—

- कुछ प्रमुख वैदिक संवादों से परिचित हो सकेंगे।

- उन वैदिक संवादों में निहित भारतीय वादपरम्परा के तत्त्वों को जान सकेगे।
- वैदिक संवादों में निहित नितितत्त्व को ग्रहण कर सकेंगे।
- भारत में संवादपरम्परा के व्यापक और प्राचीन स्रोतों से परिचित हो सकेंगे।

3.3 संवाद का अर्थ

संवाद को स्पष्ट करने के लिये इसके सामान्य अर्थ पर विचार करना अनिवार्य प्रतीत होता है। लोक व्यवहार से प्रतीत होता है कि कथन चार प्रकार का है-

1. विशेष कथन
2. साधारण कथन
3. निकृष्ट कथन
4. संवाद एवं वार्तालाप के मध्यवर्ती कथन

इन कथनों का गहन अध्ययन करने पर विशेष कथन को 'संवाद', साधारण कथन को 'वार्तालाप' अथवा 'वार्ता' और निष्कृट कथन अथवा अनुचित कथन को 'विवाद' नाम से अभिहित किया जा सकता है। इन तीनों की अपनी-अपनी सीमाएँ है।

संवाद शब्द 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'वद्' धातु से 'घञ् प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है। सम का अर्थ के साथ मिलकर, वाद का अर्थ बोलना अथवा विचार विमर्श करना। इस प्रकार संवाद का अथ हुआ किसी के साथ मिलकर बोलना अथवा विचार विमर्श करना।

संवाद से अभिप्राय एक विशेष प्रकार की बातचीत से है जिसके अन्तर्गत किसी विशेष विषय पर विचार विमर्श किया जाता है। यह विचार विमर्श धार्मिक, राजनैतिक, दार्शनिक अथवा आर्थिक किसी भी विषय पर हो सकता है। इसमें विषय के किसी निष्कर्ष पर्यन्त पहुँचना भी अनिवार्य है। वार्तालाप में विषय गम्भीर नहीं होता और न ही प्रसंग से स्थिरता होती है। इसमें किसी विषय के निष्कर्ष पर्यन्त पहुँचना भी अनिवार्य नहीं है। इसमें विषय बिखराव होता है और भावुकता भी होती है। विवाद संवाद से पूर्णत विपरीत है। यह वाद् से 'वि' उपसर्ग लगने पर बनता है। 'वि' उपसर्ग पृथक् करना अर्थ को देता है। इसमें विषय का उचित निष्कर्ष निकलने के स्थान पर विषय प्रायः विस्मृत सा हो जाता है। संवाद एवं वार्तालाप के मध्यवर्ती कथन में एक विषय पर अनेक पात्र अपने-अपने अभिमत प्रकट करते हैं परन्तु निष्कर्ष निकलने के स्थान पर विषय प्रायः विस्मृत सा हो जाता है।

संवाद एवं वार्तालाप के मध्यवर्ती कथन में एक विषय पर अनेक पात्र अपने-अपने अभिमत प्रकट करते हैं परन्तु निष्कर्ष नहीं, न ही इसमें कोई विवाद की स्थिति उत्पन्न होती है।

संवाद के भी तीन प्रकार है-

1. प्रत्यक्ष संवाद
2. परोक्ष संवाद
3. आङ्गिक अभिनय द्वारा संवाद

1. प्रत्यक्ष संवाद

इसमें पात्रों की प्रत्यक्ष उपस्थिति होती है। प्रत्यक्ष संवाद दो प्रकार का होता है-

1. पूर्व निर्धारित (विषय, समय ,वं स्थानानुसार संवाद)
2. परिस्थिति के अनुसार स्वतः संवाद

2. परोक्ष संवाद

इसमें पात्र मूर्त रूप में प्रत्यक्ष नहीं होते हैं परन्तु वक्ता किसी न किसी रूप में अन्य पात्र की कल्पना कर लेता है। इसमें बैखरी वाक् की अपेक्षा मध्यमा वाक् अधिक कार्य करती है। यह संवाद भी दो प्रकार का होता है-

1. स्वगत संवाद
2. मौनगत संवाद

स्वगत भाषण में व्यक्ति अपने साथ ही बोलता है। इसमें वह सुख दुःख इत्यादि का स्वंय ही अनुभव करता है। सब कुछ उस तक ही सीमित रहता है परन्तु मौनगत संवाद में व्यक्ति जिसका चिन्तन करता है वह व्यक्ति उसका उत्तर भी देती है जो मौनरूप में ही होता है। इसे दो पात्रों का आन्तरिक संवाद कहा जा सकता है।

3. आङ्गिक अभिनय द्वारा संवाद

आङ्गिक अभिनय कई बार संवाद से भी अधिक प्रभावशाली होता है। व्यक्ति जो बात बोल करके नहीं कह पाता है वह आङ्गिक अभिनय द्वारा शीघ्रता से अभिव्यक्त कर देता है।

3.4 संवाद में प्रमुख तत्त्व तथा सीमाएँ

संवाद के अर्थ एवं स्वरूप को जानने के बाद यह जानना आवश्यक है कि संवाद के वे कौन-कौन से तत्त्व हैं जो संवाद को अपनी सीमा में बांध करके उसके वास्तविक स्वरूप का निर्धारण करते हैं।

चूंकि संवाद मैत्रीपूर्ण एवं शांतिपूर्ण वातावरण में विचार विनिमय है। संवाद की पहली कड़ी है-वक्ता, श्रोता एवं विषय। संवाद में इन तीनों का ही महत्त्वपूर्ण योगदान है। दूसरी महत्त्वपूर्ण पक्ष में संवाद में शिष्टतापूर्ण व्यवहार की अपेक्षा है। अमर्यादित तथा अभद्र व्यवहार वर्जित है। उत्ताहट, पाखण्ड एवं अभिमान दोरंगी चाल वर्जित है। ईर्ष्या, अहंकार एवं क्रोध भाव अनपेक्षित है। संवाद के लिये संवाद कर्त्ताओं के मध्य स्नेह, मैत्रीभाव, सहनशील, दयालु, विश्वास एवं आशायुक्त भाव अपेक्षित है। संवाद के प्रमुख तत्त्व निम्नवत् है इनका भी अवलोकन करिये-

उदारता- उदारता से अभिप्राय संकुचित तथा सन्देहपूर्ण विचारों का अभाव है। संवाद कभी भी सन्देह की स्थिति में नहीं होनी चाहि,। संवाद में प्रत्येक पात्र अन्य पात्र के विचारों का उदारता एवं सहानुभूतिपूर्वक श्रवण करें एवं अपने विचारों का कथन करे परन्तु विचारों की उदारता की भी सीमा है। यह नही मान्य है कि जो भी किसी के मन में आये वह बोलता रहे।

जिज्ञासा- उचित संवाद जिज्ञासा पर आधारित होता है यदि पात्रों में कुछ नया जानने की इच्छा होगी तभी वे अपने सन्देहों का निराकरण करके कुछ नया सीख सकते हैं। जिज्ञासा तीन प्रकार की हो सकती है- साधारण जिज्ञासा, विशेष जिज्ञासा और पूर्वाग्रहपूर्वक जिज्ञासा। साधारण तथा विशेष जिज्ञासा प्रायः प्रश्न के रूप में होता है तथा जिज्ञासु विनम्रता एवं आश्चर्यपूर्वक विषय के बारे में जिज्ञासा करता है।

सम्मानपूर्वक विचार विनिमय- संवाद का प्रत्येक पात्र अपने विचारों से अन्य को अवगत कराये तथा अन्य पात्रों का विचार ग्रहण करें।

संवादात्मक उत्तरदायित्व- संवादात्मक उत्तरदायित्व से यहां अभिप्राय है- प्रश्नोत्तर करने की योग्यता। यह योग्यता वास्तविक होनी चाहिए।

भाषा ज्ञान तथा भाषा साम्य- संवाद में भाग ले रहे पात्रों को भाषा का ज्ञान तथा भाषा की समता का ज्ञान आवश्यक है। कई बार व्यक्ति विद्वान् होते हुए भी भाषा की असमता के कारण

अन्य पात्रों की बात को समझने में असमर्थ होता है। फलतः वह अपने विचारों का प्रकटीकरण नहीं कर पाता। इनके अतिरिक्त विषय का ज्ञान, पात्रों में अकृत्रिमता, पक्षपातहीनता, सहयोग आदि अनिवार्य तत्त्व है।

3.5 महत्त्वपूर्ण संवाद

संवादों का बीजतत्त्व वेद में प्राप्त होते हैं। यदि संवादात्मक दृष्टि से वेद का अध्ययन किया जाय तो ऋग्वेद में 88, यजुर्वेद में एक, अथर्ववेद में एक, ऐतरेय ब्राह्मण में 21, शांखायण ब्राह्मण में 4, तैत्तिरीय ब्राह्मण में 6, शतपथ ब्राह्मण में 130, षड्विंश ब्राह्मण में 4, जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में 18, गोपथ ब्राह्मण में 24 हैं। इनमें से 265 संवाद सफल हैं और 32 संवाद विफल है। इस प्रकार संहित तथा ब्राह्मण में लगभग 297 संवाद उपलब्ध है तथा यदि हम उपनिषदों का संवादात्मक दृष्टि से परीक्षण करें तो ऐतरीय उपनिषद् में 3 संवाद, कौषीतकि उपनिषद् में 5, ईशावास्योपनिषद् में 6, बृहदारण्यकोपनिषद् में 31 संवाद, तैत्तिरीयोपनिषद् में 1, कठोपनिषद् में 6 संवाद, श्वेताश्वतरोपनिषद् में 1, मैत्रायिणी उपनिषद् में 2, केनोपनिषद् में 10, छान्दोग्योपनिषद् में 48, प्रश्नोपनिषद् में 8 एवं मुण्डोपनिषद् में 1 संवाद दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार से इन उपनिषदों में हमें लगभग 129 संवाद प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य में ही हमें संवादों की एक विशाल राशि प्राप्त होती है। समग्र भारतीय वाङ्मय में अनगिनत संवाद उपलब्ध है।

पात्रों के आधार पर संवादों का संक्षिप्त परिचय

क्रम सं.	संवाद	उदाहरण
	देवताओं के पारस्परिक संवाद	वैदिक सूक्तों में ही लगभग पच्चीस संवाद प्राप्त होते हैं। जैसे- ऋभुगण-अग्निदेव संवाद, इन्द्र-प्रजापति संवाद आदि।
2	देवों के ऋषियों एवं स्तोतागणों के मध्य संवाद	इन्द्र तथा ऋषि गौतम संवाद, इन्द्र का वसिष्ठ से संवाद।
3	देवों के गन्धर्वों और असुरों के मध्य संवाद	शतपथ ब्राह्मण में इस संवाद का वर्णन है।
4	देवों के मनुष्यों के साथ संवाद	आप्त्यों का प्रजा से संवाद, प्रजापति-प्रज्ञा संवाद, रात्रि का राजा रथवीति से संवाद।
5	देवों के पशुओं एवं पशुओं के साथ संवाद	इन्द्र का सरमा शुनि से संवाद।
6	ऋषियों का स्तोतागण से संवाद	ऋषि काबन्धि का ऋत्विजों से संवाद।
7	ऋषियों का मनुष्यों से संवाद	ऋषि श्यावाश्व का रथवीति से संवाद, अत्रि पुत्र अर्चानानस् ,वं रथवीति संवाद, भृगु का मनुष्यों से संवाद।
8	ऋषियों का ब्राह्मणों के साथ	याज्ञवल्क्य का ब्राह्ममणों के साथ संवाद,

	संवाद	स्वैदायन का ब्राह्मणों के साथ संवाद।
9	आचार्य-शिष्य संवाद	मौद्गल्य का मैत्रेय शिष्य से संवाद, मौद्गल्य का अपने शिष्य से संवाद, अगस्त्य ,वं लोपामुद्रा का आगस्त्य शिष्य से संवाद।
10	मनुष्यों के देवों के साथ संवाद	रोहित-इन्द्र संवाद, ममता के गर्भस्थ शिशु से बृहस्पति का संवाद।

संवादों के स्वरूप से परिचित कराने के प्रयास में आपको कुछ चुने हुए संवादों से अवगत कराया जा रहा हैं। ये चुने हुए संवाद निम्नवत् हैं-

3.5.1 सरमा-पाणि-संवाद

ऋग्वेद में जो कुछ संवाद प्राप्त होते हैं उनमें नीतिकथा को दृष्टि से सरमा-पणि-संवाद का बड़ा ही महत्व है। इस सूक्त में सरमा नाम की कुतिया और पणि नामक असुरों के बीच हुआ संवाद सुरक्षित है। सरमा की पूरी कहानी ऋग्वेद में नहीं मिलते । वैदिक ग्रंथों के अनुसार कहानी इस प्रकार है पणि लोग इंद्र को गाएं चुरा ले गये थे। वे रसा नदी के पार रहा करते थे । वहाँ उन्होंने गायों को पर्वतों में छिपा रक्खा था। इंद्र ने गायों की खोज करने के लि, सरमा नाम को देवता की कुतिया को पणियों की ओर भेज दिया । वहाँ जब सरमा पहुँची तब पणियों ने उसके आने का कारण पूछा। सरमा ने अपना परिचय दिया, ''मैं इंद्र की दूती हूँ। गाएँ लौटा दो। केंद्र से झगड़ा मोल न लो। इंद्र और उसके साथो अपनी गायें ले जावेंगे। तब तुम कुछ कर न पावोगे ।'' इस पर पणियों ने सरमा को लालच देकर उसके साथ भाई-बहन का नाता जोड़ने को इच्छा प्रकट की। किन्तु सरमा उनके पक्ष को नहीं हुई। उसने इन्कार कर दिया। उसने लौटकर इंद्र को सब हाल सुनाया। तब इंद्र ने वहाँ जाकर पणियों को हराया और अपनो गायें प्राप्त कीं ।

इस प्राचीन कथा का आधार ऋग्वेद का यह संवाद सूक्त है।

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यष्वा जगुरिः पराचौः ।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत् कथं रसायाः अतरः पयांसि ।।1।।
इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन् वः ।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत् तथा रसाया अतरं पयांसि ।।2।।
कोदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशोका यस्येदं दूतीरसरः पराकात् ।
आ च गच्छामि मेना दधामाथा गवां गोपतिर्नो भवाति ।।3।।
नाहं तं वेद दभ्यं दभत् स यस्येदं दूतीरसरै पराकात् ।
न तं गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे ।।4।।
इमा गावः सरमे या ऐच्छः परि दिवो अन्तान् सुभगे पतन्ती ।
कस्त एना अव सृजादयुव्युतास्माकमायुषा सन्ति तिग्मा ।।5।।
असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषव्यास्तन्वः सन्तु पापीः ।
अघृष्टो व एतवा श्रस्तु पन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात् ।।6।।
अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्मुष्टः ।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्य ।।7।।
एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अंगिरसो नवग्वाः ।

त एतपूर्व वि भजन्त गोनामर्थतत्रचः पणयो वमन्नित् ।।8।।
एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रत्राधिता सहसा दैव्येन ।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम ।।9।।
नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसुत्वमिन्द्रो विदुरंगिरसश्च घोराः ।
गोकामा में भ्रच्छदयन् यदायमपात इत पणयो वरीयः ।।10।।
दूरमित पणयो वरीय उद्ङ्गावो यन्तु मिनतोऋतेन ।
बृहस्पतिर्या अविन्दन्निगूळहाः सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्राः ।।11।। -ऋ. सं. 10.108

भावार्थ

1. पणिः- किस इच्छा से सरमा इधर आई ? कितना लम्बा यह रास्ता है ? सरमे, तुम्हारा हमारे पास क्या काम है? तुम रात्रि को कहां थी और रसा नदी को तैर कर इस और कैसे आ सकी ?
2. सरमाः- हे पणियों, मैं इंद्र की दूतो, इंद्र द्वारा भेजी गई है।
तुम्हारे बड़े-बड़े खजानों की इच्छा रखने वाली मैं सुरक्षित रूप से घूम रही हूँ। इसीलि, पानी को लांघकर (यहां तक) आने में मुझे डर नहीं लगता। अतः में रसा नदी को तैर कर आ गई ।
3. पाणिः - इतनी दूर से तुम जिसको दूती बनकर आई हो वह इंद्र कैसा है और उसकी दृष्टि कैसी है ? वह हमारे पास आवे और हमसे मित्रता करे । वह हमारे गोधन का मालिक बने ।
4. सरमाः- जिसकी दूती बनकर मैं यहां आई हूँ वह सबको मार सकता है, किंतु उसे कोई मार नहीं सकता । (रसा का) यह गहरा प्रवाह भो उसे निगल नहीं सकता। इंद्र के द्वारा मारे जाने पर तुम्हारी मृत्यु होगी ।
5. पणिः- हे सुभगे, स्वर्ग के इर्द गिर्द घूमने वाली तुम जिन गायों की इच्छा करती हो, उन्हें युद्ध किये बिना कौन भला छोड़ेगा? हमारे शस्त्र भी तीखे हैं।
6. सरमाः- तुम्हारी यह भाषा सेना के लिए प्रेरक न हो। तुम्हारे शरीर बाण छोड़ने में असमर्थ हों। क्योंकि वे पापी हैं। तुम्हारा मार्ग चलकर जाने के लिए अयोग्य सिद्ध हो। बृहस्पति तुम्हें सुख न दें।
7. पणिः- सरमे, गाय, बैल, घोड़े और धन से भरा हुआ यह खजाना पत्थर के बने हुए दुर्ग में है। अच्छे संरक्षक पणी उसकी रक्षा कर रहे है। शंका लेकर तुम यहां व्यर्थ आई हो।
8. सरमाः- पणियों, सोम पोकर नवग्व अंगिरस श्रयास्थ गायों को बांट लेंगे। तभी तुम अपनी जिद छोड़ दोगे।
9. पणिः- सरमे, तुम्हें देवताओं ने कष्ट दिया इसीलि, यदि तुम इधर बाई हो तो हम तुम्हें बहन मान लेते हैं। तुम लौटकर न जाओ। सुभगे, तुम्हारो गायों का बटवारा हमलोग आपस में कर लेंगे।
10. सरमाः- पणियों, मैं न तो बहन का नाता जानतो हूँ और न भाई का ही। यह नाता तो इंद्र एवं भयंकर अंगिरस जानते हैं। गायों को चाहने वाले मेरे इंद्रादि देवता तुम्हारे (शिबिर के) ऊपर हमला कर देंगे। (इसलिए) पणियों दूर भाग जाओ।
11. बृहस्पति, सोम, मेधावी ऋषि एवं सोम कूटने के पत्थरों को जिन गुप्त गायों का पता लगा, उन्हें अब प्रकृति-नियम के अनुसार मुक्ति मिले। पणियों, तुम कहीं दूर चले जाओ।''

ऋग्वेद में प्राप्त कुछ सम्बादों से हो प्राचीन कहानी को कल्पना की जा सकती है। बाख्यान-सूक्तों में प्राप्त संवाद प्राचीनतम वैदिक कथों के ही अंश हैं। फिर भी इस संवाद मात्र को पूरी कहानी नहीं कह सकते ।एक तथ्य अवश्य है। एक कृतिया मनुष्य के समान प्रौढ़ता से इंद्र को दूतो बन कार्य करे इसे महत्व है। इस प्रकार की घटना ऋग्वेद में इस सम्वाद में वर्णित है। हम देख चुके है

कि, नीतिकथा में पशु-पक्षी मनुष्यवत् व्यवहार करते हैं। उनकी उस गतिविधि से मनुष्य को क्रिया (Action) व्यक्त होती रहती है। वहीं तत्व (Element) इस सरमा-पणि-संबाद में पाया जाता है। किन्तु इस संवाद में सरमा को देवशुनी (Divinebitch) मानने पर ही नीतिकथा का प्राणि संबंधी पूर्व रूप देया जा सकता है। तो क्या वास्तव में सरमा देवशुनी थी ? ऋग्वेद में कहीं पर भी सरमा को कुतिया नहीं कहा गया। इस संवाद के अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्य छः मंत्रों में सरम का उल्लेख आ चुका है। किन्तु सरमा को इंद्रदूती ही कहा है, देवशुनी नहीं।

इन मंत्रों के भिन्न-भिन्न ऋषि और देवता है। इनसे भो सरमा को कहानी स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती है। इन मंत्रों में सरमा को कहीं पर भी देत्रधुनी नहीं कहा गया है।

शौनक ने बृहद्देवता में उसे ''इंद्र की दूती'' कहा है, वहाँ कुतिया के रूप में उसका उल्लेख नहीं है, प्रत्युत उसे ब्रह्मवादिनों में से एक माना है। किन्तु यास्क ने उसे स्पष्ट शब्दों में देवशुनी कहा है।शौनक को छोड़कर अन्य भाष्यकारों ने यास्क का ही अनुकरण किया है और उसे देवताश्रों की कुतिया माना है। सर्वानुक्रर्माण में भो उसे देवशुनो कहा है। सायण ने उसे देवशुनी कहा है और उसकी कहानी प्रस्तुत की है।

3.5.2 यम-यमी संवाद

यह संवाद ऋग्वेद के दसवें मण्डल के दसवें सूक्त में वर्णित है। विवस्वान् सूर्य की दो सहोदर सन्तानें- यम तथा यमी हैं। एक बार कामातुर यमी अपने भ्राता यम से कहती है- मैं इस निर्जन प्रदेश में तुम्हारा मिलन चाहती हूँ क्योंकि तुम गर्भावस्था से ही मेरे साथी रहे हो। विधाता को यही अभीष्ट है कि तुम्हारे द्वारा मेरी गर्भ से सन्तान उत्पन्न हो।

यम कहता है- यमी तुम्हारा भ्राता यम तुम्हारे साथ ऐसा सम्पर्क नहीं चाहता है तुम अगन्तव्या हो और यह स्थान निर्जन प्रदेश नहीं है क्योंकि प्रजापति के पुत्र सब देखते हैं।

यमी कहती है- ऐसा मैं मानती हूँ कि भगिनी तथा भ्राता का ऐसा संसर्ग मनुष्यों में त्याज्य है परन्तु देवता लोग इच्छा पूर्वक ऐसा संसर्ग ही करते हैं। अतः जैसा मैं कहती हूँ तुम वैसा ही करो। तुम मेरा पतिरूप् में ग्रहण करो।

यम उत्तर देता हुआ कहता है- हमस त्य वक्ता हैं, मिथ्या कभी नहीं बोलता हूँ। अन्तरिक्ष में रहने वाले सूर्य और सरण्यू हमारे माता-पिता है। हम सहोदर भ्राता-भगिनी हैं अतः हमें ऐसा नहीं करना चाहि,।

यमी कहती है- हमें प्रजापति ने गर्भावस्था में ही दम्पत्ति बना दिया है। प्रजापति के कर्म को कोई लुप्त नहीं कर सकता है। द्यावा पृथिवी हमारे इस सम्बन्ध को जानते हैं। हमारे सम्पर्क को कौन जानता है ? कौन देखता है ? अतः तुम मेरी अभिलाषा पूर्ण करो।

यम कहता है- हे दुःखदायिनी यमी देवों के जो गुप्तचर हैं, वे दिन-रात विचरण करते हैं। उनके नेत्र कभी बन्द नहीं होते हैं। तुम शीघ्र ही किसी अन्य व्यक्ति के पास चली जाओ तथा रथ के चक्के की भाँति किसी अन्य के साथ मिलकर रहो। दिन रात के कल्पित भाग को यजमान यम के लिये दें। सूर्य का तेज यम के लिये सदा प्रकाश करता रहे। यमी भ्राता यम को छोड़ कर अन्यत्र चली जाये।

यम यमी से कहते हैं- हे यमी भविष्य में ऐसा भी समय आयेग जब बहिनें भ्राताओं को पतिरूप में कामना करेंगी। तुम मुझे छोड़कर किसी अन्य को अपना पति बनाओ।

यमी कहती है- वह भाई बहन भी क्या हैं जिन के होते हुए दोनों दुःख दूर न हों। मैं काम पीड़ित हूँ। तू मेरा उपभोग कर।

यम कहता है- हे यमी! मैं तुम्हारा सम्पर्क नहीं चाहता हूँ, जो भाई बहन से ऐसा सम्पर्क करता है लोग उसे लोग पापी कहते हैं।

यमी कहती है- यम तुम मुझे नहीं चाहते हो कोई अन्य स्त्री तुम्हारा आलिंग्न वैसे अनायास ही करेगी जैसे रज्जू अश्व का तथा लता वृक्ष का आलिंग्न करती है।

अन्त में यम कहता है- यमी तुम भी अन्य पुरूष का वैसे ही आलिंग्न करो जैसे लता वृक्ष का आलिंग्न करती है। तुम उसी का मन हरण करो तथा वह भी तुम्हारा मन हरण करे। ऐसी अनुचित बात मुझसे न कहो। इसी में हमारा कल्याण है।

इस संवाद का संवादात्मक दृष्टि से अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि यह संवाद दो पात्रों- यम एवं यमी के मध्य में होता है। इस संवाद का विषय है- यमी का यम से पति बनने का आग्रह करना। यह संवाद यमी द्वारा प्रारम्भ होता है और यम द्वारा समाप्त होता है।

इस संवाद में दोनों पात्रों के विचार प्रारम्भ से लेकर अन्त पर्यन्त भिन्न-भिन्न रहते हैं। दूसरी ओर संवाद की सीमा में प्रारम्भ में भिन्नता होने पर अन्त में ऐक्य होना अनिवार्य है। अतः इस कथनोपकथन को संवाद न कहकर के विवाद कहा जा सकता है।

परन्तु यम के इस कथन से- यमी ऐसी अनुचित बात मुझे न कहो। इसी में हमारा कल्याण है। यमी मौन हो जाती है। यहाँ किसी प्रकार का विवाद लक्षित नहीं होता है। अनुचित कथन का खण्डन एवं सिद्धान्तानुकूल उचित कथन का ग्रहण ही लक्षित होता है। यह संवाद मत भिन्नता पर समाप्त होता है परन्तु सिद्धान्तानुकूल होने के कारण इसके संवाद कोटी में रखा जाता है क्योंकि संवाद कभी भी अमर्यादित व्यवहार को अनुमति नहीं देता है।

दूसरी ओर इसमें सिद्धान्त अनुकूल कथन करने वाले पात्र यम की विजय की इच्छा न होते हुए भी विजय होती है। अतः इसे न्यायदर्शन में वर्णित 'वाद' कोटी में मान्यता देते हु, संवाद स्वीकार किया जा सकता है।

3.5.3 यम-नचिकेता संवाद

कठोपनिषद् के द्वितीयवल्ली में यह संवाद वर्णित है। जब उद्यालयक ऋषि के पुत्र नचिकेता अपने पिता से विद्रोह करके यमराज के पास जाते हैं, तो यमराज के अनुपस्थिति में यमराज के घर तीन दिन और रात बिना खाये-पिये यमराज की प्रतीक्षा करते है, तब इस बात की सूचना यमराज के आने पर यमराज की पत्नी यह कहते हुए देती है कि जिसके घर में बिना भोजन किये हुए अतिथि निवास करता है, उस व्यक्ति की ज्ञात और अज्ञात वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छाएँ तथा समृद्धि के सुअवसर, सारे पुण्य, सन्तान तथा पशु सहित धन वैभव नष्ट हो जाता है। अपनी पत्नी के इस प्रकार की बातें सुनकर यमराज अपने अतिथि नचिकेता के पास जाकर वार्तालाप करते हैं, यह वार्तालाप अर्थात् संवाद भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। हम यहां यम नचिकेता संवाद का हिन्दी भार्वाथ आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं-

यमराज नचिकेता से कहते हैं- हे ब्रह्मन! नमस्कार के योग्य अतिथि होते हुए भी तुमने जो मेरे घर में तीन रात्रि तक बिना खाये-पिये निवास किया, तुम्हें नमस्कार। मेरा कल्याण हो। इसलि, एक-एक रात्रि के लिए एक-एक करके मुझसे तीन वर माँग लो।

नचिकेता: हे मृत्यो! जिस प्रकार मेर पिता गौतम मेरे प्रति शांतसंकल्प, प्रसन्नचित और क्रोधरहित हो जायें और आपके द्वारा विदा किये जाने पर मुझको पहचान कर बातचीत करें, मैं तीनों वरों में से पहला वर माँगता हूँ।

यम: मेरे द्वारा प्रेरित होकर अरूणपुत्र उद्दालक तुम्हें पहले की तरह पहचान लेंगे, रात्रियों में सुखपूर्वक सोयेंगे और क्रोधरहित हो जायेंगे, क्योंकि तुम्हें मृत्यु के मुख से मुक्त देखेंगे।

नचिकेता: स्वर्गलोक में कोई भय नहीं है। वहाँ मृत्यु भी नहीं हो। वहाँ कोई वृद्धावस्था से नहीं डरता है। वहाँ पुरूष भूख और प्यास दोनों को पार करके शोक से ऊपर उठकर आनन्दित होता है।

यम: मैं उस स्वर्ग के साधनभूत अग्नि को विधिवत् जानता हूँ। सम्प्रति मैं तुम्हें उसका उपदेश दे रहा हूँ। उस उपदेश को सावधान मन होकर सुनो। यह अग्नि अनन्त लोकों की प्राप्ति अर्थात् स्वर्गलोक रूप फल की प्राप्ति का साधन तथा विराट् रूप से जगत् की प्रतिष्ठा का आश्रय है। इस अग्नि को तुम विवेकी पुरूषों की बुद्धि में स्थित समझों। गुहा शब्द का प्रयोग ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थों में अनेक स्थान पर हुआ है।

नचिकेता: तब यमराज ने उन लोकों के आदिकारण अग्नि का और चयन करने में जो जितनी प्रकार ईंटें होती है उसके विषय में नचिकेता को विधिवत् उपदेश दिया। उसने भी यम के द्वारा दिये गये उपदेश को यथावत् कह सुनाया। तब यम उससे संतुष्ट होकर कहते हैं।

यम: प्रसन्न होते हु, यम ने नचिकेता से कहा- अब मैं तुम्हें यहाँ एक और वर देता हूँ। यह अग्नि तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगा और तुम इस अनेक रूपों वाली रत्नामयी माला को लो।

नचिकेता: नचिकेता अग्नि को तीन बार चयन करने वाला माता, पिता और आचार्य अथवा वेद, स्मृति और शिष्ट अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम अथवा ऋक्, यजुष् और साम इन तीनों से सम्बन्ध को प्राप्त करके यज्ञ, अध्ययन और दान इन तीन कर्मों को करने वाला जन्म और मृत्यु को पार कर जाता है। ब्रह्म से उत्पन्न सर्वज्ञ स्तुत्य अग्निदेव को शास्त्रानुसार जानकर अनुभव करके इस अत्यन्त शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

यम: जो त्रिणाचिकेत विद्वान् इन तीन ईंटो का स्वरूप, उनकी संख्या और चयनविधि को जानकर इस प्रकार शास्त्रोक्त रीति से नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, वह पूर्व ही मृत्यु के बन्धनों को काटकर, शोक से पार होकर स्वर्गलोक में आनन्दित होता है। हे नचिकेता! यह तुम्हें स्वर्ग देने वाली अग्नि है जिसे तुमने द्वितीय वर से माँगा था। लोक इस अग्नि को तुम्हारे ही नाम से पुकारेंगे। हे नचिकेता! तीसरा वर माँगो।

नचिकेता: मृत मनुष्य के विषय में जो यह सन्देह है- कुछ लोग यह आत्मा है ऐसा कहते है और कुछ लोग यह आत्मा नहीं है, ऐसा कहते है। तुम्हारे द्वारा उपदिष्ट मैं आत्मतत्व को जान लूँ। यह वरों में से तीसरा वर है।

यम: प्राचीन काल में देवताओं ने भी इस विषय में सन्देह किया था। निश्चय ही यह धर्म आत्मज्ञान का विषय सूक्ष्म है, अत एव सरलता से जानने योग्य नही है। हे नचिकेता! दूसरा वर माँग लो। मुझे उपरूद्ध मत करो अर्थात् मुझे विवश मत करो। इस वर को मेरे लिये छोड़ दो अथवा इसे यहीं छोड़ दो, अब और आगे मत बढ़ाओ। आत्मविषयक वर के समान यदि अन्य कोई वर समझते हो तो उसे तुम माँग लो। धन और स्थायी जीविका माँग लो। हे नचिकेता! तुम इस विस्तृत पृथ्वी पर वृद्धि प्राप्त करो। मैं तुम्हें कामनाओं का इच्छानुसार भोगने वाला बना देता हूँ।

नचिकेता: हे महाराज! ये क्षणिक भोग मनुष्य की सभी इन्द्रियों के तेज को जीर्ण कर देते हैं। सम्पूर्ण जीवन भी थोड़ा ही है अत,व वाहन आपके ही पास रहे और नाचगाना भी आपका ही रहे अर्थात् ये सब मुझे नहीं चाहि,। मनुष्य धन से तृप्त नहीं किया जा सकता। यदि आपको देख लिया है तो धन को हम प्राप्त कर लेंगे। जब तक आप शासन करेंगे, हम जीवित रहेंगे। मेरा प्रार्थनीय वर तो वही है। नचिकेता निवेदन करते हैं कि जराग्रस्त न होने वाले अर्थात् वृद्धावस्थारहित अमरों के समीप पहुँचकर नीचे पृथ्वीलोक में रहने वाला कौन वृद्ध विवेकी मनुष्य होगा जो स्वर्ण सौन्दर्यादि के राग से होने वाले सुखों को अनित्य रूप में देखता हुआ भी अतिदीर्घ जीवन में रमण करेगा। हे यमराज! जिस महान् परलोक के विषय में लोग यह शंका करते हैं कि शरीर त्याग के पश्चात् आत्मा रहता है या नहीं, उस विषय में हमें यथार्थ बतलाइये। जो यह गहनता में अनुप्रविष्ट रहस्यात्मक वर है, इससे अन्य वर नचिकेता नहीं माँगता।

3.5.4 व्याघ्र-गोमायु संवाद

महाभारत के राजधर्म पर्व में यह संवाद वर्णित है। व्याघ्र और सियार के इस संवाद में राजधर्म पर्व की नीतिकथा है। इसमें दिखाया गया है कि राजा के पास रहने वाले लोगों का स्वभाव किस प्रकार का होता है।

महाराज युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा, 'कई लोग सौम्य दिखाई देते है, किन्तु वास्तव में वे सौम्य नहीं होते। कई सच्चे सौम्य व्यक्ति क्रूर दिखाई देते हैं। इसलिए, पितामह, मुझे बताइये कि आदमी को कैसे पहचानना चाहिए।

इस पर भीष्म ने व्याघ्र एवं सियार का एक दृष्टान्त सुनाया है। कहानी संक्षेप में इस प्रकार है:- पौरिक नामक राजा को क्रूर कर्म के कारण दुर्गति प्राप्त हुई और दूसरे जन्म में वह सियार पैदा हुआ। उसे पूर्व जन्म के ऐश्वर्य का स्मरण हो जाता था और खेद के कारण किसी प्राणि की हिंसा न करता था। वह सत्यभाषी, स्मशान-वासी ,वं फलभक्षी बन गया था। अन्य जानवरों ने उसे समझाया कि जिस कुल में तुम पैदा हु, हो वह मांसभक्षी का कुल है। तुम्हें हमारे जैसा ही आचरण करना चाहि,। सियार ने शान्त भाव से कहा, 'आचरण को देखकर ही कुछ निर्धारित होता है। जिससे कीर्ति बढ़ेगी वही कर्म मुझे करना है। धर्म के लिये आश्रम कारण नही है। स्वभाव के अनुसार ही धर्मक्रिया सम्पन्न होती है। तुम लोग स्वयं ,वं मोह में आसक्त हो। तुम्हें उनके परिणाम की कोई कल्पना नहीं। मुझे इह लोक एवं परलोक में जो श्रेयस्कर होगा उसी का आचरण करने की इच्छा है।

उसके इस विशुद्धाचरण एवं पांडित्य को देखकर पराक्रमशील व्याघ्र ने उसे मंत्री नियुक्त किया। व्याघ्र ने उसे अपने पास रहने और अभीष्ट वस्तु ग्रहण करने को कहा। व्याघ्र ने कहा, 'मैं कड़े स्वभाव का अवश्य हूँ किन्तु सरल स्वभाव से व्यवहार कर मुझसे तुम लाभ उठा सकोगे।'

सियार ने कहा, 'मृगराज, मेरे बारे में आपने जो कुछ कहा वह आपको उचित दिखाई देता है। धर्म और अर्थमें निपुण तथा पवित्र चरित्र के मंत्री की खोज में आप हो। अमात्य के बिना रजा की क्या सुरक्ष? अमात्य भी दुष्ट ,वं अत्याचारी होगा तो सुरक्षा असंभव है। आपसे प्रेम करने वाले, नीति के जानकरार, सहयोग करने वाले, जिनके आपस में आप्तसंबंध न हो, शत्रु को जीतने की इच्छा रखने वाले, लोभ न रखने वाले तथा अनेक गुणों से युक्त व्यक्ति को अमात्य बनाकर सम्मानित कीजि,। महाराज, सन्तोष मुझे अच्छा लगता है। धन सम्पत्ति की मुझे आवश्यकता नही। मेरा स्वभाव अन्य सहयोगियों से मेल नही खायेगा। वे लोग नहीं चाहेंगे कि मैं आपका मंत्री

बना रहूं। मैं युद्ध आचरण से चलने वाला हूँ, मैंने कभी सेवा नहीं की। लोग राजा के साथ रहने वालों की बुराई राजा के पास जाकर किया करते है। किन्तु स्वतन्त्र रहने वाले लोग निर्भय होते है। राजा जिसे बुलाता है वह डर जाता है। किन्तु यह डर अरण्य में फल-मूल खाकर रहने वाले प्राणी में नही होता। वही सच्ची शान्ति है। अपराधियों की अपेक्षा राजा के सेवकों की ही अधिक मृत्यु हुई है। इसलि, यह निश्चय कर लो कि मेरे लोगों का सम्मान हो, मेरी सलाह आपकी ग्राह्य होगी। मैं अन्य अमात्यों से मंत्रणा नहीं करूंगा। अपने जातिबांधव के विषय में मुझे न पूछो। अमात्यों को पीड़ा न हो और मेरे जो लोग होंगे उन्हे क्रोध में आकर सजा न दी जावे।

व्याघ्र ने यह सब मंजूर कर लिया, तब सियार अमात्य हुआ। यह देख अन्य अमात्य इस पर जलने लगे। वे चाहने लगे कि यह सियार भी उनके ही जैसा दुष्ट व्यवहार करे। अब उन्हें पूर्ववत् स्वतंत्रता नहीं रही थी। कुछ प्राणियों ने एक षड्यन्त्र रचा। व्याघ्र को मांस प्रिय था। उसे उन्होंने सियार के घर में लाकर रख दिया। सियार सब समझ रहा था, किन्तु उसने सब सह लिया। क्योंकि व्याघ्र के वचन का उसे स्मरण था। जब व्याघ्र को भूख लगी तब उसे इच्छित मांस नही मिला। उसके पूछने पर धूर्त प्राणियों ने उसे कहा, अपने आपको सदाचारी समझने वाले मंत्री सियार ने ही वह मांस चुराया है। यह सुनते ही व्याघ्र क्रोध से लाल पड़ गया। प्राणियों ने मंत्री सियार की काफी निंदा की और व्याघ्र का ले जाकर सियार के घर पर पड़ा मांस दिखला दिया। क्रोध मे आकर व्याघ्र ने उसका वध करने का आदेश दिया।

इस पर व्याघ्र की माता ने उसे समझाया कि यह सब षड्यन्त्र है। बुरे लोग अच्छे लोगों का द्वेष करते हैं। मंत्री सियार निर्दोष है। इसके बाद सियार के शत्रु-समुदाय में से एक व्यक्ति आगे आया और उसने उस षड्यंत्र की जानकारी दे दी। तब व्याघ्र ने सियार को गले लगा लिया और प्राणदण्ड से मुक्त कर दिया।

इस अपमान से दुखी होकर सियार ने अनशन करना चाहा। व्याघ्र ने उसका सम्मान किया और अनशन न करने की प्रार्थना की। तब सियार ने उसे उपदेश दिया और कहा, मुझे अब आपके पास नही रहना चाहि,। उसने धर्म, अर्थ और काम से युक्त भाषण किया और वह अरण्य में चला गया। व्याघ्र के अनुरोध की ध्यान न देकर उस बुद्धिमान सियार ने अनशन किया और वह स्वर्ग पहुंच गया।

सियार और व्याघ्र की मूलकथा लोगों में प्रचलित रही होगी। मूल कथा के अनुसार बुद्धिमान एवं निर्दोष सियार को कपट से उसके साथियों ने मौत के घाट उतारा होगा। किन्तु यहां सियार पूर्व जन्म में राजा था। इस जन्म में वह सियार होते हुए भी सदाचरणों और अमांसभक्षी है। संतोष उसके मन में है। बौद्धों ने सियारों को कपटी और लोभी बतलाया है और पंचतंत्र में भी सियार का स्वभाव धूर्त, स्वार्थ-परायण और धोखेबाज दिखाया गया है। किन्तु व्याघ्र और सियार की इस कथा में सियार का आचरण सदाचरणों ऋषि कान्सा है। स्पष्ट है कि सदाचरण और त्याग का महत्व बढ़ाने के लिये सियार के उदात्त चरित्र को ब्राह्मणों ने प्रस्तुत किया है।

इसलिए यह नीतिकथा स्वाभाविक नहीं लगती। व्याघ्र और सियार के स्वभाव में कुछ कृत्रिमता का आभास हमें होताहै। बीच बीच में सियार के मुख से उच्च गुणों का आदर्शवाद व्यक्त हो रहा है। व्याघ्र से अपमानित होने पर उसने अपना देहत्याग कर दिया। इसमें सियार की परम्परागत चतुरता एवं नीतिनिपुणता की अपेक्षा, उसके शान्त दान्त स्वभाव का ही परिचय हमें अधिक मिलता है। असत्य, हिंसा, स्तेय तथा छल कपट से दूर रहने वाला सियार अन्त में तपस्वी की तरह अपना देहत्याग करता है। य़ा़पि वह नीतिशास्त्र का ज्ञाता है, फिर भी कपटी के

साथ कपट करने की बुद्धि उसे नही होती। शठं प्रति शाठयम् यह नीतिवाक्य उसे सम्मत नहीं है। इस अर्थ में, वह बौद्ध विचारों से प्रभावित है। पूर्वजन्म के कर्म के कारण दूसरे जन्म में उसे सियार का जन्म प्राप्त हुआ। इस घटना के पीछे जातक का प्रभाव परिलक्षित होता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म होने पर उसका संस्कार आदि तत्व इस श्रृगालकथा में भी दिखाई देता है। क्षुद्र प्राणी होते हुए भी उसका चरित्र उदात्त दिखाने का जो भरसक प्रयास किया गया है। वह भी संभवतः जातकीय नीतिकथा के प्रभाव से। क्योंकि बन्दर आदि क्षुद्र प्राणियों में जन्म लेकर भी बोधिसत्व परोपकार दया, क्षान्ति, अहिंसा आदि गुणों के आदर्श का परिपालन करते हुए दिखाई देते हैं। यहां भी सियार होते हुए भी वह फल-मूल भक्षी है अमात्य है किन्तु धूर्त नहीं है, अतः बौद्ध नीतिकथा से यह सियार की कथा बहुत काफी समानता रखती है। किन्तु यह प्रभाव अनजाने ही इस कथा पर पड़ा होगा। ब्राह्मणों ने उस नीतिकथा को अपनाया होगा जो पहले ही बौद्ध प्रभाव से जनता का लोकप्रिय हो चुकी हो।

महाभारत में अन्यत्र सियार धूर्त एवं कपटी बनकर विचरण कर रहे है। किन्तु इसी कथा में वह उदात्त चरित्र का तपस्वी है। इससे स्पष्ट है कि लोककथा से मूल रूप में यह कथा महाभारत में नहीं आ सकी। संभव है, नीतिशास्त्र के प्रतिपादन के लिये किसी आचार्य ने ही इस प्रकार की कहानी गढ़ ली जो महाभारत में प्रवेश कर गयी है।

3.5.5 याज्ञवल्क्य मैत्रयी संवाद

याज्ञवल्क्यमैत्रयी संवाद बृहदारण्यकोपनिषद् के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में वर्णित है। यह संवाद एक पति द्वारा अपने पत्नी को धन सम्पत्ति देने के अपील के समय हुई वार्तालाप पर आधारित है।

याज्ञवल्क्य: ‘अरी मैत्रेयी‘! मैं इस स्थान गार्हस्थ्य आश्रम से ऊपर जाने वाला हूँ। अतः तेरी अनुमति लेता हूँ और चाहता हॅू इस कात्यायनी के साथ तेरा बँटवारा कर दूँ।

मैत्रेयी: ‘भगवन्! यदि यह धन से सम्पन्न सारी पृथिवी मेरी हो जाय जो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमर हो सकती हूँ ?‘

याज्ञवल्क्य: नहीं, भोग सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन हो जायेगा। धन से अमृतत्व की तो आशा है नहीं।

मैत्रेयी: जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी? श्रीमान् जो कुछ अमृतत्व का साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें।

याज्ञवल्क्य: धन्य! अरी मैत्रेयी, तू पहले भी हमारी प्रिया रही है और इस समय भी प्रिय लगने वाली ही बात कह रही है। अच्छा आ, बैठ जा, मैं तेरे प्रति उसकी व्याख्या करूँगा, तू व्याख्यान किये हुए मेरे वाक्यों के अर्थ का चिन्तन करना।

अरी मैत्रेयी! यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन के लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये पति प्रिय होता है, स्त्री के प्रयोजन के लिये स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री प्रिया होती है, पुत्रों के प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय होते हैं, धन के प्रयोजन के लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लये धन प्रिय होता है, ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय होता है, क्षत्रिय के प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय होता है, लोकों के प्रयोजन के लिये लोक प्रयि नहीं होते अपने ही प्रयोजन के लिये

लोक प्रिय होते है, देवताओं के प्रयोजन के लिये देवता प्रिय नहीं होते, अपने की प्रयोजन के लिये देवता प्रिय होते है। प्राणियों के प्रयोजन के लिये प्राणी प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये प्राणी प्रिय होते है तथा सबके प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं, अरी मैत्रेयि! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयि! इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से इस सबका ज्ञान हो जाता है।

ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है जो ब्राह्मण जाति को आत्मा से भिन्न जानता है। क्षत्रिय जाति उसे परास्त कर देती है जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से भिन्न देखता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं जो लोकों से आत्मा से भिन्न देखता है। देवगण उसे परास्त कर देते हैं जो देवताओं को आत्मा से भिन्न देखता है। भूतगण उसे परास्त कर देते हैं जो भूतों को आत्मा से भिन्न देखता है। सभी उसे परास्त कर देते हैं जो सबको आत्मा से भिन्न देखता है। यह ब्राह्मण जाति, यह क्षत्रिय जाति, ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और ये सब जो कुछ भी है, यह सब आत्मा ही है। वह दृष्टान्त ऐसा है कि जिस प्रकार ताडन किये जाते हुए दुन्दुभि के बाह्य शब्दों को कोई ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु दुन्दुभि या दुन्दुभि क आघात को ग्रहण करने से उसका शब्द भी ग्रहण कर लिया जाता है। वह दूसरा दृष्टान्त ऐसा है- जैसे कोई बजाये जाते हु, शङ्ख के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता, किन्तु शङ्ख के अथवा शङ्,स के बजाने को ग्रहण करने से उस शब्द का भी ग्रहण हो जाता है। वह तीसरा दृष्टान्त ऐसा है- जैसे कोई बजायी जाती हुई वीणा के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता, किन्तु वीणा या वीणा के स्वर का ग्रहण होने पर उस शब्द का भी ग्रहण हो जाता है।

वह चौथा दृष्टान्त ऐसा है- जिस प्रकार ईंधन गीला है, ऐसे आधान किये हुए अग्नि से पृथक् धूआँ निकलता है, हे मैत्रेयि! इसी प्रकार ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं, वे इस महद्भूत के ही निःश्वास हैं।

वह दृष्टान्त- जिस प्रकार समस्त जलों का समुद्र एक अयन है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शों का त्वचा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त गन्धों का दोनों नासिकाएँ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रसों का जिह्वा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रूपों का चक्षु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त शब्दों का श्रोत्र एक अयन है, इसी प्रकार समस्त संकल्पों का मन एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विद्याओं का हृदय एक अयन है, इसी प्रकार समस्त कर्मों का हस्त एक अयन है, इसी प्रकार समस्त आनन्दों का उपस्थ एक अयन है और इसी प्रकार समस्त विसर्गों का पायु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त मार्गों का चरण एक अयन है और इसी प्रकार समस्त वेदों का वाक् एक अयन है।

3.6 सारांश

अभी तक आपने कुछ चुने हुए संवादों को पढ़ा। वैदिक साहित्य में संवादों के उपलब्ध होने से यह स्पष्ट होता है कि भारत में संवाद की परम्परा प्राचीन है और हमारे ऋषियों, तत्वेत्ताओं ने विषयों की स्पष्टता हेतु संवाद का ही आश्रय लिया है। कोई ज्ञाता है या श्रेष्ठ है। मात्र इसी आधार पर ज्ञान का सम्प्रेषण नहीं होता था। ज्ञान की प्राप्ति के लिये और उसपर सहमति के लिये आपस में संवाद की प्रक्रिया अपनायी जाती थी।

संवाद का उद्देश्य लोकतांत्रिक तरीके से ज्ञान का विस्तार करना है। इसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और आत्मिक उन्नति का विकास है। यह उन्नति तभी सम्भव है जब पात्र संवाद के नियमों एवं सीमाओं का पालन करें। संवाद के लिए अनिवार्य सीमाएँ हैं- उदारता, जिज्ञासा, विश्वास, सम्मान सहनशीलता, पक्षपात हीनता, पहचान तथा अस्तित्व, सहयोग, मैत्रीभाव, शिष्टता सम्बन्ध, संवादात्मक उत्तरादायित्व, भाषा साम्य, विषय का ज्ञान एवं अकृत्रिमता है।

आपने जिन महत्त्वपूर्ण संवादों को पढा हैं। इन संवादों में दो व्यक्तियों, पात्रों, पक्षों, के मध्य किसी जिज्ञासा को लेकर एक बौद्धिक क्रियाकलाप है। संवाद सहानुभूतिपूर्ण परिवेश में दो पक्षकारों के मध्य ज्ञान-विनिमय का एक प्रक्रम है। भारतीय साहित्य तथा संस्थाओं के इतिहास संवादों से भरे पड़े हैं। ऋग्वेद से ही संवादों का प्राप्त होना प्रारम्भ होता है तथा उपनिषद्, महाकाव्य, पुराण एवं अन्य साहित्य में हमें प्राप्त होते हैं। संवाद के प्रमुख रूप से तीन विषय होते हैं। साधारण जिज्ञासा, विशेष जिज्ञासा तथा पूर्वाग्रहपूर्वक जिज्ञासा। उपलब्ध संवादों का अध्ययन करने पर हमें प्रमुख रूप से देवताओं के मध्य पारस्परिक संवाद देवता तथा स्त्रोतागणों के मध्य संवाद देवों और मनुष्यों के मध्य संवाद, देवता-मनुष्यों तथा पशुओं के मध्य संवाद आचार्य तथा शिष्यों के मध्य संवाद आदि प्राप्त होते है। इन सभी संवादों में हमें किसी विशेष विषय पर विचार विमर्श प्राप्त होता है। यह विमर्श, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक अथवा आर्थिक किसी भी विषय पर होता है। कुछ संवाद प्रत्यक्ष रूप से परोक्ष है तथ्ज्ञा आहिक अभिनय द्वारा संवाद प्राप्त है। संवाद में जिज्ञासा, संवाद के प्रति उत्तरदायित्व, भाषाज्ञान, सहानुभूति प्रमुख तत्त्व है। सरमा-पाणि संवाद से हमें अज्ञात वस्तु के खोज की विधि का ज्ञान प्राप्त होता है। साथ ही यह भी ज्ञात होता है क दूत के क्या गुण होने चाहिए। यम-यमी संवाद एक पक्ष के कामातुर होने पर दूसरे पक्ष द्वारा मर्यादा पालन पर आधारित है। यह संवाद किसी भी स्थिति में अमर्यादित व्यवहार की अनुमति नहीं देता। यम-नचिकेता संवाद एक साथ ही सामाजिक उत्तरदायित्व तथा आध्यात्मिक उपलब्धि की प्राप्ति के प्रति दृढ़ता का सन्देश देता है। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद एक दम्पत्ति के मध्य संवाद है जिससे हमें यह ज्ञात होता है कि पति-पत्नी का सम्बन्ध लौकिक होते हुए भी परलौलिक उपलब्धि को प्राप्त करने के लिये ही विकसित होता है।

3.7 पारिभाशिक षब्दावली

सन्दर्भ : वैदिक साहित्य मे संवाद : सैद्धांतिक एवं प्रायोगिक विश्लेषण, डा. उषा किरण नाग पब्लिशर्स 2005

वैदिक आख्यान : डा. गंगासागर राय, चौतरफा,वाराणासी 2017

3.8 सन्दर्भग्रन्थ

1. कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय, डॉ. राजदेव मिश्र तथा डॉ. शिवबालक द्विवेदी, घनश्याम दास एण्ड सन्स, चौक, फैजाबाद।

2. बृहदारण्यकोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर।

3. संस्कृत साहित्य में नीतिकथा का उद्गम एवं विकास, डॉ. प्रभाकर नारायण कवठेकर, चौखम्बा प्रकाशन, दिल्ली।

4. वैदिक साहित्य में संवाद : सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक विश्लेषण, डॉ. उषा किरण, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली।

5. वैदिक साहित्य में संवाद : सैद्धांतिक एवं प्रायोगिक विश्लेषण, डॉ. उषा किरण नाग पब्लिशर्स 2005

6. वैदिक आख्यानरू डा गंगासागर राय, चौतरफा, वाराणसी2017

3.9 बोध प्रष्न

1. वैदिक संवादों के वैशिष्ट्य की विवेचना कीजिए।

2. यम-यमी संवाद को अपने शब्दों में लिखिए।

3. यम-नचिकेता संवाद में निहित सांस्कृतिक तत्त्व पर प्रकाश डालिए।

4. वैदिक संवादों में निहित नीतिपरक ज्ञान पर प्रकाश डालिए।

5. याज्ञवल्क्य मैत्रयी संवाद को स्त्री गरिमा और स्त्री स्वातन्त्रय को सशक्त उदाहरण के रूप में विवेचित कीजिए।

खण्ड- पांच (Section-E)
ग्रन्थ निर्माण विधि

इकाई. 1 अनुबन्ध चतुष्टय

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 अनुबन्ध चतुष्टय का अर्थ

1.4 अनुबन्ध चतुष्टय का सिद्धान्त एवं प्रकार

1.4.1 वेदान्तसार के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय

1.4.2 भक्तमाल के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय

1.4.3 गीता के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय

1.5 सारांश

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

1.7 सन्दर्भग्रन्थ

1.8 बोधप्रश्न

1.1 प्रस्तावना

किसी भी शास्त्र में प्रवेश से पहले उस के विषय में अच्छी तरह से जानना चाहिए। ग्रन्थ के विषय प्रयोजन आदि के निरूपण के लिए ग्रन्थ के प्रारम्भ में अनुबन्ध् चतुष्टय का निरूपण किया जाता है। जिस प्रकार आस्तिक लोग ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हैं उसी प्रकार वहाँ अनुबन्धें का भी उल्लेख करना चाहिए। अनुबन्धों से यह ज्ञान होता है यह शास्त्र किस पाठक के लिए उपयुक्त है अर्थात् इस शास्त्र को पढ़ने के लिए कौन सा पाठक योग्य है ? शास्त्र का विषय क्या है ? शास्त्र के साथ विषय का कौन सा सम्बन्ध् है? इस शास्त्र के अध्ययन से क्या लाभ है? फलतः कहा जा सकता है कि अनुबन्ध वाचक होते हैं। शास्त्रों के भेद से अनुबन्धों के वाच्यों में भी परिवर्तन आते हैं। इस पाठ में वेदान्त शास्त्रों के अनुबन्धें का विचार किया जा रहा है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- अनुबन्ध चतुष्टय क्या है यह जान पाने में समर्थ हो सकेंगे।
- वेदान्त क्या है इसको समझ सकेंगे।
- वेदान्त में कहे गए प्रयोजन के लाभ को प्राप्त करने के लिए अधिकारी बनने के लिए प्रयुक्त हो सकेंगे।
- वेदान्तसार में वर्णित अनुबंधचतुष्टय की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- वेदांत पढ़ने का अधिकारी कौन एवं शास्त्र पढ़ने का प्रयोजन क्या हैए जान सकेंगे
- वेदान्तसार में वर्णित साधनचतुष्टय की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- वेदांत का हमारे जीवन में उपयोग एजान सकेगें
- वेदान्त दर्शन में ज्ञान की अवधारणा को जान सकेंगे
- भारतीय दार्शनिक परम्परा से भी आप परिचित हो सकेंगे।
- संस्कृत ग्रन्थों की रचना करने की प्रक्रिया से भी आप परिचित हो सकेंगे तथा ग्रन्थ के आरम्भ में इन चार के प्रतिपादन का औचित्य तथा संगति क्या है इससे भी परिचित हो सकेंगे।

1.3 अनुबन्ध चतुष्टय का अर्थ

भारतीय परम्परा के अनुसार ग्रन्थों के प्रारम्भ में अधिकारी, सम्बन्ध, विषय तथा प्रयोजन का प्रतिपादन किया जाता है। जो अपने ज्ञान से अन्य को बांधकर ग्रन्थ अथवा शास्त्र में प्रवृत्त करते हैं उन्हें अनुबन्ध चतुष्टय कहते हैं। अतः अनुबन्धों के ज्ञान के बाद ही किसी शास्त्र में पुरूष की प्रवृत्ति संभव है। यदि शास्त्र के आदि में अनुबन्धों को उल्लेख नहीं होता है तो शास्त्र पढ़ने में पाठक की प्रवृत्ति नहीं होती है। अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन ये चार अनुबन्ध है, इन्हें ही ''अनुबन्ध् चतुष्टय'' कहा जाता है। ''अनु स्वज्ञानात् अनन्तर बध्नन्ति शास्त्रो ग्रन्थे वा आसज्जन्ति प्रवर्तयन्ति ये ते अनुबन्ध'' यह अनुबन्ध शब्द की व्युत्पत्ति है जिसका तात्पर्य है कि जो अपने ज्ञान से अन्य को बांध कर ग्रन्थ अथवा शास्त्र में प्रवृत्त करते हैं उन्हें अनुबन्ध कहते हैं। अत एव अनुबन्ध के ज्ञान के बाद ही किसी शास्त्र में पुरूष की प्रवृत्ति

सम्भव है। यदि शास्त्र के आदि में अनुबन्ध का उल्लेख नहीं होता है तो ''शास्त्र पढ़ने में पाठक की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसीलिए कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्तिक में कहा है—

''ज्ञातार्थ ज्ञातसम्बन्धं श्रोतु श्रोता प्रवर्तते। ग्रन्थादौ तेन वक्तव्य सम्बन्ध् सप्रयोजनः।।''1/1/17

श्रोता, ज्ञाता, अर्थ, सम्बन्ध का ज्ञान करके ही शास्त्र में प्रवृत्त होता है। अतः शास्त्र के प्रारम्भ में सम्बन्धदि का उल्लेख अवश्य ही करना चाहिए। यह श्लौकार्थ है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन इन अनुबन्धों के क्रम में विषय में भी कोई नियम है क्या। तब कहा जाता है कि शास्त्र के ज्ञाता के बिना शास्त्र में प्रवृत्ति सम्भव नहीं है, अतः अधिकारी का उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिए। यद्यपि अधिकारी की उपस्थिति हो गयी है परन्तु विषय ज्ञान से हीन अधिकारी की शास्त्र में प्रवृत्ति सम्भव नहीं है इसलिए दूसरे क्रम में विषय का उल्लेख करना चाहिए। विषय के साथ शास्त्र अथवा व्यक्ति के सम्बन्ध् का ज्ञान आवश्यक है इसलिए तृतीयस्थान में सम्बन्ध का उल्लेख किया जाता है। प्रयोजन की स्थिति हमेशा अन्तिम होती है। इसलिए चौथे नम्बर में प्रयोजन का उल्लेख है। इस पाठ में अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन के विषय में विवेचन तथा प्रतिपादन किया जा रहा है।

1.4 अनुबन्ध चतुष्टय का सिद्धान्त एवं प्रकार

अनुबन्ध चतुष्टय–

अनुबध्यते अनेन इति अन्बुन्धः अर्थात् जिसके द्वारा ग्रन्थ शुरू से लेकर अंत तक बंधा रहता है ,उसे अनुबंध कहते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार ग्रन्थों के प्रारम्भ में अधिकारी, सम्बन्ध, विषय तथा प्रयोजन का प्रतिपादन किया जाता है। अनुबन्ध चतुष्टय का क्या औचित्य है ? अनुबन्ध चतुष्टय का प्रतिपादन आवश्यक भी है या नहीं ? उक्त के विषय में अब हम विस्तार से जानेंगे। अध्ययन योग्य कार्य की अपरिहार्य आवश्यकताएँ चार हैं और सामूहिक रूप से अनुबन्ध चतुष्टय कहलाती हैं। वे हैं: – 1. अधिकारी, 2. विषय, 3. प्रयोजन, 4. सम्बन्ध

1. अधिकारी - अधिकारी यहां वह है जो मोक्ष के चार साधनों से संपन्न है। यानी, साधना चतुष्टय, अर्थात् विवेक, वैराग्य, शद-संपत और मुमुक्षुत्व, जिसने निष्काम कर्म योग द्वारा मान और उपासना द्वारा विक्षेप को दूर कर दिया है, जिसके पास चित्त शुद्धि और एक बिंदु है मन और जो युक्ति (कारण), समर्थ (क्षमता) और बुद्धि (तेज बुद्धि) से संपन्न है। अधिकारी दो प्रकार के होते हैं, अर्थात् कृतोपासक और अकृतोपासक। जिसने पूर्ण सगुण उपासना की है और जो पूर्ण एकाग्र मन से संपन्न है, वह कृतोपासक है। वह शास्त्रों में वर्णित सभी साधनाओं से सुसज्जित होगा। जिसने सगुण ब्रह्म की अपूर्ण उपासना की है वह अकृतोपासक है। उसके मन की एकाग्रता केवल आंशिक होती है। वह केवल कुछ ही साधनाओं से सुसज्जित है। उनके पास विपरीत-भावना है, हालांकि वेदांतिक साहित्य के अध्ययन से उन्हें ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त है।

2. विषय - निपटाया जाने वाला विषय। वेदांत में यह ब्रह्म है।

3.प्रयोजना - इसका अध्ययन करने से प्राप्त होने वाला लाभ। यहीं मोक्ष है. यह दो प्रकार का होता है, परम-प्रयोजन और अवन्तर-प्रयोजन। परम-प्रयोजन मोक्ष है जिसका स्वरूप सभी प्रकार के दुखों (सर्व दुख निवृत्ति) का पूर्ण उन्मूलन और सर्वोच्च आनंद (परमानंद प्राप्ति) की प्राप्ति है। दुःख का पूर्ण निवारण ही अत्यन्त-निवृत्ति है। अनर्थ का अर्थ है दुष्ट। अविद्या और उसका प्रभाव, स्थूल और सूक्ष्म लोक और तीन शरीर, अर्थात् कारण, सूक्ष्म और स्थूल और अन्य धर्म या

लक्षण, अर्थात्, जन्म और मृत्यु, दुख के कारण हैं। अतः वे अनर्थ हैं। अवन्तर-प्रयोजन परम-प्रयोजन की प्राप्ति का प्रत्यक्ष साधन (साक्षात साधना) है। यह द्रिधा-अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान (ब्रह्म का स्थिर प्रत्यक्ष ज्ञान या जीव और ब्रह्म की पहचान का एहसास) है। परम-प्रयोजन या केले से प्राप्त होने वाला सर्वोच्च लाभ इसका फल है। फल प्राप्त होने से पहले बीच में जो प्राप्त होता है, वह केले का पत्ता है। यह अवतार-प्रयोजन है।

4. संबंध - समग्र रूप से कार्य और निपटाए गए विषय के बीच संबंध। यहाँ यह प्रदर्शनी है. चार महत्वपूर्ण संबंध हैं: प्रतिभाटक-प्रतिबंध्य भाव संबंध, जनक-जन्य भाव संबंध, कर्तृ-कर्तव्य भाव संबंध और प्रभाग-प्राप्य भाव संबंध।

प्रतिभाटक-प्रतिबंध्य भाव संबंध- कार्य और विषय के बीच का संबंध प्रतिभाटक-प्रतिभाध्य भाव संबंध है। कथन प्रतिभाकम् है। जो बताया गया है वह प्रतिभाध्यम् है। ग्रंथ प्रतिभटकम् है। जिस विषय का उपचार किया जाता है वह प्रतिभाध्यम् है।

जनक-जन्य भाव संबंध- ग्रंथ और ज्ञान के बीच का संबंध जनक-जनीय भाव संबंध है। जो उत्पन्न करता है वह जन्नियम है, ग्रंथ जनकम है क्योंकि यह विचार (पूछताछ) के माध्यम से ज्ञान उत्पन्न करता है, ज्ञान जन्नियम है, क्योंकि यह विचार के माध्यम से उत्पन्न होता है।

कर्तृ-कर्तव्य भाव संबंध- अधिकारी या योग्य व्यक्ति और विषय के बीच का संबंध कर्तृ-कर्तव्य भाव संबंध है। जो अभिनय करता है वह कर्तृ (अभिनेता) है। जो किया जाता है वह कर्तव्य है। वह अधिकारी जो विचार करता है वह कर्ता है। विचारै कर्त्तव्य।

प्रभाग-प्राप्य भाव संबंध- अधिकारी और फल के बीच का संबंध प्रभाग-प्राप्य भाव संबंध है। जो फल प्राप्त करता है वह प्रभाग है। जो प्राप्त होता है वह प्राप्य है।

1.4.1 वेदान्तसार के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय—

अनुबन्ध चतुष्टय क्या हैं…सुसंबद्ध तथा विचार करने योग्य तत्वों को अनुबन्ध कहते हैं। जब भी कोई ग्रन्थ लिखा या पढ़ा जाता है तो यह विचार उठता है किइस ग्रन्थ को पढ़ने का अधिकारी कौन है? इस ग्रन्थ द्वारा प्रतिपाद्य विषय क्या है? विषय और उस शास्त्र में संबन्ध क्या है? तथा उस शास्त्र का प्रयोजन क्या है।

कोश ग्रंथ वाचस्पत्यम् में अनुबंध चतुष्टय -

ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।

शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः।।

अर्थात् कोई भी व्यक्ति या पाठक उस ग्रन्थ को सुनने या पढ़ने में तब तक नहीं लगता जब तक उस ग्रन्थ के संबंध में स्थापित होने वाली विषयवस्तु और उद्देश्य का ज्ञान न हो जाये। इसी प्रकार, अनुबंधों का ज्ञान श्रोता और किसी अन्य को भी धर्मग्रंथों को सुनने और अध्ययन करने के लिए प्रेरित करता है। परिणामस्वरूप, वे धर्मग्रंथों के अध्ययन में शामिल हो जाते हैं।

कुमारिल भट्ट के अनुसार अनुबन्ध चतुष्टय -

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।

यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते॥

अर्थात्, सभी धर्मग्रंथों में या किसी भी कार्य में कोई भी तब तक शामिल नहीं होता जब तक कि उद्देश्य न बताया गया हो। अत: शास्त्रों में संबंध एवं उद्देश्य का उल्लेख करना आवश्यक है।अनुबन्धों के द्वारा ही पढ़ने वाला व्यक्ति शास्त्र / ग्रन्थ की ओर प्रवृत्त होता है, तथा शास्त्र

अपने ज्ञान से पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करता है।यदि शास्त्र केआरम्भ में ही अनुबन्धों का वर्णन नहीं होता है, तो शास्त्र पढ़ने में पाठक की रुचि नहीं हो पाती है।

1.4.2 भक्तमाल के अनुसार अनुबंध चतुष्टय—

वेदांतसार में तो अनुबंध चतुष्टय पर विस्तार से हमने जाना। अब हम भक्तमाल में अनुबंध चतुष्टय को के स्वरूप को जानते है। इससे पहले हम भक्तमाल क्या है -जानते है। भक्त उन्हें कहते हैं जिनके हृदय में भगवान के चरण कमल के प्रति निष्काम प्रेम होता है। भगवान की बनाई हुई इस वाटिका में खिले हुए जो भक्त पुष्प हैं, उन्हें नाभा जी नाम के विद्वान संत ने संग्रहीत किया और उसे एक ग्रंथ का आकार प्रदान किया जिसे भक्तमाल कहते हैं। भक्तमाल माने ऐसी माला जिसमें भक्त चरित्रों को गुम्फित किया गया हो।

बार बार पद वन्दौ, श्री नाभा आभा ऐन। जिन काढ्यौ गाभा वेद को, भक्तमाल रस दैन।।

प्रत्येक ग्रंथ का अनुबंध चतुष्टय होता है इसका अधिकारी कौन है, इसका संबन्ध क्या है, इसका विषय क्या है, इसका प्रयोजन क्या है तो भक्तमाल में अनुबंध चतुष्टय के बारे में नाभादासजी कहते हैं -

अधिकारी- भ्रमर स्वभाव के रसिक जन ही अधिकारी हैं। किसी सरोवर में जब कमल खिलता है तो भौंरा एक योजन दूर से गुनगुनाता हुआ आता है और कमल की कर्णिका पर बैठ कर मकरंद पान करता हुआ सब कुछ भूल जाता है। उसी कमल की नाल के पास बैठा मेंढक टर्र टर्र करता हुआ कीड़े बीन बीन कर खाता है। मेंढक वृत्ति के लोग भक्तमाल के अधिकारी नहीं हैं, भ्रमर वृत्ति के लोग ही अधिकारी हैं।

भ्रमर के छः पैर होते हैं श्रद्धा, आस्तिकता, कृति आदरता (अर्थात् ग्रंथ के प्रति आदर भाव कि यह गपाष्टक नहीं, सिद्ध संत की वाणी है), उपकृति (ग्रंथ, ग्रंथकर्ता और वक्ता के प्रति यह भाव कि आपने बड़ा उपकार किया जो यह ग्रंथ सुनाया), भक्तों के चरणों में नमन और निर्मत्सरता (भक्त चरित्रों की प्रशंसा सुन मात्सर्य भाव न होना)। भौर के दो पंख होते हैं श्रद्धा और विश्वास। भक्तमाल का अधिकारी वही है जिसमें भौरे जैसी रसग्राह्यता हो।

चाहिए।

विषय- भक्तमाल का विषय है श्री हरि और हरिजन सेवा में रुचि।

संबन्ध- सदाचार ही संबन्ध है। भक्तों के जीवन का सदाचार श्रोता-वक्ता में अवतरित होना

प्रयोजन- भक्तमाल का प्रयोजन है भगवत्, भागवत प्रीति।

1.4.3 गीता के अनुसार अनुबंध चतुष्टय

विषयश्चाधिकारी च ग्रंथस्य च प्रयोजनम् ।

संबंधश्च चतुर्थोऽस्तीत्यनुबंधचतुष्टयम् ।।

प्रत्येक ग्रंथ में चार बातें होती हैं- ग्रंथ का विषय, उसका प्रयोजन, उसका अधिकारी और प्रतिपाद्य – प्रतिपादक का संबंध। इन चारों को 'अनुबंध - चतुष्टय' नाम से कहा जाता है। गीता का अनुबंध – चतुष्टय इस प्रकार है-

1.अधिकारी- जो अपना कल्याण चाहते हैं, वे सब के सब गीता के अधिकारी हैं। मनुष्य चाहे किसी देश में रहने वाला हो, किसी वेश को धारण करने वाला हो, किसी संप्रदाय को मानने

वाला हो, किसी वर्ण आश्रम का हो, किसी अवस्थावाला हो और किसी परिस्थिति में स्थित हो, वह गीता का अधिकारी है।

2.विषय- जिनसे जीव का कल्याण हो, वे कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि सब विषय (साधन) गीता में आये हैं।

3. प्रयोजन- जिसको प्राप्त होने पर करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता, उसकी प्राप्ति कराना अर्थात् जीव का उद्धार करना गीता का प्रयोजन है।

4.संबंध- गीता के विषय और गीता में परस्पर 'प्रतिपाद्य' है और गीताग्रंथ स्वयं 'प्रतिपादक' है। जिसको समझाया जाता है, वह विषय 'प्रतिपाद्य' कहलाता है और जो समझाने वाला होता है, वह 'प्रतिपादक' कहलाता है। जीव का कल्याण कैसे हो- यह गीता का प्रतिपाद्य विषय है और कल्याण की युक्तियाँ बताने वाली होने से गीता स्वयं प्रतिपादक

वेदान्त सार में भी मङ्गलाचरण के बाद इन अनुबन्धों का उल्लेख किया गया है, जो निम्नलिखित हैं— वेदान्त सार में चार अनुबन्ध का उल्लेख किया गया है। 1.अधिकारी, 2.विषय, 3.प्रयोजन 3.संबन्ध, ये चार अनुबन्ध चतुष्टय कहे जाते हैं। इनकी व्याख्या निम्नलिखित है—

1.अधिकारी— वेदांतसार में अधिकारी किसे माना गया है ? अधिकारी अर्थात् वेदान्त सार को पढ़ने के लिये योग्य कौन है ….ग्रन्थ को कौन पढ़ सकता है ?

अधिकारी तु विधिवतधीत वेदान्गत्वेनापाततोअधिगताखिल वेदार्थो अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्ध वर्जनपुरःसरंनित्यनैमित्तिक प्रयश्चित्तोपासनानुष्ठानेननिर्गतनिखिल कल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तःसाधन चतुष्टयसंपन्नःप्रमाता।

अर्थात् अधिकारी वह होता है, जिसने इस जन्म में या पूर्व जन्म में वेद -वेदाङ्गों का विधि पूर्वक अध्ययन किया हो,तथा संपूर्ण वेदों का अर्थज्ञान प्राप्त किया हो, काम्य कर्म तथा शास्त्रों द्वारा निषिद्ध कर्मों का त्याग कर दिया हो,जिसक मन नित्य नैमित्तिक, प्रायश्चित तथा उपासना कर्मों को करने से सभी पापों से मुक्त हो कर नितान्त स्वच्छ हो गया हो,ऐसे चार साधनों से सम्पन्न प्रमाता ही अधिकारी (वेदांत पढ़ने का) है।इसके अतिरिक अधिकारी को किन कर्मों का त्याग करना है, और क्या करना है.. इसका वर्णन इस प्रकार है..ऊपर बताए गए कर्मों में काम्य कर्म क्या हैं…

क.काम्य कर्म का अर्थ— **काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि**

अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति आदि इच्छाओं से किये जाने वाले ज्योतिष्टोम यज्ञ आदि काम्य कर्म हैं।

काम्य कर्म वे होते हैं, जो किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं।

ज्योतिष्टोम यज्ञ भी स्वर्ग की कामना से किया जाने वाला यज्ञ है। अतः यह काम्य कर्म है।ये कर्म पुण्य देने वाले होते हुए भी जन्म मरण के हेतु हैं,अतः इनका त्याग करना चाहिए।

ख. निषिद्ध कर्म का अर्थ— **निषिद्धानि -नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राहमणहननादीनि**

अर्थात.. नरक जैसी अनिष्ट स्थान को प्राप्त करने वाले ब्राह्मण हत्या आदि कर्म, निषिद्ध कर्म हैं।मनुष्य अज्ञान तथा भ्रम वश कई अनिष्ट कर्मों को अपने अभीष्ट को प्राप्त करने के लिये करता है, जो निषिद्ध कर्म हैं,अर्थात जिन्हें करने को मन किया गया है। जैसे.. ब्रह्मणो न हन्तव्यः इस श्रुति द्वारा ब्राह्मण की हत्या को -किया गया है तथा इसी तरह से गो हत्या तथा सुरापान, असत्य भाषण भी धर्मशास्त्रों मे निषिद्ध हैं।

ग. नित्य कर्म का अर्थ— **नित्यानि – अकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि ।**
अर्थात् जिन कर्मों के न करने से हानि होती है, वे नित्य कर्म कहे जाते हैं। जैसे .. संध्यावंदन आदि। कुछ कर्म हैं जिनके करने से कुछ विशेष पुण्य नहीं होता है पर न करने से पाप बढता है या हानि होती है। जैसे.. प्रतिदिन दन्त की सफाई करना तथा स्नान करने से कोई पुण्य नहीं होता है, परन्तु इन्हें न करने से शरीर में गन्दगी एकत्र हो जाती है तथा स्वास्थ्य प्रतिकूल होता है। उसी प्रकार प्रातःकाल पूजा करना तथा संध्या वन्दन आदि करना भी नित्यकर्म हैं।अनजाने में मनुष्य से जो पाप कर्म हो जाते हैं, उन्हें एकत्र न होने देना तथा,उनके निराकरण के लिये प्रातः, सायं वन्दन आदि कर्म करना चहिये। वेदान्त के अनुसार संध्यादि वन्दन न करने से कोई हानि नहीं है, पर करने से पाप का अवरोध होता है।
नित्य कर्मों को करने का परम उद्देश्य बुद्धि की शुद्धि है। सांसारिक बन्धन से मोक्ष प्राप्त करना ही परम प्रयोजन है।
घ..नैमित्तिक कर्म का अर्थ— **नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जतेष्ट्यादीनि**
अर्थात् पुत्र उत्पत्ति आदि के अवसर पर शास्त्रों में निर्दिष्ट जातेष्टि यज्ञ आदि नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं। नैमित्तिक अर्थात किसी निमित्त (लक्ष्य) को प्राप्त करने के बाद किया जाने वाला कर्म नैमित्तिक मर्म कहे जाते हैं। ये कर्म शास्त्रों द्वारा बताये गये हैं। पुत्र के जन्म होने पर, शास्त्रों में अभिहित विधि के अनुसार,पिता द्वारा जो यज्ञ आदि के द्वारा जो जातकर्म संस्कार किया जाता है, उसे ही जातेष्टि कहा गया है।
ङ…प्रायश्चित कर्म का अर्थ— **प्रायश्चित्तानि-पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि**
अर्थात् पाप के निवारण के लिये किये जाने वाले चान्द्रायण आदि व्रत प्रायश्चित कर्म कहे जाते हैं।मनुष्य द्वारा शास्त्रों में बताये गये कर्मों को न करने से तथा निषिद्ध अर्थात मना किये गये कर्मों को करने से,जो पाप उत्पन्न होता है, उसके निवारण के लिये जो कर्म किये जाते हैं, उन्हे प्रायश्चित कर्म कहा जाता है।जैसे चान्द्रायण व्रत.. मनुस्मृति में चान्द्रायण के चार प्रकार बताये गये हैं। इस व्रत में चन्द्रमा के घटने और बढने के साथ आहार बढ़ाया या घटाया जाता है।
च.उपासना कर्म का अर्थ— **उपसनानि सगुणब्रह्म विषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि**
अर्थात् सगुण ब्रह्म में चित्त की वृत्तियों को स्थिर करने के लिये, जो कर्म किये जाते हैं, उसे उपासना कर्म कहते हैं। जैसे.. शाण्डिल्य विद्या आदि।
अनुबन्ध चतुष्टय साधन चतुष्टय..क्या है..साधन चतुष्टय के बारे में वेदांत में बताया गया है कि— **साधनानि -नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविराग शमादिषट्कसंपत्तिमुमुक्षित्वानि..** अर्थात् नित्य तथा अनित्य वस्तु का विवेक, ऐहलौकिक तथा पारलौकिक फल के भोग से विराग अर्थात अनासक्ति शमादि छः संपत्तियां तथा मोक्ष प्राप्ति की कामना, ये चार साधन हैं। इनमें प्रथम साधन दूसरे साधन को प्राप्त करने का साधन है, दूसरा तीसरे को, तथा तीसरा चतुर्थ को प्राप्त करने का साधन है वेदान्त पढ़ने का आधिकारी होने के लिये उपरोक्त चार साधनों से युक्त होना आवश्यक है।
1. नित्य अनित्य वस्तु विवेक— नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद् ब्रह्मैव नित्यंवस्तुतोऽन्यदखिलम् नित्यमिति विवेचनम्।। अर्थात् नित्यानित्य वस्तु विवेक मुमुक्ष के लिए प्रथम आवश्यकता है नित्य (Eternal) और अनित्य (Non-Eternal) पदार्थों के बीच विवेकपूर्ण भेद कर सकना। इसके अन्तर्गत जगत और ब्रह्म के बीच भेद, शरीर और आत्मा का

भेद, आत्मा और परमात्मा की एकता, साधन और साध्य के बीच भेद आदि समावेश होता है। केवल ब्रह्म ही नित्य है, उसके अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण संसार अनित्य है, इस प्रकार का विवेचन नित्य-अनित्य वस्तु विवेक है। जो काल स्थान आदि से बंधा नहीं है वह नित्य है। जैसे ब्रह्म क्योंकि यह तीनों कालों से परे है यह श्रुति वाक्यों से प्रमाणित भी है…निजं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्। अजो नित्यः शाश्वतः......संसार की सभी वस्तुएं काल से बंधी हैं, अतः अनित्य हैं.. श्रुति वाक्य.. नेह नानास्ति किञ्चन।यो वै भूमा तदमृतं यदल्पं तन्मर्त्यं।

2. इहामुत्रार्थ फलभोगविराग— अर्थात् विवेकपूर्ण ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् तृष्णा का त्याग आवश्यक है। अनेक लौकिक और पारलौकिक भोग हैं, जिनकी आकांक्षा मात्र व्यक्ति को असंयमित कर देती है और लक्ष्य की ओर बढ़ना कठिन कर देती है। अतः द्वितीय साधन लौकिक एवं पारलौकिक भोगों की कामना से पूर्ण विरक्ति हो जाना है। इस लोक से प्राप्त होने वाले सुन्दर पदार्थ कर्म से उत्पन्न होने के कारण अनित्य है। परलोक प्राप्त होने वाले अमृत आदि पदार्थ भी कर्म से प्राप्त होने के कारण अनित्य होंगे, इस प्रकार निश्चय करके ऐहलौकिक तथा पारलौकिक वस्तुओं से विरक्त होना इहामुत्रार्थ फलभोगविराग है।

3. शमादि षट् संपत्ति— शमादयस्तु शमदमोपरतितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः (शम दम उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा) ये षट् संपत्तियां हैं। अर्थात् शम-दमादि साधन सम्पत् : इस साधन के अन्तर्गत छः प्रकार के संयम आते हैं। आकांक्षा का त्याग करने के पश्चात् इन्द्रिय, मन आदि उन शारीरिक अंगों पर अधिकार करने का प्रश्न उठता है जो मनुष्य को भोगों की ओर प्रवृत्त करते हैं। शम का अर्थ है-मन का संयम। दम का अर्थ है-इन्द्रियों पर नियन्त्रण तीसरा संयम है उपरति- जिसका तात्पर्य निहित कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग कर देना है। चौथा संयम है। तितिक्षा जिसका तात्पर्य शरीर को शीतोष्ण आदि कष्टों को सहन करने योग्य बनाना। पाँचवाँ संयम है-समाधान-जिसका अर्थ है शब्द आदि विषयों से निगृहीत मन को श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा अनेक उपकारक विषयों के चिन्तन में निरन्तर लगाए रखना। छठा संगम है- गुरुपदृष्टि जिसका अर्थ वेदान्त वाक्यों में विश्वास श्रद्धा है।

4. मुमुक्षुत्वः उपर्युक्त तीनों साधनों को प्राप्त करने के बाद साधक को लक्ष्य प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प करना चाहिए, क्योंकि बिना संकल्प के अव्यवसाय नहीं होता और अव्यवसाय के अभाव में लक्ष्य प्राप्ति नहीं हो सकती। यह लक्ष्य है मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्ष पाने की इच्छा।

वेदान्त शब्द का शाब्दिक अर्थ 'वेदों का अन्तिम भाग' है। वेद शब्द 'विद ज्ञाने' धातु से निष्पन्न ज्ञान का पर्यायवाची है। 'मोक्ष' क्या है और इसकी प्राप्ति के कौन-कौन से साधन हैं? इसकी व्याख्या ही वेदान्त है। सभी भारतीय दर्शनों में ज्ञान की प्राप्ति का मूल मोक्ष को ही स्वीकारा गया है। अत: मोक्ष प्राप्ति का साधन ही ब्रह्मज्ञान है।

वेदान्त का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। वेदान्त के अनुसार मोक्ष प्राप्ति ज्ञान से ही हो सकती है। इसने हमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की एकता और अनेकता का स्पष्ट ज्ञान कराकर हमें अपनी अनन्त शक्ति से परिचित कराया। शंकराचार्य ने विस्तार से इस मान्यता का खण्डन किया कि मोक्ष एक साध्य वस्तु है, जिसे कर्म द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि साध्य वस्तु वही हो सकती है जो पहले से न हो, जिसे उत्पन्न किया जा सके। मोक्ष तो स्वयं आत्मा का स्वरूप है, वह पहले से ही सिद्ध है, अतः कर्म द्वारा उसे प्राप्त करना सम्भव नहीं है। मोक्ष तो आत्म स्वरूप होने के कारण नित्य वस्तु है। अज्ञानरूपी अन्धकार से आवृत्ति होने के कारण उसकी प्रतीति नहीं होती। ज्ञान के प्रकाश से वह प्रकट हो जाता है और यहीं उसकी प्राप्ति होती

है। अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान अनिवार्य है, कर्म नहीं कर्म तो स्वयं अज्ञानजन्य है और पुनः पाप-पुण्य को उत्पन्न करने के कारण जन्म-मरण के बन्धन को उत्पन्न करता है। अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान आवश्यक है।

शंकराचार्य ने ज्ञान के दो भेद बताए हैं- अपरा तथा परा। अपरा को हम लौकिक अथवा व्यावहारिक ज्ञान मानते हैं और परा को आध्यात्मिक ज्ञान अपरा ज्ञान के अन्तर्गत इस जगत और मनुष्य जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित ज्ञान आता है। शंकराचार्य की दृष्टि में इस ज्ञान की केवल व्यवहारिक उपयोगिता है। इस प्रकार के ज्ञान से मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम उद्देश्य (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं कर सकता। शंकराचार्य के अनुसार पर ज्ञान सच्चा ज्ञान है। इस ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य अपने जीवन का अन्तिम उद्देश्य अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर सकता है। शंकर वेद, ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद् एवं गीता की तत्त्व मीमांसा को परा ज्ञान कहते हैं। अपरा और परा दोनों प्रकार के ज्ञान के लिए शंकर ने श्रवण, मनन, निदिध्यासन का समर्थन किया है। परा ज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदान्त में श्रवण, मनन, निदिध्यासन के साथ साधन चतुष्टय को आवश्यक माना गया है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी वही है, जिसने पहले साधन चतुष्टय प्राप्त कर लिया है।

अनधिकारी मनुष्य—

किसी भी शास्त्र का अध्ययन करने के पहले, इस ग्रन्थ को पढ़ने का अधिकारी कौन है ? इसका निर्णय करना आवश्यक माना गया है। शास्त्राध्यन का अधिकारी वो है , जो जगत की आसक्ति से उपरत (अर्थात् जो सांसारिकता में रत न हो; विरक्त; जिसका मन संसार और विषय-भोग से हट गया हो; रागरहित; उदासीन)हो गया है। जिसने जगत की वस्तुस्थिति का चिंतन किया है, और इसकी नश्वरता को समझकर इससे उपरत हो गया है , वो उपनिषद का अध्ययन करने का अधिकारी है। हाथ में भविष्य दिखाने वाले , मन्नत माँगने वाले इस ग्रन्थ को पढ़ने के अधिकारी नहीं है। पुत्रार्थी या धनार्थी अधिकारी नहीं हैं। जिम में स्वस्थ लोग जाते है। यह संसार भी व्यायाम शाला है, यहाँ स्वस्थ शरीर के व्यक्ति ही वेदांत,मीमांसा,उपनिषद आदि को समझ सकते हैं। यहाँ अधिक भीड़ नहीं होती, क्योंकि अधिकारी ही अधिक नहीं होते ।

अनधिकारी मनुष्य के बारे में नाभादासजी भक्तमाल में कहते है कि अनधिकारी व्यक्ति जब भक्त चरित्र सुनेगा तो उसे गुणों में भी दोष ही दिखाई देंगे, वह दोषों का ही अनुसंधान करेगा। यदि ऐसी प्रवृत्ति रहेगी तो परलोक की हानि होगी और जीवन में कभी सुख शांति मिलेगी नहीं। यह भाव दृढ़ रहना चाहिए कि भक्तों के विषय में जो कुछ कहा जा रहा है वह यथार्थ है, अतिरंजित करके नहीं कहा जा रहा। भगवान के भक्त के चरित्र में सब कुछ संभव है, कुछ भी असंभव नहीं है— **उत्कर्ष सुनत संतन को अचरज कोऊ जनि करो**

भारतीय शास्त्र के किसी भी ग्रंथ चाहे वो वैदिक हो या पौराणिक अध्ययन करने से पहले व उसको समझने के लिये अनुबन्ध चतुष्टय की महती (बहुत) आवश्यकता है । यहाँ तक तो बच्चों आपने बात समझ ली अब बात आती है कि शास्त्रों को न पढ़ने का अधिकार किसके पास नही है मतलब अनधिकारी कौन है तो – संसार में चौरासी लाख योनियों में मनुष्य योनि उत्तम है । शास्त्रीय दृष्टि से संसार में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं- **पामर, विषयी, मुमुक्षु और जीवन्मुक्त।**

1. पामर— इनमें लोकायतिक, चार्वाक् आदि आते हैं, जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं । उनका कथन है कि शरीर के जन्म के साथ ही आत्मा का जन्म होता है। जैसे-जैसे शरीर बढ़ता

है, आत्मा का विकास होता है। शरीर के शिथिल होने पर आत्मा शिथिल, इसके नाश होने पर नाश- यह इनलोगों का कहना है। जबतक जियो सुख से जियो। स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, ईश्वर, वेद सब मिथ्या है। वेदों की रचना अज्ञानी निशाचरों ने की है– यह इनका मत है। इनका वेद, शास्त्र, परलोक तथा पुनर्जन्म में विश्वास नहीं है। गीता के सोहलवें अध्याय में भगवान् इनके लिये ही कहते हैं :-

"आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।" (श्रीमद्भगवद्गीता १६/२०)

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! वे लोग प्रत्येक जन्म में तमो-प्रधान आसुरी योनि को प्राप्त करते हैं। मुझे प्राप्त न होकर इससे भी अधिक कूकर-सूकर योनियों में जन्मते हैं।

2. विषयी — यह आत्मा-परमात्मा को मानते हैं। परलोक, ईश्वर तथा वेद में विश्वास रखते हैं। परन्तु पांच विषयों में अत्यन्त आसक्त होने के कारण परलोक तथा शास्त्रों की बातें इनको अच्छी नहीं लगती। किसी के विशेष दबाव डालने पर नाममात्र के तामसी देवताओं की आराधना करते हैं। कभी-कभी तो दुष्प्रचार व अज्ञान के कारण ये लोग उनकी भी पूजा करने लगते हैं जो देवता हैं ही नहीं, सामान्य मनुष्य हैं। साईं बाबा को पूजने वाले, रामपाल के भक्त, जयगुरुदेव के भक्त, राधा स्वामी वाले, ब्रह्मकुमारी के भक्त आदि आस्तिक होने पर भी निश्चित् ही नरक को प्राप्त करते हैं तथा जबतक जीवित हैं तबतक कष्टप्रद व दिशाहीन आराधना करके दुःख भोगते हैं।

3. मुमुक्षु — इनको ईश्वर, वेद, धर्मशास्त्र, गुरु तथा पुनर्जन्म में विश्वास है। आरम्भ में सकाम कर्म उपासना करके लौकिक कामना पूर्ण होने पर इनका विश्वास दृढ़ हो जाता है। किन्तु बाद में सत्शास्त्रों के पठन-पाठन , सत्संग करने से विवेक सहित वैराग्य हो जाने पर अंतःकरण के तीन दोषों को दूर करने के लिये निष्काम भाव से उपासना करते हैं। तीन दोषों में मल अर्थात् जन्मान्तरों का पाप , विक्षेप अर्थात् चंचलता एवं आवरण अर्थात् पर्दा – ज्ञान को ढंकने वाला – इनसे छूटकर मुक्ति की इच्छा करता हैं।

4. जीवनमुक्त — जो कृतार्थ हो चुके हैं। जिन्होंने कर्मोपासना से अंतःकरण शुद्ध कर लिया है। अन्त में विवेक सहित उत्कट वैराग्य हो जाने पर स्त्री, पुत्र, परिवार, धन आदि छोड़कर श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जा करके, विधिवत् संन्यास लेकर, जीवात्मा-परमात्मा की एकता का अनुभव कराने वाले महावाक्यों का तथा प्रस्थानत्रयी का गुरु के द्वारा श्रवण-मनन-निदिध्यासन करके अथवा हठयोग की धारणा-ध्यान-समाधि रूपी संयम अर्थात् अन्तरङ्ग साधनों द्वारा आत्मदर्शन करके जिन्होंने जीवनमुक्ति का आनन्द प्राप्त किया है — उनको जीवन्मुक्त कहते हैं।

इन चार प्रकार के मनुष्यों में से दो को वेदान्त के ग्रन्थ पढ़ने का अधिकार नहीं है। क्योंकि पापियों को ऐसे ग्रन्थों में श्रद्धा-विश्वास ही नहीं। विषयी पुरुषों को भोगों में ही आनन्द प्राप्त होता है। उनमें श्रद्धा-विश्वास का अभाव है। अतः दोनों का वेदान्त-शास्त्र में अधिकार नहीं। चौथे जीवन्मुक्त महात्मा जो देहाध्यास से परे हो चुके हैं। जिन्हे शीत-उष्ण, भूख-प्यास, सुख-दुःख आदि का भान नहीं है। जो ज्ञान की छठीं पदार्थाभाविनी या सातवीं तुर्यगा में पहुँचकर कृतार्थ हो चुकें हैं, उनको कोई कार्य करना शेष नहीं। ऐसे ब्रह्मकोटि या अवधूत कोटि के महात्मा अधिकारातीत हो जाने के कारण उनको भी ग्रन्थ के पठन-पाठन से कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि वेदान्त ग्रन्थों के तात्पर्य का जो महाफल हैं, वे उसे चख चुकें हैं। अतः तीसरी कोटि के जिज्ञासु या मुमुक्षुओं का ही इसमें अधिकार है। जिनका इष्टदेव के समान ही गुरुओं में श्रद्धा तथा विश्वास है तथा जो विवेक-वैराग्य सम्पन्न हैं, उनको वेदान्त-शास्त्र पढ़ने का अधिकार है।

2.विषय— यह अनुबन्ध चतुष्टय का दूसरा भाग है। "**जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्**" अर्थात् इस वेदान्तसार का विषय – जीव और ब्रह्म का एक होना तथा सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व आदि विरुद्ध धर्मों से विमुक्त, शुद्ध चैतन्य का ज्ञान है। यही वेदान्त वाक्यों का लक्ष्य है।

वेदान्त के अनुसार सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व ये माया द्वारा आरोपित हैं, वास्तविक नहीं हैं। ये उपाधियों के कारण भिन्न प्रतीत होते हैं। इस भिन्नता को मिटा देने पर केवल चैतन्य अंश शेष रहता है। यही जीव और ब्रह्म का ऐक्य है तथा परमार्थिक है।अज्ञान की उपाधि नष्ट हो जाने पर जीवत्व नष्ट हो जाता है, और वह ब्रह्म ही हो जाता है..ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति।

3. प्रयोजन— प्रयोजनं तु तदैक्य प्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः, स्वरूपानन्दावाप्तिश्च "तरति शोकम् आत्मवित् " इत्यादि श्रुतेः " ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति " इत्यादि श्रुतेश्च । अर्थात् इस वेदान्तसार का प्रयोजन, जीव और ब्रह्म के ऐक्य के ज्ञान के मध्य आने वाले अज्ञान की निवृत्ति हो कर आत्मा के स्वरूपानन्द की प्राप्ति है। वेदान्तसार का मुख्य प्रयोजन अज्ञान का निवारण/ निवृत्ति तथा आत्मा के स्वरूपानान्द की प्राप्ति है।आत्मगत अज्ञान तथा तथा उस अज्ञान से उत्पन्न संपूर्ण विकार के समाप्त होने पर ही अखण्डानन्द ब्रह्म की प्राप्ति होती है। और इसे प्राप्त करना ही वेदान्त का प्रयोजन है।

4.संबन्ध— **सम्बन्धस्तु-तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादिकोपनिशत् प्रमाणस्य च बोध्य – बोधकभावः** अर्थात् उन दोनों अर्थात जीव और ब्रह्म का ऐक्य.. एक होना तथा उनके प्रतिपादक उपनिषत् वाक्यों का बोध्य बोधक भाव, संबन्ध है।

जीव और ब्रह्म का अभेद अर्थात जीव और ब्रह्म एक ही है, उनमें कोई भेद नहीं है, यही बात वेदान्त का विषय है, तथा इस भाव का प्रतिपादन करने वाले उपनिषत् वाक्यों का बोध्य बोधक भाव है यही संबन्ध है। वेदान्तसार का विषय है जीव और ब्रह्म का अभेद होना, तथा उपनिषद इस बात के प्रतिपादक और प्रमाण हैं।अतः उपनिषद और वेदान्त के विषय में बोध्य – बोधक भाव संबन्ध है।बोध्य अर्थात जानने योग्य, जिसका ज्ञान हो सके। बोधक..अर्थात ज्ञान कराने वाला शास्त्र है

1.5 सारांश

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि जो अपने ज्ञान से अन्य को बांधकर शास्त्र में प्रवृत्त करते हैं उसे अनुबंध कहा जाता है, अधिकारी विषय संबंध तथा प्रयोजन ये चार अनुबन्ध है, इन्हें ही अनुबन्ध चतुष्टय कहा जाता है। नितान्त निर्मल अन्तःकरण वाला जो प्रमाता नित्यानित्यवस्तुविवेक, ऐहिक तथा आमुष्मिक फलभोग के प्रति वैराग्य, शमादि छह से सम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व इन चार साधनों से सम्पन्न होगा वही वेदान्तविद्या का अधिकारी है। वेदान्तसार में प्रमाता तु अधिकारी इस प्रकार अन्वय किया गया है। प्रमाता ही अधिकारी है। प्रमाता का अर्थ ज्ञान प्राप्त करने वाला पुरूष है।

वेदान्तसार का विषय है जीवब्रह्मैक्य। जीवब्रह्मैक्य का आशय है जीव तथा ब्रह्म की एकता से। जीव अल्पज्ञ है तथा ब्रह्म सर्वज्ञ है। अज्ञान का नाश करने वाले जीव तथा ब्रह्म के शुद्ध चैतन्य स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिये ही ऐसा विषय स्वीकार किया है। जीव तथा ब्रह्म की एकता का आशय यह नहीं है कि जीव तथा ब्रह्म दोनों का नील तथा घट की तरह अभेद है। क्योंकि नील तथा घट का अभेद होने पर भी वस्तुतः नील तथा घट का भेद तो सदा सर्वदा

बरकरार रहता है। इसलिए यहाँ पर जीव तथा ब्रह्म की एकता का तात्पर्य जीव के अर्थ अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा ईश्वर के अर्थ सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य में से विरुद्धांश अल्पज्ञत्वादि तथा सर्वज्ञत्वादि का परित्याग करते हुए शुद्ध चैतन्य के प्रतिपादन से है।

शुद्ध चैतन्य निर्धर्मक ब्रह्म वेदान्तसार तथा वेदान्तशास्त्र का प्रमेय विषय है। शुद्ध चैतन्य ब्रह्म व वेदान्तसार तथा वेदान्तशास्त्र के मध्य बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध है। परन्तु यह ध्येय है कि यहाँ पर यह बोध्यबोधकभाव उस प्रकार से सम्भव नहीं होता है जिस प्रकार घटादि पदार्थों तथा उसके वाचक पदों के मध्य बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध बनता है क्योंकि उस प्रकार से शुद्ध चैतन्य निर्धर्मक ब्रह्म व वेदान्तसार तथा वेदान्तशास्त्र के मध्य बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। इसका कारण यह है कि ब्रह्म किसी भी शब्द का अर्थ नहीं है। ब्रह्म वाक्य का अभिधा से भी बोध्य अर्थ नहीं है। बल्कि लक्षणा के माध्यम से शुद्ध चैतन्य निर्धर्मक ब्रह्म का बोधन वेदान्तशास्त्र तथा वेदान्तसार के द्वारा किया जाता है। जीव और ब्रह्म के ऐक्य का बोध्यबोधक भाव ही सम्बन्ध कहलाता है।

वेदान्तशास्त्र तथा वेदान्तसार का प्रयोजन है अविद्या की निवृत्ति तथा स्वस्वरूप की अवाप्ति। यद्यपि अविद्या की निवृत्ति तथा स्वस्वरूप की अवाप्ति में कोई भी भेद नहीं है। दोनों एक ही हैं। तथापि निवृत्ति के रूप में अविद्या निवृत्ति अभावात्मक होने के कारण पुरुषार्थ नहीं हो सकती है, परन्तु स्वस्वरूपावाप्ति रूप होने के कारण यह परमपुरुषार्थ है क्योंकि यह स्वस्वरूप आनन्दस्वरूप है। अर्थात् जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिये व्यक्ति किसी भी कार्य में प्रवृत्त होता है उसकी प्राप्ति ही उस कार्य का प्रयोजन कहलाता है।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

शब्द	**:**	**अर्थ**
अधिकारी	:	ज्ञान प्राप्त करने वाला पुरूष
विषय	:	जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना हो।
सम्बन्ध	:	दो वस्तुओं के बीच का बोध्यबोधक भाव।
प्रयोजन	:	किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये कार्य में प्रवृत्त होना।

1.7 सन्दर्भग्रन्थ

1. श्रीमद्भगवद्गीता- गीताप्रेस, गोरखपुर

2. सदानन्द योगीन्द्र प्रणीत वेदान्तसार विद्वन्मनोरंजिनी तथा हिन्दी व्याख्या के साथ, बदरीनाथ शुक्ल मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

3. वेदांत सार- सदानंद योगेन्द्र

4. सदानन्द योगीन्द्र प्रणीत वेदान्तसार आपदेवकृत बालबोधिनी तथा बालव्युत्पत्तिवर्धिनी हिन्दी व्याख्या, सच्चिदानन्द मिश्र, दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

1.8 बोध प्रश्न

1. अनुबन्ध चतुष्टय के अर्थ एवं स्वरूप का वर्णन करें।
2. ज्ञान प्राप्ति में अधिकारी के गुणों के बारे में बताए।
3. अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन कैसे शास्त्र में प्रवृत्त करते हैं, बताइए।

इकाई. 2 तन्त्र युक्तियाँ

इकाई की रूपरेखा

2. 1 प्रस्तावना
2. 2 उद्देश्य
2. 3 अनुसंधान का अर्थ एवं अवधारणा
2. 4 शास्त्र परम्परा
2.4.1 तन्त्रयुक्तियों का प्रयोजन
2. 5 सारांश
2. 6 पारिभाषिक शब्दावली
2. 7 सन्दर्भग्रन्थ
2. 8 बोधप्रश्न

2.1 प्रस्तावना

अनुसंधान मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का हिस्सा है। जो प्रश्न अथवा संभावनाएँ मनुष्य के सम्मुख उपस्थित होती है। उनके मूल तथ्यों की वह खोज करता है। प्रत्येक क्षेत्र में शोध हो और सामाजिक समस्याओं का स्पष्ट वैज्ञानिक, सैद्धान्तिक ढांचा उभरे, यही शोध का आधार है। मात्र मौलिक अथवा नवीन समस्याओं से जुड़े ज्ञान की खोज ही अनुसंधान का लक्ष्य नहीं है बल्कि सम्भावानात्मक तथा समन्वयात्मक ज्ञान की खोज भी अनुसंधान का लक्ष्य है।

पश्चिम में वैज्ञानिक पद्धति का प्रारम्भ पुर्नजागरण से होता है। भारत में यह परम्परा काफी पुरानी है। आश्रमों में जो ज्ञानविज्ञान पलता था अथवा जिसका परीक्षण एवं विकास होता था वह वैज्ञानिक होने के साथ साथ वैज्ञानिक पद्धतियुक्त भी होता था। वैदिक ज्ञान निगम तथा तन्त्रज्ञान को आगम के रूप में जाना जाता था। अतः आगमपन तथा निगमन पद्धतियों के स्रोत भी वेद एवं आगम है। अब प्रश्न उठता है कि क्या भारतीय ज्ञान के अध्ययन मे अनुसंधान पद्धतियों का उपयोग होता था ? उत्तर हैं हाँ होता था। और विकसित रूप में प्रयुक्त हुआ है इसे पारिभाषिक रूप में तन्त्रयुक्ति कहा जाता है। आधुनिक अनुसंधान पद्धतियों में सभी का उपयोग प्राचीन भारतीय अध्ययन में नहीं हो सकता मात्र कुछ अनुसंधान पद्धतियाँ ही उपयोगी हो सकती है। किन्तु तन्त्रयुक्ति/भारतीय वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग सभी प्रकार के अध्ययन में हो सकता है। आइये तन्त्रयुक्ति पर विचार करें-

ब्रह्मण्ड के ग्रहों, पिण्डों तथा प्रत्येक वस्तुओं में एक नियम बद्धता है। इसी नियमबद्धता से जुड़े मामलों का ज्ञान भी एक संगठित संरचना से प्राप्त होती है। जिसे आप प्रमाण व्यवस्था कहते हैं। इस प्रमाण व्यवस्था से प्राप्त ज्ञान को प्रस्तुत करने की व्यवस्था को आप शास्त्र के रूप में प्राप्त करते हैं। इन शास्त्र-रचना की पद्धति को तन्त्रयुक्ति के नाम से जान जाता था। शास्त्र-रचना के सिद्धान्तों के प्रयोग से ही शास्त्र लेखन हुआ करता था।

तन्त्रयुक्ति शब्द व्यावहारिक रूप से सभी भारतीय शास्त्रकारों द्वारा उपयोग किया जाता है, इसमें शास्त्रों की रचना के लिए अनुसंधान का एक समूह शामिल है। तन्त्रयुक्ति दो शब्दों से तन्त्र एवं युक्ति से मिलकर बना है।

भाषा चिन्तन का विकसित रचना ही 'शास्त्र रचना पद्धति है'। शास्त्र रचना पद्धति तो प्राचीन भारतीय साहित्य की वह विधि है जिसका उल्लेख विश्व के अन्य किसी भी साहित्य में नहीं है। किसी भाषा के मूलभूत तत्त्वों एवं उसकी संरचना तथा शास्त्र योजना को समझने के लिए जिस विश्लेषणात्मक पद्धति एवं प्रक्रिया की आवश्यकता होती है उसकी पूर्ण परिणति ईसा से कई वर्ष पूर्ण भारत में हो चुकी थी।

2.2 उद्देश्य

तन्त्रयुक्ति संस्कृत में अर्थ है शास्त्र कार्यों की रचना करने की पद्धति। प्राचीन भारतीय व्यापक रूप से और सही ढंग से ज्ञान की खोज के लिए जाने जाते हैं। हमारे ऋषि-महर्षि एक शास्त्र के निर्माण में नियम निर्धारित किए, शास्त्र को क्रमबद्ध तरीके से पेश किया। किसी भी दिए गए विषय के सभी पहलुओं या लक्षणों को परिभाषित किया, किसी विशेष विषय के बारे में पिछले साहित्य का सन्दर्भ दिया, नए विचारों और सिद्धान्तों प्रस्तुत किया जिससे रचना की एक व्यापक पद्धति स्थापित हुई जिसमें शास्त्रों की व्याख्या करना। ऐसी पद्धतियाँ आधुनिक वैज्ञानिक

रचनाओं एवं ग्रन्थों में देखने को मिलती। इनमें प्राप्त समस्त सिद्धान्त जीव के वास्तविक स्वरूप का अवबोधन कराने का कार्य करते हैं।

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- प्रमुख तन्त्रयुक्तियों के सिद्धान्तों के बारे में जान सकेंगे।
- प्रमुख तन्त्रयुक्तियों को भली-भाँति समझ पायेंगे।
- तन्त्रयुक्तियों के स्वरूप को परिभाषित करने में समर्थ हो सकेंगे।
- शास्त्र योजना को समझने के लिए जिस विश्लेषणात्मक पद्धति एवं प्रक्रिया की आवश्यकता होती है उस प्रकिया को समझ सकेंगे।

2-3 vu|l/kku dk vFk ,o vo/kkj.kk

आधुनिक प्रकार के अनुसंधान कार्यों को वैज्ञानिक तर्क विधि का औपचारिक तथा सुव्यवस्थित उपयोग कहा जा सकता है। अनुसंधान वर्तमान ज्ञान के परिमार्जन एवं नवीन ज्ञान के सृजन की एक प्रक्रिया है। मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाली प्रगति में अनुसंधान की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सुनियोजित ढंग से समस्याओं का समाधान खोजने की यह एक वैधानिक विधि है। अनुसंधान का उद्देश्य आलोचनात्मक ढंग से किसी समस्या का विश्लेषण करना तथा उसका समाधान खोजना होता है। आँग्ल भाषा में अनुसंधान का पर्याय Research है जो Re (बार–बार) तथा Search (खोज) शब्दों से मिलकर बना है। अतः इस Research शब्द का शाब्दिक अर्थ है बार–बार खोज करना। हिन्दी शब्द अनुसंधान भी अनुवर्ती ढंग से संधान करने की ओर संकेत करता है। परन्तु वास्तव में अंग्रेजी के Research तथा हिन्दी के अनुसंधान शब्दों में क्रमशः प्रयुक्त Re एवं अनु शब्दांश दोहराने या बार–बार कोई कार्य करने के सूचक नहीं है वरन् ये प्रत्यय वास्तव में गहनता या गम्भीरता से कार्य सम्पादित करने के द्योतक हैं। ये शब्द निःसन्देह इंगित करते हैं कि गम्भीरता, गहनता एवं विश्लेषणात्मक ढंग से किसी एक समस्या का आलोचनात्मक अध्ययन करके उसका समाधान खोजना ही अनुसंधान है। यही कारण है कि सुनियोजित ढंग से सूचनाओं को संकलित करने तथा उनका विश्लेषण करके नवीन तथ्यों अथवा सिद्धान्तों की खोज करने का कार्य ही अनुसंधान प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है। अनुसंधान शब्द के लिये प्रायः शोध, गवेषणा, अन्वेषण, परिपृच्छा, खोज या जाँच जैसे शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। शोध शब्द शुद्धिकरण का सूचक है जो अत्यन्त शुद्धता व यर्थाथता के साथ किसी कार्य को करने का भाव प्रतिध्वनित करता है। गवेष्णा शब्द प्राचीन काल में जंगल से लौटती गायों के भटक जाने पर उनके खुरों के निशान देखकर खोजने के कार्य के लिये प्रयुक्त किया जाता था एवं कालान्तर में इस शब्द का प्रयोग सप्रमाण व व्यवस्थित ढंग से खोज करने के प्रयास के रूप में होने लगा है।

अनुसंधान की परिभाषा—

पी.एम. कुक ने अनुसंधान की विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट किया

है कि किसी दी गई समस्या के सन्दर्भ में ईमानदारी, व्यापकता, समझदारी से तथ्यों की खोज करना तथा उनके अर्थ या निहतार्थों को प्रस्तुत करना अनुसंधान है। किसी दिये गये अनुसंधान कार्य के परिणामों व निष्कर्षों को उस अध्ययन के क्षेत्र में ज्ञान में वृद्धि करने वाले प्रामाणिक, पुष्टि योग्य योगदान करने वाले होने चाहिए।

डब्ल्यू. एस. मॉनरो के अनुसार, ''अनुसंधान को समस्याओं के अध्ययन की उस विधि के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें समाधानी को आंशिक अथवा पूर्ण रूप से तथ्यों के आधार पर प्रतिपादित किया जाता है।''

स्पष्ट है कि अनुसंधान किसी अर्थपूर्ण व मौलिक समस्या का समाधान खोजने का एक ऐसा व्यवस्थित, वस्तुनिष्ठ, सोद्देश्य, तर्कसंगत तथा इन्द्रियानुभविक प्रयास है जिसमें वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया जाता है। निःसन्देह यह प्रक्रिया स्वसंशोधनीय, पुनरावृत्ति योग्य होते है।

विधि के आधार पर अनुसंधान वर्णात्मक, ऐतिहासिक तथा प्रयोगात्मक तीन प्रकार के अनुसंधान प्रचलित है तथा आधारसामग्री के प्रकृति के आधार पर संप्रत्यात्मक अनुसंधान और अनुभवजन अनुसंधान माना गया है। तंत्रयुक्ति सम्प्रत्यात्मक अनुसंधान से बहुत गहरे रूप से जुड़ी हुई है।

2-4 'kkL= ijEijk

शास्त्र किसे कहा जाता है– शिष्यतेऽनेनेति शास्त्रम् शास्त्र + ष्ट्रन वाचस्पत्यम् अर्थात् शासन करने वाले ग्रन्थों को शास्त्र कहा जाता है। शासन करने का अर्थ है – मनुष्यों के लिए शुभाशुभ कार्यों का निर्देशन करने वाला। शास्त्र की परिभाषा हम इस श्लोक से प्राप्त कर सकते हैं–

श्रेयान्द्रव्यमयाघज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्ये।।

हे परंतप अर्जुन। द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं। जो शिक्षा अनुशासन प्रदान कर हमारी रक्षा करती है, मार्गदर्शन करती है, कभी–कभी हमारी उंगली पकड़कर हमें चलाती है, उसे ''शास्त्र'' कहा गया है। इस प्रकार यदि हम शास्त्र व ग्रन्थ की और देखें तो शास्त्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

प्राचीन चिन्तनों ने न केवल शास्त्रपरक ग्रन्थों का प्रणायन किया वरन् किसी भी शास्त्र की रचना कैसे कर सकते हैं। किस प्रकार शास्त्र को दोष रहित, सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित रूप दे सकते हैं। इसका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।

शास्त्र के निर्माण की एक पद्धति होती है जिसका निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है जिसका प्रारम्भिक रूप भाषा चिन्तन है जो वर्तमान सदी में स्वयं एक स्वतन्त्र विषय बन गया है। इस पद्धति के आवश्यक उपकरणों को 'तन्त्रमुक्ति' पद से अभिहित किया गया है।

तन्त्रयुक्ति सटीक व्यावहारिक अनुप्रयोग के लिए इसके सही स्पष्ट अर्थ की व्याख्या करने के लिए तंत्र (विज्ञान) का अध्ययन करने की पद्धति या तकनीक या प्रणालीगत दृष्टिकोण है।

'तन्त्र' शास्त्र/चिकित्सा का ही पर्यायवाचक शब्द है, और 'युक्ति' का अर्थ योजना होता है। अतः 'तन्त्रयुक्ति' का अर्थ शास्त्र की योजना होता है।

'त्रायते शरीरमनेनेति तन्त्रं शास्त्रं चिकित्सा च, तस्य युक्तयो योजनास्तन्त्रयुक्तयः।
(आचार्य डल्हण)
इससे शरीर की रक्षा होती है, इसलिए यह तन्त्र है। इसे शास्त्र तथा चिकित्सा भी कहते हैं। उसकी युक्ति अर्थात् योजना 'तन्त्रयुक्ति' कही जाती है। शरीर की रक्षा शास्त्र और चिकित्सा दोनों से ही की जाती है। शास्त्र के द्वारा आध्यात्मिक तथा नैतिक पक्ष की रक्षा होती है और चिकित्सा से शरीर की रक्षा होती है।
'युक्ति' का अर्थ है– योजना, उपाय, न्याय, नीति आदि। इस प्रकार तंत्र युक्ति का शाब्दिक अर्थ है– तंत्र की योजना।

2.4.1 तन्त्रयुक्तियों का प्रयोजन

'वाक्ययोजनमर्थयोजन_च नं च। (सु. उत्तरस्थान 65/4)
वाक्य योजना और अर्थ–योजना में तन्त्रयुक्ति के प्रयोजन कहे जाते हैं। उनमें योगोद्देश निर्देश आदि वाक्य–योजना जो योजनाएँ वाक्य में शब्दों के हेरफेर, अन्वय आदि पर बल देती हैं तथा अधिकरण पदार्थादि तन्त्र–योजना– जो योजनाएँ लीन अर्थ को प्रकाशित करती अथवा असंगत अर्थो को संगति प्रदान करती हैं। पुनः कहा है–

यथाम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा।
प्रबोधस्य प्रकाशार्थस्तथा तन्त्रस्य युक्तयः।। (सु.0. 67/5–7)

तन्त्रयुक्ति द्वारा असद्वादि प्रयुक्त वाक्यों का प्रतिषेध एवं स्ववाक्य की सिद्धि भी की जाती है। जो अर्थ व्यक्त और युक्त नहीं है, जो लीन और अनिर्मल है एवं जो कोई लेशमात्र कहे गए हैं, उन सभी की साधक तन्त्रयुक्ति हैं। जिस प्रकार कमल–वन का प्रकाशक सूर्य तथा घर का प्रकाशक दीपक है, ठीक उसी प्रकार बोध योग्य विषयों के प्रकाश के लिए तन्त्र की युक्तियाँ है। असम्बद्ध वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना और छिपे अर्थों को प्रकाशित करने में इन तन्त्रयुक्तियों का प्रयोग करते हैं। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने आन्वीक्षिकी को दीपक के समान समस्त विद्याओं का प्रकाशक माना है। चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाली जो विधियां शास्त्र में वर्णित है, उनका तन्त्रयुक्तियाँ स्पष्टीकरण करती है जबकि आन्वीक्षिकी केवल विचार के नियमों का ही प्रतिपादन करती है।
तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति–

तनोति तन्यते वा................। शब्द कल्पद्रुम
(च.सू. 30/72)

'तनु विस्तारे' धातु से 'औणादिक ष्ट्रन् प्रत्यय' के द्वारा तन्त्र शब्द की निष्पत्ति की गयी है, चुरादिगण के तनु धातु में घञ् प्रत्यय लगाने से भी 'तन्त्र' शब्द की निष्पत्ति हुयी है।

वृद्ध वाग्भट ने 'तंत्रयुक्ति' को 'युक्तिद' कहा है। जिस प्रकार स्वर्ण में जड़ा रत्न उत्तम होता है, उसी प्रकार यह शास्त्र भी छत्तीस तंत्र युक्ति पदों से अलंकृत है। इन तन्त्रयुक्तियों द्वारा वैद्य इस वाङमय तक पहुँच सकते है अर्थात् कठिन अर्थ को समझ सकते हैं।
लघु वाग्भट ने– **इति तन्त्रगुणैर्युक्तं तन्त्रदोषैर्विवर्जितम्।............स्थितम्।।** इसे

'तन्त्रगुण' कहा है।

शास्त्रज्ञान के लिए तन्त्रयुक्ति का महत्त्व–

आधीयानोऽपि शास्त्राणि तन्त्रयुक्तया बिना भिषक्।
नाधिगच्छति शास्त्रार्थानर्थान् भाग्यक्षये यथा।। च.सि. 12/48

यदि आयुर्वेद के ज्ञान को प्राप्त करने का इच्छुक पुरुष तन्त्रयुक्तियों को बिना समझे शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ कर देता है, तो वह आयुर्वेद के तात्त्विक (रहस्यमय) अर्थों को नहीं समझ सकता। जैसे भाग्य के क्षीण हो जाने पर अर्थात् दुर्भाग्य के उदय हो जाने पर मानव अर्थों (धन, सम्पत्ति आदि) को प्राप्त नहीं कर सकता, भले ही वह कितना ही परिश्रम करें। वास्तव में तन्त्रयुक्तियाँ शास्त्र को समझने की सही दिशा का निर्देश करती हैं और उसके गुप्त रहस्यों को प्रकट करने में सहायक होती है।

प्राचीनकाल में यह परम्परा थी कि शास्त्र– विशेष की रचना में सोचने के जिन विशेष तकनीकी ढंगों, व्याकरण एवं रचना की शैलियों अथवा युक्तियों का उपयोग किया जाता था ग्रन्थ के अन्त में प्रायः उनका निर्देश कर दिया जाता था। इससे उस शास्त्र को समझने में सहूलियत होती थी। चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट ने भी इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए अपने–अपने शास्त्रों में प्रयुक्त तंत्रयुक्तियों का ग्रन्थ के अन्त में उल्लेख कर दिया है। चरक के सिद्धिस्थान बारहवाँ अध्याय, सुश्रुत उत्तरतंत्र पैसठवाँ अध्याय तथा अष्टांगसंग्रह उत्तरतन्त्र पचासवाँ अध्याय में इनका उल्लेख हैं।

तन्त्रयुक्ति संख्या– सुश्रुत संहिता के उत्तर तंत्र के प्रतिसंस्कर्ता ''नागार्जुन'' महर्षि सुश्रुत (4–7वीं शती) ने बत्तीस तन्त्रयुक्तियाँ बतलायी है।

1. अधिकरण, 2. योग, 3. पदार्थ, 4. हेत्वर्थ, 5. उद्देश, 6. निर्देश, 7. उपदेश, 8. अपदेश, 9. प्रदेश, 10. अतिदेश, 11. अपवर्ग, 12. वाक्यशेष, 13. अर्थापत्ति, 14. विपर्यय, 15. प्रसंग, 16. एकान्त, 17. अनेकान्त, 18. पूर्वपक्ष, 19. निर्णय, 20. अनुमत, 21. विधान, 22. अनागतावेक्षण, 23. अतिक्रान्तावेक्षण, 24. संशय, 25. व्याख्यान, 26. स्वसंज्ञा, 27. निर्वचन, 28. निदर्शन, 29. नियोग, 30. विकल्प, 31. समुच्चय, 32. 0ह्म।

इन तन्त्रयुक्तियों द्वारा शास्त्र की गूढ़ता को ठीक से समझा जा सके। जबकि चरक संहिता के प्रतिसंस्कर्ता दृढ़बल ने सुश्रुत संहिता में वर्णित 32 तथा 4 और भी उसमें मिलाकर कुल 36 तंत्रयुक्तियों का वर्णन किया है जो निम्न है– 1. प्रयोजन, 2. प्रत्युत्सार, 3. उद्धार और 4. सम्भव।

अष्टांग संग्रह (वृद्ध वाग्भट्ट कृत 6वीं शताब्दी ईस्वी) और अष्टांग हृदय (लघु वाग्भट्ट कृत 7वीं शताब्दी ईस्वी) में चरकोत्त 36 तंत्रयुक्तियों का ही वर्णन मिलता है। नागार्जुन से पूर्व कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सुश्रुत के समान ही 32 तन्त्रयुक्तियों का वर्णन मिलता है। चरक संहिता के टीकाकार भट्टार हरिचन्द्र ने चरकन्यास में चरकोक्त 36 के अतिरिक्त 4 और भी तन्त्रयुक्तियों को समाहित कर 40 की संख्या बतायी है– 1. परिप्रश्न, 2. व्याकरण, 3. व्युत्क्रान्ताभिधान और 4. हेतु।

इस प्रकार तंत्रयुक्तियों की संख्या सुश्रुत ने 32, चरक ने 36 तथा भट्टाहरिश्चन्द्र ने 40 बतलायी है। इससे हमें यह दृष्टि प्राप्त होती है कि भारतीय शोध प्रणाली में निरन्तर विकास होता रहा है। यदि तंत्रयुक्तियों पर पुनःविचार किया जाय, तो हमें इनके स्वरूप में नये तत्त्वों को जोड़ना पड़ेगा।

तंत्रयुक्तियों का लक्षण–

1. अधिकरण (Subject Matter)–

तंत्र यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणं, यथा रसं दोषं वा।। सु.उ. 65/8

जिस विषय पर अधिकार करके कहा जाय उसे 'अधिकरण' कहते हैं– जैसे रस या दोष के आधार पर चिकित्सा प्रतिपादित की जाती है।

अधिकरण का अर्थ है मूल–विषय या विषयवस्तु। यह शब्द प्रायः निम्न दो अर्थो में प्रयुक्त होता है–

क. किसी विषयविशेष को अधिकृत कर अथवा उसे आधार बनाकर उसका विवेचन करना यथा रसाधिकार, दोषाधिकार, दीर्घजीवनीयाध्याय आदि। विषय वस्तु की व्यापकता अथवा सीमा के आधार पर इसके अन्य भेद भी सम्भव है– यथा ग्रन्थाधिकरण, अध्यायाधिकरण, प्रकरणाधिकरण, वाक्याधिकरण आदि।

ख. सामान्य रूप से कहे गये विषय को विशेष अर्थ में ग्रहण करना; यथा "कोई सात दिन पर, कोई दस दिन पर औषधि देने का आदेश देते हैं"– प्रसंग वश इसे ज्वराधिकार में ग्रहण करना।

2. योग (Arrangement)–

योग का अर्थ है– "व्यवस्था" "सम्बन्ध" या "जोड़"। जब छितराए हुए पदों का अर्थ की दृष्टि से व्यवस्थित कर पास–पास बैठाया जाता है या प्रसंगोचित अर्थ को प्रकाशित करने के लिए उनका अर्थान्वय किया जाता है तो उसे योग कहते हैं। उदाहरण के लिए 0पर दिये गये श्लोक में ठीक–ठीक अर्थ करने के लिए "तैलं सिद्धं पिवेत्" को एकसाथ लेना होगा जबकि इसमें तैलं शब्द प्रथम पाद में और सिद्धं शब्द तृतीय पाद में आया है। योग योजना है। व्यस्त अर्थात् पृथक्–पृथक् कहे हुए, पदों को एक साथ इकट्ठा करना 'योग' है। जैसे प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण, उपनय और निगमन।

3. पदार्थ (Import of term)–

पद के अर्थ को पदार्थ कहते हैं। प्रत्येक पद का अपना अर्थ होता है : अपनी विषयवस्तु होती है जिसकी ओर वह इंगित करता है; जिसके लिए उसका प्रयोग किया जाता है। पद एकार्थक भी होते है और अनेकार्थक भी। किसी भी सूत्र अथवा वाक्य में पद का जो अभीष्ठ अर्थ होता है अथवा जिसके लिए उसका प्रयोग किया जाता है, उसे पदार्थ कहते हैं।

4. हेत्वर्थ (Extension of Argument)–

जो अन्यत्र कहा हुआ विषय कही हुयी बात जब दूसरे प्रसंगों में भी उसी प्रकार कार्य करती है तो उसे हेत्वर्थ कहते है। जैसे जल से मिट्टी का पिण्ड क्लेद युक्त हो जाता है वैसे ही दुग्ध सेवन से व्रण क्लेद युक्त हो जाता है। यहाँ पर बाह्य के दृष्टान्त से आश्यन्तर की सिद्धि की गयी है। अन्य के लिए कही हुई जो बात दूसरे अर्थ को सिद्ध करती है, उसे हेत्वर्थ कहते है। यथा– पानी से मिट्टी का ढेला गीला होता है उसी प्रकार उड़द, दूध आदि से व्रण भी क्लेदयुक्त होता है।

चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में

जो अन्यत्र कहा हुआ विषय कही हुई बात जब दूसरे प्रसंगों में भी उसी प्रकार कार्य करती है तो उसे हेत्वर्थ कहते हैं। जैसे समान गुण द्रव्य के अभ्यास से धातुओं की वृद्धि होती है। उसी प्रकार रस धातु से आवश्यकतानुसार सभी धातु अपने अपने पोष्य अंशो को ग्रहण कर अपने–अपने स्थान पर चले जाते है।

16– एकांत तन्त्रयुक्ति

''सर्वत्र यदवधारणोनोच्यते स एकान्तः।'' यथा –
मदनफलं वामयति (एव) 123

सर्वावस्था में होने वाली जो बात निश्चयात्मक रूप में कही जाय, अर्थात जो बिना विकल्प के निश्चित रूप से कही जाय वह एकांत है। जैसे– निशोथ विरेचन करता है। मदन फल वमन कराता है। इसके विपक्ष में कुछ की कहकर इसका खण्डन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार यदि कहा जाता है कि ''सूर्योदय पूर्व दिशा में होता है'' तो यह एकान्त्र है।

प्रयोग

5. **उद्देश (Concise Statement)–**

'समासवचनमुद्देशः। यथा शल्यमिति'। (सु.उ. 65/12)

किसी बात को विस्तार से न कह कर संक्षेप में कह देना उद्देश है। जैसे– सभी पीड़ा पहुँचाने वाले को शरीर अथवा आगन्तुक भेद से यह न कह कर कि पीड़ाकर शारीरिक दोष अथवा आगन्तुक कारण है केवल 'शल्य' कह दिया जाय।

उद्देशो नाम सङ्क्षेपाभिधानम्। (चक्रपाणि)

संक्षेप में कहीं बात को 'उद्देश' कहते है।

6. **निर्देश (Amplification/enlUrgement)–**

विस्तरवचनं निर्देशः। यथा शारीरमागन्तुकं चेति।।– सु.उ. 65/13

विस्तरेण भाषणं निर्देशः इत्यर्थः।'' डल्हण (सु.उ. 65/13)

विस्तार से कहने का नाम निर्देश है, यथा– शारीरशल्य, आगन्तुजशल्य अर्थात् शल्य दो प्रकार का है– प्रथम शारीर शल्य; द्वितीय आगन्तुक शल्य।

7. **उपदेश (Injunction)–**

एवमित्युपदेशः। यथा– तथा न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत्। (सु.उ. 65/14)

इस प्रकार से करे ये उपदेश है। जैसे– रात्री में जागना नहीं चाहिए और दिन में सोना नहीं चाहिए।

उपदेशोंनामप्तानुशासनम्। (चक्रपाणि)

आप्तपुरुषों के अनुशासन हि उपदेश है।

8. **अपदेश (Adducement of reason)–**

अनेन कारणेनेत्यपदेशः, यथाऽपदिश्यते– मधुरः श्लेष्माणमभिवर्धयतीति।।15।।

(सु.उ. 65/15)

अनेन कारणेनेति कार्य प्रति हेतुकथनमुपदेश इत्यर्थः। (डल्हण)

इस कारण से यह कार्य हुआ है, या होता है, ऐसा कहना अपदेश है।

यथा– कहते है कि मधुर रस कफ को बढ़ाता है।

'यत्प्रतिज्ञातार्थ साधनाय हेतुवचनम्'। (चक्रपाणि)

प्रतिज्ञात विषय की सिद्धि के लिए जो कारण रूप वचन कहा जाता है, वह अपदेश है।

9. **प्रदेश लक्षण (Appeal to a president)–**

प्रकृतस्यातिक्रान्तेन साधनं प्रदेशः। यथा– देवदत्तस्यानेन शल्यमुद्धृतं तथा यज्ञदत्तस्याप्ययमुद्धरिष्यतीति।। सु.उ. 65/16

प्रकृत वस्तु के भी आगे जाकर सिद्ध करने का नाम प्रदेश है। यथा– इसने देवदत्त का शल्य निकाला है, इसी प्रकार यज्ञदत्त का भी शल्य निकाला।

10. **अतिदेश (Prosticedent to extended application)–**

प्रकृतस्यानागतस्य साधनमतिदेशः यथा– यतोऽस्य वायुरूर्ध्वमुत्तिष्ठते तेनोदावर्ती स्यादिति।।17।। (सु.उ. 65/17)

प्रकृत अथवा वर्तमान लक्षणों के आधार पर अनागत (भविष्य में होने वाले) रोग की सम्भावना। जैसे– किसी रोगी में वात की उर्ध्वगति को देखकर भविष्य में उसे उदावर्त से पीड़ित होने की सम्भावना करना।

11. **अपवर्ग (Exception)–**

अभिव्याप्यापकर्षणमपवर्गः, यथा– अस्वेधा विषोपसृष्टाः, अन्यत्र कीटविषादिति।।18।। (सु.उ. 65/18)

किसी भी विषय का व्यापक रूप से निषेध या विधान कर उसमें से किसी एक अंश को उसमें से निकाल देना। सामान्य भाषा में यह 'अपवाद' भी कहा जाता है। जैसे– विष सेवी का स्वेदन नहीं करते हैं किन्तु कीटविष का स्वेदन का स्वेदन करते है या बासी अन्न अखाद्य है, किन्तु मांस और हरित् शुष्क साग को छोड़कर।

12. **वाक्यशेष (Supply of Clipsis)–**

जब किसी पद के न कहने पर भी उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है तब इसे वाक्यशेष कहते है, जैसे– शिर, पाणि, पाद आदि कहने पर पुरुष कहे बिना भी पुरुष के ही अंग है ऐसा ज्ञान होता है।

13. **अर्थापत्ति (Implication)–**

जो न कहा हुआ भी अर्थ से प्रतिपादित होता है, उसको अर्थापत्ति कहते हैं यथा– चावल खा0ंगा यह कहने से अर्थ से समझ लिया जाता है कि, यह यवागू नहीं पीना चाहता।।20।।

दूसरा उदाहरण– रात में दही नहीं खाना चाहिये यह कहने पर दिन में दही खाना चाहिये यह बोध हो जाता है।

14. **विपर्यय (Reversed opinion)–**

यद्यत्राभिहितं तस्य प्रातिलोम्यं विपर्ययः।

यथा–कशाल्पप्राणाभीरवो दुश्चिकित्स्या इत्युक्ते विपरीतं गृह्यते दृढादयः सुचिकित्स्य इति।।21।। सु.उ. 65/21

जो कहा जाये उसके विपरीत का नाम 'विपर्यय' है। जैसे– कृश, अल्प प्राण एवं भीरू पुरूष दुश्चिकित्स्य होते हैं। यह कहने पर विपरीत रूप में यह समझ लिया जाता है कि दृढ़, बहुप्राण और निडर व्यक्ति

सुचिकित्स्य होते है।

15. प्रसंग (Restatement)–

पूर्वोक्त अर्थ का प्रकरण में आ जाने से पुनः कहना प्रसंग कहलाता है या प्रकरणों के बीच में जो विषय बार–बार कहा जाता है– समाप्त किया जाता है, उसे प्रसंग कहते हैं। जैसे– **पंचमहाभूतशरीरीसमवाय पुरूष** है, उसी में सभी शारीरिक क्रियायें होती है, और चिकित्सा का अधिष्ठान है (सु.सू. 1/1), यह कहकर उसे पुनः **'भूतचिन्ताशारीर'** (सु.शा. 1) में प्रकरणवश उद्‌धृत करना प्रसंग कहा गया है और वही कर्म पुरूष चिकित्सा में अधिकृत है।

16. एकान्त (Categorical/Certanity Statement)–

(सर्वत्र) यदवधारणोनोच्यते स एकान्तः यथा– त्रिवृद्विरेचयति, मदनफलं वामयति (एव)।।23।। सु.उ. 65/23

जो बिना विकल्प के निश्चित रूप से कहा जाता है, वह एकान्त है। जैसे– निशोथ विरेचन करता है, मदन फल वमन कराता है।

17. अनेकान्त (Compromising Statement)–

कहीं ऐसा और कहीं दूसरा ऐसा यानि दो पक्षों में से एक का भी निश्चय न होना अनेकान्त कहा जाता है। जैसे– कोई आचार्य कहते है कि द्रव्य प्रधान है, कोई रस को, कोई वीर्य को और कोई विपाक को प्रधान मानते है।

1. **चिकित्सकीय विधि में–**

   यदि किसी व्यक्ति को कोई रोग। बिमारी हो गयी हो तो वह व्यक्ति जिस भी चिकित्सा के विभाग में जाता है तो उसे चिकित्सा विशेषज्ञों द्वारा उसे उस प्रकार की इलाज बतायी जाती है, जैसे– आयुर्वेद पद्धति आयुर्वेदिक चिकित्सा को बताएगा, होम्योपैथिक पद्धति होम्योपैथिक विधि इत्यादि। इस प्रकार अनेकान्त पद्धति का प्रयोग हमें चिकित्सा के क्षेत्र में देखने को मिलता है।

2. **अन्वेषण विधि में**

   अनेकान्त तन्त्रयुक्ति का प्रयोग हमें अन्वेषण विधि में व्यापक रूप से मिलता है। हम किसी भी प्रकार का शोध जब करते है चाहे वह सामाजिक विषयों पर हो, तकनीकी विषयों पर हो या किसी अन्य विषय पर आधारित हो। हमारे पहले विभिन्न

18. पूर्वपक्ष (Objection)–

आक्षेपापूर्वकप्रश्न को पूर्वपक्ष कहते हैं, जैसे– वातजन्य चार प्रमेह किस कारण से असाध्य होते हैं।

19. निर्णय (Decision)–

पूर्वपक्ष के उत्तर को अथवा विचारपूर्वक विषय की स्थापना का निर्णय कहते हैं। जैसे– वायु शरीर की धातु (वसा, मज्जा और मेद) को दूषित कर वस्ति में जाकर वसा, मेद और मज्जायुक्त से मिला मूत्र वायु त्याग करता है, इसलिए वातजन्य प्रमेह असाध्य है।

20. अनुभत (Concession/Approval Others Opininon)–

दूसरे मत को स्वीकार करना (विरोध न करना) अनुमत है। जैसे– दूसरा

कहे सात रस हैं, इसका विरोध न करने से किसी भी प्रकार में सहमत होना अनुमत है।

21. विधान (Right Order)–

प्रकरण के अनुसार कहने का नाम विधान है। जैसे– टांग के मर्म ग्यारह प्रकरण के अनुसार कह दिये हैं।

22. अनागतावेक्षण (Prospective references)–

भविष्य में अर्थात् आगे कहा जाने वाला विषय 'अनागतावेक्षण' है। जैसे– श्लोक (सूत्र) स्थान में किसी विषय के बारे में कहा जाये कि इसे चिकित्सा स्थान में कहा जायेगा।

23. अतिक्रान्तावेक्षण (Retrospective References)–

जहाँ पूर्व में कहे गये विषय वर्णित हो वही अतिक्रान्तावेक्षण है। जैसे– श्लोक स्थान में जैसा कहा है, उसे चिकित्सा में वैसा ही बोला जाये। जैसे– चिकित्सा में कहे कि– श्लोकस्थान में जैसा कहा है।

चरक सि स्थान में **'अतिक्रान्तावेक्षण'** के स्थान पर **'अतीतावेक्षण'** नाम मिलता है, इसे संग्रहकार भी इसी नाम से जानते हैं। किन्तु सु.उ. तंत्र में अतिक्रान्तावेक्षण नाम ही दिया गया है।

24. संशय (Doubt)–

हेतु का दोनों में घटना संशय है। जैसे– तलहृदय (मर्म) पर चोट लगना प्राणहर है, जबकि हाथ पैर का काटना प्राणनाशक नहीं है।

25. व्याख्यान (Explanation)–

किसी विषय का अतिशय रूप से वर्णन करना व्याख्यान है। जैसे– सुश्रुत संहिता में पच्चीस तत्त्व वाले पुरूष का आख्यान किया गया है, दूसरे आयुर्वेद तंत्रों में भूतादि को अहंकार से प्रारम्भ करके (अव्यक्त से नहीं) व्याख्यान किया जाता है।

26. स्वसंज्ञा (Technical Terminology)–

अन्य शास्त्रों में सामान्य रूप से न पायी जाने वाली लेकिन अपने शास्त्र के अनुकूल किसी वस्तु के नामकरण या संज्ञा प्रदान करने को 'स्वसंज्ञा कहते है। जैसे– आयुर्वेद में मधु घृत के लिए मिथुन संज्ञा, हरड़, बहेड़ा और ऑवला के लिए त्रिफला संज्ञा दी गयी है।

शास्त्रकार व्यवहार के लिए अपने शास्त्र में सीमित संज्ञाएँ बना लेते हैं, जो अन्य शास्त्रों में नहीं प्रचलित होती या अन्यत्र उनका अर्थ दूसरा होता है। जैसे– घी–तैल के लिए 'यमक' संज्ञा दी गयी है। इसी प्रकार घी–तैल–वसा–मज्जा के लिए आयर्वुेद में 'महास्नेह' की 'स्वसंज्ञा' दी गयी है।

27. निर्वचन (Certain)–

निश्चित रूप से बताना 'निर्वचन' कहलाता है; जैसे– जिस शास्त्र के आदेशों के पालने से आयु का लाभ होता है वह आयुर्वेद कहलाता है **(आयुर्विद्यतेऽस्मिन्ननेन)** या जिससे आयु के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है **(आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः)**, वह आयुर्वेद है।

28. निदर्शन (Analogy)–

जहाँ दृष्टान्त के द्वारा अर्थ समझ में आता हो वह 'निदर्शन' कहलाता है;

जैसे– अग्नि हवा के सम्पर्क में आने से वृद्धि को प्राप्त होकर तृणादि (घास–फूस) के ढेर को जला देती है उसी प्रकार वात, पित्त और कफ दोष के प्रकोप से व्रण (Boil/Ulcer) में विकार की वृद्धि होती है।

विमर्श– चक्रपाणि ने 'निदर्शन' की यह परिभाषा की है कि 'जिसके द्वारा विद्वान् और मुर्ख व्यक्ति भी विषय को भली प्रकार समझ सके वह निर्देशन है; जैसे– विष, शस्त्र और अशनि (वज्र) अज्ञानता के कारण प्राणनाश कर देते हैं उसी प्रकार औषध भी अज्ञानता में प्रयुक्त किये जाने पर प्राणहर होती है।

29. नियोग (Mission/Official or Authoriative instructions)–

इदमेव कर्त्तव्यमिति नियोगः। यथा– पथ्यमेव भोक्तव्यमिति।।37।। सु.उ. 65/37

'यही करना चाहिए', इस प्रकार का आदेश 'नियोग' कहलाता है। जैसे– पथ्य भोजन का ही सेवन करना चाहिए।

30. समुच्चय (Aggregation)–

अनेक विषयों का एक ही साथ समावेश करना 'समुच्चय' कहलाता है। जैसे मांसवर्ग में हरिण का मांस एवं एणमृग का मांस प्रधान होता है, वैसे ही तित्तिर, शारंग, लावा आदि पक्षियों का मांस भी प्रधान होता है।

31. विकल्प (Alternative & Option)–

जहाँ बात को द्विविधा के साथ कहा जाता है, उसे 'विकल्प' कहते है। जैसे– या तो मांसरस और भात खाना चाहिए या घृतयुक्त यवागू का सेवन करना चाहिए।

32. उह्य (Deduction)–

किसी ग्रन्थ में जो विषय शब्दतः का उल्लेख नहीं कहा गया हो, किन्तु बुद्धि से तर्कपूर्वक उस विषय को समझ लिया जाये उसे '0ह्य' कहते हैं। जैसे अन्न चार प्रकार का बताया गया है– भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और पेय। यदि किसी स्थान पर अन्नपान के प्रसंग में दो अन्न का उल्लेख है तो वहाँ स्वबुद्धि से अन्य शेष दो का ग्रहण कर लिया जाता है। चार प्रकार के आहार का प्रचलन कम और दो प्रकार के आहार का प्रचलन अधिक है। अतः द्वित्व (अन्न–पान) प्रसिद्ध है। और भी– अन्न कहने से भक्ष्य और पान कहने से लेह्य का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि ठोस होने से अन्न का भक्ष्य से और दूव होने से पेय का लेह्य से साधर्म्य है।

विशेष– आचार्य सुश्रुत ने 32 तन्त्रयुक्तियों का वर्णन किया है। आचार्य चरक ने उनके साथ 4 अन्य तन्त्रयुक्तियों को जोड़ा है, जिससे उनकी संख्या 36 हो गयी, वे हैं– 1. प्रयोजन, 2. प्रत्युत्सार, 3. उद्धार और 4. सम्भव। भट्टारहरिचन्द्र ने– 1. परिप्रश्न, 2. व्युत्क्रान्ताभिधान, 3. व्याकरण और 4. हेतु– इन चार अतिरिक्त तन्त्रयुक्तियों का वर्णन किया है। किन्तु चक्रपाणि आचार्य का कहना है कि इन चारों तन्त्रयुक्तियों का पूर्वोक्त तन्त्रयुक्तियों में अन्तर्भाव हो जाता है, जैसे– परिप्रश्न का उद्देश में, व्याकरण का व्याख्यान में, व्युत्क्रान्ताभिधान का निर्देश में और हेतु का प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तोपदेश इन प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतएव चरकाचार्य ने अलग

से इनके वर्णन की आवश्यकता नहीं समझी है। चरकोक्त जिन 4 अधिक तन्त्रयुक्तियों का नामोल्लेख किया गया है उनका विवरण इस प्रकार है–

1. प्रयोजन (Purpose)–

प्रदेशोद्देशनिर्देशवाक्यशेषाः प्रयोजनम्। उपदेशापदेशातिदेशार्थापत्तिनिर्णयाः।।42।। (च.सि. 12/42)

जिस उद्देश्य के लिए शास्त्र की रचना होती है अथवा जिस लक्ष्य की सिद्धि के लिए किसी कार्य का आरम्भ किया जाय, वह लक्ष्य प्रयोजन कहलाता है। जैसे– **धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्'** (च.सू. 1)। यहाँ आयुर्वेद का प्रयोजन शरीर में धातुसाम्य– स्थापन कहा गया है।

2. प्रत्युत्सार (Rebuttal/DisclEimer/Disproof)–

प्रत्युत्सारस्तथोद्वारः सम्भवस्तन्त्रयुक्तयः।

प्रमाण और युक्ति के द्वारा दूसरे के मत का खण्डन करना 'प्रत्युत्सार' कहलाता है। जैसे वायोविद् आचार्य ने जब तक कहा कि पुरूष की उत्पत्ति रस से होती है और रोगों की भी उत्पत्ति रस से ही होती है तब हिरण्याक्ष ने कहा कि आत्मा रसज नहीं है। यह प्रत्युत्सार का उदाहरण है।

3. उद्वार (Reaffirmation/Reasserting)–

दूसरे के मत का खण्डन करके अपने पक्ष का समर्थन करना 'उद्वार' कहलाता है। जैसे– पुरुष एवं रोगों की उत्पत्ति के सम्बन्ध की सम्भाषागोष्ठी में अन्य मतों का खण्डन कर यह कहना कि जिन भावों की समृद्धि से पुरूष की उत्पत्ति होती है, उन्हीं भावों की विपन्नता से रोगों की उत्पत्ति होती है।

4. सम्भव (Possibility)–

जो वस्तु जहाँ से उत्पन्न होता है, वह उस उत्पन्न होने वाले को 'सम्भव' कहलाता है। जैसे– मुख/मुह के 0पर व्यंग, नीलिका आदि रोग होते हैं और मुख इनकी उत्पत्ति का स्थान होने से 'सम्भव' कहा जाता है।

तन्त्रगुण–

चरक संहिता, विमानस्थान, अध्याय 8 में शास्त्रपरीक्षा का निर्देश किया गया है। इसके अन्तर्गत यह बतलाया गया है कि ग्राह्य शास्त्र के कौन–कौन से गुण होते है। यहाँ चरकसंहिता, विमानस्थान अ. 8/3 के आधार पर तन्त्र के ग्रहणीय निम्न गुण निर्धारित किये गये है– 1. समुदृद्यशस्विधीस्पुरूषासेवितम्, 2. अर्थबहुलम्, 3. आप्तजनपूजितं, 4. त्रिविधशिष्यबुद्धिहितम्, 5. अपगतेपनरूक्तदोषम्, 6. आर्ष, 7. सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमम्, 8. स्वधारम्, 9. अनवपतितशब्दम्, 10. अकष्टशब्दम्, 11. पुष्कलरभिधानम्, 12. क्रमागतार्थम्, 13. अर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानम्, 14. स"तार्थम्, 15. असङ्कुलप्रकरणम्, 16. आशुप्रबोधकं, 17. लक्षणवच्च, 18. उदाहरणवच्च। इस प्रकार चरक संहिता के अनुसार वर्णित शास्त्रपरीक्षा के आधार पर उपर्युक्त तन्त्रगुणों का उल्लेख किया गया है, जिसका वर्णन किया जा रहा है।

1. **समुद्द्यशस्विधीरपुरूषोसेवितम्–** जिस शास्त्र के विषय में यह धारणा हो

जाए कि शास्त्र महान है, इसे यशस्वी धीर पुरूष पढ़ते है और प्रयोग में लाते हैं, इसमें उत्तम विचार हैं, इसका विद्वज्जन यथार्थवक्ता लोग सम्मान करते है।

2. **अर्थ बहुलम्–** अर्थ की अधिकता अर्थात् स्पष्ट हो।
3. **आप्तजनपूजितं–** आप्त पुरूषों द्वारा पूजित हो।
4. **त्रिविधशिष्यबुद्धिहितम्–** तीनों प्रकार के शिष्यों (उत्तम, मध्यम और अल्पबुद्धि वाले) के लिए लाभप्रद हो।
5. **अपगतपुनरूक्तदोषम्–** पुनरूक्त (एक ही बात को बार–बार कहना) दोष से रहित हो।
6. **आर्ष–** ऋषियों ने बनाया हो।
7. **सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमम्–** सम्यक् रूप से लिखा गया, सूत्र–भाष्य और संग्रह के क्रम में हो अर्थात् जिस संग्रह को पहले रखना हो उसे पूर्व में व बाद वाले विषय को उत्तर स्थल में रखा गया हो।
8. **स्वाधारम्– 'स्वाधारम् शोभनाभिधेयम्'–चक्र**। अर्थात् तन्त्र सुन्दर अथवा लाभकारी विषयों से युक्त हो। '**शोभनाभिधेयम्**' से शुभ विषयों या शुभ विषयों या शुभ अभिधेय का तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए। आयुर्वेद में शुभ का अर्थ 'कल्याणकारी' ग्रहण किया जाता है। अतः 'स्वाधारम्' से कल्याणकारी विषयों से युक्त होना समझना चाहिए।
9. **अनवपतितशब्दम्–** तन्त्र अशिष्ट और अश्लील शब्दों से रहित हो।
10. **अकष्टशब्दम्–** जिसके उच्चारण में कष्ट न हो ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया हो।
11. **पुष्कलाभिधानम्–** विषय का वर्णन अधिक रूप में किया गया हो अर्थात् विषयवस्तु का वर्णन विस्तृत रूप में किया गया हो ताकि विषया या ग्रन्थकर्ता का अभिप्राय स्पष्ट हो जाए। जैसे 'त्रिसूत्र' कह देने पर सम्पूर्ण विषय का बोध नहीं होता। अतः चरकसंहिता में हेतु, लि" व औषध 'त्रिसूत्र' का वर्णन यथास्थान विस्तृत रूप में किया गया है, जिससे विषय–बोध हो जाता है।
12. **क्रमागतार्थम्–** का तात्पर्य यह है कि प्रकरणानुसार विषय क्रम में वर्णित हो जो परम्परागत बताया गया है।
13. **अर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानम्–** तन्त्र में विषयों के तत्त्व यानि यथास्वरूप का वर्णन प्रधानता के साथ किया गया हो अथवा विषयों का तत्त्व–विनिश्चय करने में प्रधान तन्त्र या ग्रन्थ माना जाता हो।
14. **स"तार्थम्–** का तात्पर्य यह है कि पूर्व व बाद के वाक्यों में विरोध न हो। इस तरह के प्रकरण के अनुसार विषय वाला शास्त्र होना चाहिए। जिस तरह के प्रकरण हो उसके अनुसार ही उस प्रकरण में विषयों का वर्णन किया गया हो, इसे संगतार्थ कहा जाता है।
15. **असङ्कुलप्रकरणम्–** जिसमें प्रकरणानुसार विषय हो। प्रथम प्रकरण का कोई विषय दूसरे प्रकरण में एवं दूसरे का तीसरे में न कहा गया हो। यथा– रोग प्रकरण में द्रव्यादि का वर्णन न हो, उसी प्रकार रस प्रकरण में कर्म या रोगों का वर्णन न हो। इसे असङ्कुलप्रकरणम् कहा जाता है।

16. **आशुप्रबोधकं–** तन्त्र/ग्रन्थ इस प्रकार के विषय, भाषा, शैली आदि से युक्त हो जिसके पढ़ने से शीघ्र ही वह समझ में आ जाए, इसे ही आशुप्रबोधकं कहा जाता है।
17. **लक्षणवच्च–** तन्त्र या ग्रन्थ में विषयों के लक्षणों (परिभाषाओं) का यथोचित रूप में व यथास्थान वर्णन हो।
18. **उदाहरणवच्च–** जिसमें विषयों को उदाहरण से स्पष्ट किया गया हो।

तन्त्रदोष

तन्त्रदोष के ज्ञान की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए तन्त्रयुक्ति में शंकर शर्मा कहते है कि अंगों का दुष्टलक्षणों से रहित होना यानि दोष का अभाव होना ही अंग का आभूषण कहा जाता है। इसलिए दोषों का अलंकार से सम्बन्ध होने के कारण दुर्लक्षणों का ज्ञान अति आवश्यक है; क्योंकि जब तक इन दोषों का ज्ञान नही होगा तब तक शास्त्र से दोष को दूर नहीं किया जा सकता। इस प्रकार दोषज्ञान के आधार पर शास्त्र के दोष को दूर कर शास्त्र का सम्यक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। भिन्नक्रम दोषयुक्त विषयों का ज्ञान होने पर उसे यथाक्रम किया जा सकता है तथा संदिग्ध का समाधान किया जा सकता है।

इस प्रकार तन्त्र दोष का ज्ञान भी अति आवश्यकत है ताकि यह निर्धारित किया जा सके कि किस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए या किस ग्रन्थ का अध्ययन नहीं करना चाहिए।

सभी पारम्परिक ग्रन्थ व्यावहारिक शास्त्र है, अतः इनकी रचना में भी अनेक दोषा आ सकते हैं। विषय के प्रतिपादन, गुढ़ार्थ ज्ञान और शास्त्रों के ज्ञान के लिए इन दोषों का ज्ञान भी आवश्यक है। जो तंत्रों को दूषित करे उसे तंत्र दोष कहते हैं। महर्षि चरक ने विमानस्थान अध्याय 8 में निम्न पाँच तंत्र वाक्य दोषों का वर्णन किया है–

वाक्यदोष– तत्पश्चात् वाक्यदोष का परिचय प्रस्तुत है– वाक्यदोष उसे कहते हैं, जो किसी अर्थ में न्यून (अपने अभिधेय का निर्वाह करने में कुछ कम समर्थ हो), अधिक (आवश्यकता से अधिक), अनर्थक, अपार्थक तथा विरूद्ध हो। इन दोषों के बिना वाक्य के स्वाभाविक अर्थ की हानि नहीं होती। इनका क्रमशः परिचय इस प्रकार है–

1. **न्यून–** जिस वाक्य में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन (जिनकी व्याख्या 0पर इसी अध्याय में की गयी है) में से किसी एक की भी कमी हो तो उसमें न्यूनत्व दोष होता है। अथवा जो विषय अनेक प्रकार के उपदेशों से सिद्ध होता हो, उसको यदि एक ही हेतु से सिद्ध किया जाता हो तो वह भी न्यूनत्व दोष है।
2. **अधिक–** न्यूनत्व दोष के लक्षणों से विपरीत को अधिकत्व दोष कहते हैं। अथवा आयुर्वेदीय विषय की व्याख्या के अवसर पर बार्हस्पत्य, औशनस या अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को उद्धृत करना। अथवा उस प्रसंग में जो कुछ भी असंबद्ध बात कही जाय, अथवा सम्बन्धित विषय को भी दो बार कहना, वह पुनरूक्त दोष होने के कारण अधिकत्व दोष होता है। वह पुनरूक्त (एक ही बात को दो बार कहना) भी दो प्रकार का होता है– **1. अर्थपुनरूक्त** और **2. शब्दपुनरूक्त।** अर्थपुनरूक्त का उदाहरण– भेषज, औषध और साधन (रोगशमन साधन) ये तीनों शब्द आयुर्वेद में

समानार्थक हैं। शब्द पुनरूक्त का उदाहरण– भेषज, भेषज। उक्त दोनों पुनरूक्त के उदाहरणों में भेषज के बाद औषध तथा साधन का दूसरे में द्वितीय भेषज शब्द का प्रयोग पुनः उक्त है, जो दोष है।

3. **अनर्थक–** उस अक्षरसमूह मात्र को अनर्थक कहते है; जिससे किसी अर्थ की सिद्धि न होती हो। जैसे– पÃावर्ग **(1. कवर्ग, 2. चवर्ग, 3. टवर्ग, 4. तवर्ग, 5. पवर्ग)** की भांति जो किसी अर्थ के लिए ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी को साहित्यशास्त्र में 'निरर्थकदोष' कहा गया है। जैसे– च, वा, तु, हि इन अक्षरों का गद्य या पद्य में व्यर्थ प्रयोग।
4. **अपार्थक–** इसमें शब्द तो सार्थक होते हैं किन्तु इनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होता है, जैसे– चक्र, नक्र, तक्र, वंश, वज्र, निशाकर। ये सार्थक शब्द अनुचित संयोजन के कारण स्वयं अपगत अर्थ वाले हो गये हैं।
5. **विरूद्ध–** जो विषय दृष्टांत, सिद्धान्त या समय के विपरीत होते हैं। यह तीन प्रकार का होता है– **क. सिद्धान्त विरूद्ध, ख. दृष्टांत विरूद्ध और ग. समय विरूद्ध कथन।**

क. सिद्धान्त विरूद्ध– भेषज असाध्य रोगों को दूर करने में समर्थ है।

ख. दृष्टांत विरूद्ध– अग्नि वैसे ही उष्ण है जैसे– जल।

ग. समय विरूद्ध– यह तीन प्रकार का है–

घ. आयुर्वेदिक विरूद्ध– चिकित्सा के चतुष्पाद (भिषक, औषध, उपस्थाता, परिचारक) और रोगी भेषज है। किन्तु यह कहना कि चतुष्पाद भेषज नही है यह 'आयुर्वेदिक समय विरूद्ध' है।

ङ याज्ञिक समय विरूद्ध– यज्ञ में पशुओं की बलि देनी चाहिए यह 'याज्ञिक समय' है, किन्तु यज्ञ में बलि का न देना 'याज्ञिक समय विरूद्ध' है।

च. मोक्षशास्त्रिक समय विरूद्ध– सभी प्राणियों से अहिंसा का व्यवहार मोक्षशास्त्रिक है किन्तु यह कहना कि सभी प्राणी बध्य हैं, यह 'मोक्षशास्त्रिक समय विरूद्ध' है।

2-5 सारांश

वैदिक ज्ञान से आजतक के ज्ञान के निरन्तर प्रवाहमान परम्परा से स्पष्ट है कि भारत में प्राचीनकाल से ही अनुसंधान एवं अनुसंधान पद्धतियों की परम्परा अस्तित्व में थी जिसे तन्त्रयुक्ति कहा जाता था। वह श्रृंखला मध्यकाल में प्रभावित हुई थी। आज यह आवश्यकता है कि प्राचीन अनुसंधान पद्धतियों पर विचार करके नयी अनुसंधान पद्धति प्राप्त करें तथा इनका प्रयोग करें जिससे भारतीय ज्ञान परम्परा की समग्रतावादी व्यवहार विज्ञान प्राप्त हो सकें। प्राचीन अनुसंधान पद्धति तथा आधुनिक अनुसंधान पद्धतियों में समन्वय बैठाया जा सकें।

2-6 ikfjHkkf"kd 'kCnkoyh

अपवर्ग – समाप्ति, जलप्राप्ति, अपकर्षण

वाक्यशेष – अपूर्ण वाक्य।

विपर्यय – विपरीत अर्थ की कल्पना करना।

विधान – क्रम से रखना, व्यवस्था अनागतवेक्षण – जो विषय सामने नहीं

आया है, उस पर करना।
अतिक्रांतावेक्षण – बीती हुई बातों पर पुनः विचार करना।
स्वसंज्ञा – अन्य शास्त्रों के समान न होना ही 'स्वसंज्ञा' है।
निदर्शन – दृष्टान्व देकर विषय को स्पष्ट करने का नाम निर्देशन है।
उपदेश – विशिष्ट निर्देशन

2-7 lUnHkZ xzUFk

1. चरकसंहिता
2. कौटिल्य अर्थशास्त्र
3. अनुसंधान संदर्शिका, प्रो. एस.पी. गुप्ता, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद
4. The Doctrine of Tantryukti डॉ डब्ल्यू के.लेले तन्त्रयुक्ति
5. प्राचीन भारत में अनुसंधान पद्धति, प्रो. ओमप्रकाश सिंह का लेख
6. तन्त्रयुक्ति, वैद्यसागर मिश्र
7. तन्त्रयुक्ति, नीलमेघ भिषगाचार्य

2-8 cks/k iz'u

1. प्राचीन भारतीय शोधप्रविधियों की विवेचना कीजिए।
2. तंत्रयुक्ति किसे कहते हैं? तंत्रयुक्ति के स्वरूप एवं वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।
3. तंत्रगुण तथा तंत्रदोष किसे कहते हैं? विवेचना कीजिए।
4. अनुसंधान से आप क्या समझते है? प्राचीन भारत के विकसित अनुसंधान प्रणाली की विवेचना कीजिए।

इकाई. 3 ग्रन्थ सम्पादन की विधियॉ

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 ग्रन्थ सम्पादन की परम्परा

3.4 ग्रन्थ सम्पादन आवश्यकता

3.5 ग्रन्थ सम्पादन के नियम

3.6 पाठभेद का निर्धारण

3.7 सारांश

3.8 पारिभाषिक शब्दावली

3.9 सन्दर्भग्रन्थ

3.10 बोध प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

विगत हजारों वर्षों से भारत वर्ष में अनेक विषयों के ग्रन्थों का निर्माण हुआ। अनेक भाषाओं में कवियों ने काव्यों की रचना कर समाज को ललित विधि से दिशा प्रदान करने का प्रयास किया। अनेक भाषाओं में और विशेषकर संस्कृत भाषा में लिखित शास्त्रीय ग्रन्थों तथा काव्यों का मूलपाठ परम्परा से प्राप्त होने पर भी अनेक स्थलों पर आज भी तर्कपूर्ण पाठनिर्धारण की अपेक्षा रखता है। इसमें कारण बनता है आचार्य या कवि के द्वारा लिखित मूल हस्तलेख का अनुपलब्ध होना और शताब्दियों के कालक्रम से इन कृतियों के मूलपाठ में अध्येताओं या लिपिकर्ताओं द्वारा समय समय पर अपनी विचारधारा या समझ के अनुसार नवीन पाठों का समावेश कर देना।

विभिन्न भाषाओं में, विशेषकर संस्कृत में, विरचित शास्त्रग्रन्थों तथा काव्यों के मूलपाठ के विवादित स्थलों का सम्पादन कर उनके मौलिक स्वरूप की रक्षा करना आज भी प्रतीक्षित है। संस्कृत भाषा में विरचित ग्रन्थों की प्रतिलिपियों का निर्माण विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित लिपियों में व्यापक रूप में किया गया। लिपियों का परिवर्तन संस्कृत ग्रन्थों में पाठभेद के संक्रमण का कारण बना। इन ग्रन्थों के सम्पादन के लिए अपेक्षित हो जाता है सम्पादक का अनेक लिपियों से परिचित होना तथा शास्त्रीय परम्परा के आधार पर अर्थसंगति के प्रति निरन्तर जागरूक रहना।

इस दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि विगत सहस्राब्दियों में संस्कृत भाषा में लिखित शास्त्रीय तथा काव्य ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों में उपलब्ध होती है अनेक पाठभेदों की विशाल परम्परा। उनमें से किसी एक का चयन कर उस ग्रन्थ के मूल के रूप की प्रतिष्ठा कर पाठक तक शास्त्र या कवि के सही अभिप्राय को पहुंचाने का दायित्व सम्पादक पर जाता है। पाश्चात्य सम्पादक तथा पाश्चात्य पद्धति में शिक्षित भारतीय विद्वान् सम्पादक सभी पाठभेदों का संग्रह कर उनका उल्लेख करने मात्र तक अपने दायित्व की इतिश्री मानते हैं, जो किसी ग्रन्थ का सम्पादन न हो डाकुमेण्टेशन मात्र कहलाता है। परन्तु भारतीय सम्पादकों की दृष्टि की विशेषता है कि अनेक पाठों में से किसी एक पाठ का चयन कर उसका मूल रूप में निर्धारण कर प्रकाशित करने में ग्रन्थ के सम्पादन की पूर्णता मानते हैं। इस हेतु प्रधान रूप से सहायक बनती है पारम्परिक ज्ञान से प्रौढ़ सम्पादक की अन्तःप्रज्ञा, जिसके विकास में कारण बनता है सम्पादन हेतु गृहीत शास्त्रग्रन्थ के विषय का गहन अभ्यास तथा विभिन्ना लिपियों का ज्ञान। प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन कार्य में संलग्न विद्वानों द्वारा उपयुक्त विधियों को अपनाया जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने ग्रन्थों के सम्पादन तथा व्याख्या पद्धति पर विचार करते हुए कतिपय सूत्र प्रदान किए हैं।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- ग्रन्थकार के सम्पूर्ण अभ्यास को ध्यान में रखकर मूलपाठ का निर्धारण करने व सम्पादक दायित्व के विषय में जान सकेंगे।
- ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय, प्रकरण तथा उसके रचयिता के अभ्यास को देखकर सम्पादक करने के विषय में जान सकेंगे।
- भारतीय परम्परा में ग्रन्थों के निर्माण के अन्नतर उनमें कालक्रम से पाठभेदों का आविर्भाव को जानेंगे।

- पाठभेदों के अध्ययन, मूलपाठ का निर्धारण/ सम्पादक के दायित्व को जानेंगे।
- ग्रन्थ सम्पादन नियमों कि समीक्षा करने में समर्थ हो सकेंगे।

3-3 x:UFk lEiknu dh ijEijk

ग्रन्थ सम्पादन की आवश्यकता पर विगत अनेक वर्षों से बल दिया जाता रहा है। वैदिक वाङ्मय की अपौरुषेयता ने वेदों के मूल स्वरूप को सुरक्षित रखा। उनमें पाठभेदजनित परिवर्तन हुए पर बहुत अधिक नहीं। पाश्चात्यों ने अपने अनुभव और शासकीय अनुरोध पर इनके अनेक अर्थ किए। पर भारतीय मनीषी टीकाकारों सायण इत्यादि ने इनके मूल रूप को सुरक्षित रखा।

अक्षरब्रह्म के रूप में वैदिक मन्त्रों की उपस्थिति और उनके शुद्ध उच्चारण से होने वाली अपूर्व की सिद्धि ने वैदिक मन्त्रों के मूल रूप में परिवर्तन नहीं होने दिया। इसके विपरीत विभिन्न शास्त्र ग्रन्थों तथा लौकिक काव्यों रामायण, महाभारत, भास, कालिदास आदि के काव्यों के प्रकाशित संस्करणों के मूलपाठ में अनेक अन्तर आज भी पाए जाते हैं। इन अन्तरों का अध्ययन कर मूल ग्रन्थ के स्वरूप का निर्धारण करने की आवश्यकता विद्वानों द्वारा समय समय पर महसूस की जाती है।

प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादित संस्करणों को अध्येताओं को अध्ययन और शोध के लिए उपलब्ध कराने के लिए विभिन्न शासकीय और अशासकीय संस्थाओं द्वारा अनेक प्रयास किए गए। भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पुणे से महाभारत का सम्पादित मूल श्री विष्णु एस. सुक्थंकर के सम्पादकत्व में सन् 1966 में प्रकाशित किया। भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र का सम्पादित मूल श्री रामकृष्ण कवि द्वारा सम्पादित कर 1956 में और महाकवि वाल्मीकि के आदिकाव्य रामायण का सम्पादित मूलपाठ प्रो0 जी. एच. भट्ट के सम्पादकत्व में 1960 में ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा से प्रकाशित हुआ। कालिदासग्रन्थावली के रूप में सम्पूर्ण कालिदास साहित्य का सम्पादित मूल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 1976 और 1986 में प्रकाशित किया गया। इसके सम्पादक रहे सनातनकवि आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी। इसका तृतीय संस्करण हिन्दी अनुवाद के साथ कालिदास संस्कृत अकादमी उज्जैन से सन् 2007 में काव्यख्यण्ड और नाट्यखण्ड के रूप में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ।

11वीं शताब्दी में धारानरेश भोजराज के नेतृत्व में निर्मित साहित्यशास्त्र के विश्वकोशात्मक ग्रन्थ – शृंगारप्रकाश का मूलपाठ अध्येताओं को अध्ययन और शोध के लिए उपलब्ध ही नहीं था। इसका सम्पादित मूल दो खण्डों में 2007 में इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र द्वारा प्रथम बार प्रकाशित किया गया। इसके सम्पादक रहे आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी और सहायक सम्पादक प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी। इसी प्रकार साहित्यशास्त्रसमुच्चय के रूप में सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र के 30 से भी अधिक मूलग्रन्थों का ग्यारह खण्डों में आचार्य प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी तथा प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी के सम्पादकत्व में प्रकाशन काशी के कालिदास

संस्थान द्वारा वर्ष 2013 से 2019 के बीच सम्पन्न किया गया।

ग्रन्थों के सम्पादन की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि अब तक विभिन्न प्रकाशन संस्थानों से इन ग्रन्थों के मूलपाठ प्रकाशित किए गए हैं। इन प्रकाशित संस्करणों का अध्ययन करने से विदित होता है कि इनके मूलपाठ में परस्पर अन्तर है। विशेषकर पुराणों के संस्करणों में अनेक अध्यायों का अन्तर मिलता है। काशी में पुराण अनुसन्धान केन्द्र रामनगर से प्रकाशित पुराण के संस्करणों और गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित संस्करणों में अनेक अध्यायों का अन्तर आज भी उपलब्ध है। वायुपुराण के संस्करण में यह अन्तर अनेक अध्यायों के क्रम के निर्धारण में कठिनाई का कारण बनता है। महाकवि बाणभट्ट द्वारा विरचित हर्षचरित आख्यायिका के अनेक संस्करण प्रकाशित हैं परन्तु उनमें मूलपाठ में बहुत अन्तर मिलता है। आचार्य कुन्तक विरचित वक्रोक्तिजीवितम् का संस्करण धारवाड, कर्नाटक से आचार्य कृष्णमूर्ति के सम्पादकत्व में प्रकाशित है और चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी से भी प्रकाशित है। दोनों ही संस्करणों में प्रकाशित वृत्तिभाग में लगभग बीस प्रतिशत तक अन्तर आज भी मिलता है। चौखम्बा से प्रकाशित संस्करण में धारवाड़ से प्रकाशित संस्करण की अपेक्षा 20 प्रतिशत मूल कम प्रकाशित है। इस अन्तर को समाप्त करना सम्पादक का दायित्व है और इन्हीं विसंगतियों को समाप्त करने के लिए आज भी संस्कृत शास्त्रों के और यहां तक की काव्यों के भी विधिवत सम्पादन की आवश्यकता है।

ग्रन्थों के सम्पादित मूलपाठ को यदि उपलब्ध कराया जाता है तो उनपर होने वाले शोधकार्यों को पूर्णता प्राप्त हो सकेगी और उनकी प्रामाणिकता पर प्रश्न नहीं उठ सकेगा। अध्येताओं की रुचि को बनाए रखने के लिए भी ग्रन्थों के विधिवत सम्पादन की आज आवश्यकता है। ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करणों का सम्पादन उनके उपलब्ध पाण्डुग्रन्थों के संकलन और उनके पाठभेदों के अध्ययन के आधार पर किया जाता है। यही विधि पूर्ववर्ती अनेक सम्पादित रूप से प्रकाशित संस्करणों में अपनाई गई है।

ग्रन्थों के मूलपाठ में अनेक पाठभेदों की उपस्थिति के अनेक कारण माने जाते हैं परन्तु इनमें सर्वप्रमुख कारण है लिपिकरों का अनवधानता से मूलपाठ की प्रतिलिपि करना। प्रकाशन के संसाधनों के अभाव में अपने हस्तलेख से ग्रन्थों की प्रतिलिपियां तैयार कराई जाती थीं। इस प्रक्रिया में कार्यरत सभी लिपिकरों का ज्ञान एक समान नहीं होता था। वे शास्त्रीय या भाषायी सूक्ष्मताओं से परिचित नहीं होते थे इसलिए सामूहिक रूप से पाण्डुलिपियों के निर्माण के समय पाण्डुग्रन्थों में पाठभेद उपस्थित हो जाते थे और वे पाठभेद कालान्तर में प्रकाशित संस्करणों व पाण्डुग्रन्थों में अभ्यास में आने लगे। इस विधि से ग्रन्थों की प्रतिलिपि कराने में असावधानी के कारण शास्त्रकार या कवि की कृतियों के मूलपाठ में अन्तर पाया जाना स्वाभाविक है।

इन कारणों में शास्त्रकार या कवि के द्वारा विरचित ग्रन्थ की मूलप्रति की अनुपलब्धता भी प्रामाणिक पाठ के निर्धारण में उत्पन्न होने वाली कठिनाई

में कारण बनती है। कहीं कहीं उपयुक्त समालोचना के विना ही अतार्किक विधि से अध्येताओं द्वारा अपने अनुरूप पाठपरिवर्तन करने से भी मूलपाठ के निर्धारण में कठिनाई उत्पन्न होती है। क्षेत्रीय परम्पराओं के प्रभाव से किए पाठपरिवर्तन भी शास्त्रकार या कवि के मौलिक अभिप्राय को समझने में कठिनाई उत्पन्न करते दिखाई देते हैं। इसलिए विद्वान् सम्पादक का दायित्व बनता है कि वह इन सभी से पनपी पाठभेदपरम्परा में से समुचित पाठ का चयन कर मूलपाठ की अर्थसंगति का निर्धारण कर प्रामाणिक संस्करण अध्येताओं को उपलब्ध कराने के लिए अपने अध्यवसाय को समर्पित करे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संस्कृतग्रन्थों के मूलपाठविषयक विसंगतियों को ध्यान में रखकर आज भी अनेक विद्वान् शास्त्रग्रन्थों के प्रामाणिक सम्पादित संस्करणों के निर्माण में प्रवृत्त दिखाई देते हैं।

3-4 xUFk lEiknu d fu;e

आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर ‘अभिनवभारती’ नामक अपनी टीका के प्रारम्भ में ही सम्पादन के नियमों का परिकर कारिकाओं के अन्तर्गत उल्लेख किया है। उनने नाट्यशास्त्र पर टीका लेखन तथा उसके सम्पादन हेतु जिस पद्धति का उल्लेख किया है उसको ही आलोचकों ने आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा अपनाए गए सम्पादन के नियमों के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार व्याख्यापद्धति या ग्रन्थ सम्पादन के नियम हैं –

उपादेयस्य सम्पाठः तदन्यस्य प्रतीकनम्।
स्फुटस्याख्या/स्फुटव्याख्या विरोधानां परिहारः सुपूर्णता।। 1.5।।

लक्ष्यानुसरणं ष्लिष्ट–वक्तव्यांशविवेचनम्।
संगतिः पौनरुक्त्यानां समाधानमनाकुलम्/समाधानसमाकुलम्।। 1.6।।
संग्रहश्चेत्ययं व्याख्याप्रकारोऽत्र समाश्रितः।। 7।।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार–

1. उपादेय पाठ का ग्रहण किया जाना।
2. अनुपादेय पाठों का परित्याग।
3. स्पष्ट व्याख्या – निगदव्याख्यातम्।
4. ग्रन्थगत विरोधों का परिहार।
5. विषय की पूर्णता का प्रतिपादन।
6. उचित स्थान पर उदाहरणों को देना।
7. उनसे सम्बद्ध वक्तव्यांश की विवेचना।
8. ग्रन्थ में प्रतीत होने वाली पुनरुक्तियों की समाधानपूर्वक संगति और
9. अनाकुल समाधान की प्रस्तुति।
10. विस्तृत विषय का संक्षेप में सङ्ग्रह।

इन नियमों को आचार्य अभिनवगुप्त ने व्याख्यापद्धति के मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य ने इस पद्धति के आधार पर भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती नामक व्याख्यान की रचना की है।

यहां आचार्य ने व्याख्यापद्धति शब्द का प्रयोग किया है। वे नाट्यशास्त्र पर व्याख्यान लिखने के संकल्प के कारण ऐसा करते हैं। इस व्याख्यापद्धति को ग्रन्थों के सम्पादन के नियमों के रूप में सम्पादकों द्वारा अपनाया जाता है। इनमें से कुछ का सम्बन्ध सम्पादन के नियमों से है। शेष को व्याख्यापद्धति के मानदण्ड माना जाता है। इनमें से अनाकुल समाधान सम्पूर्ण सम्पादन का निष्कर्ष होता है। उपलब्ध अनेक पाठभेदों में से मूलपाठ के रूप में स्वीकृत पाठ सभी के द्वारा ग्राह्य होना चाहिए यही है अनाकुल समाधान का अर्थ।

सम्पादन के इन नियमों से विदित होता है कि किसी भी ग्रन्थ के पाण्डुग्रन्थों में उपलब्ध होने वाले पाठभेदों का संग्रह करने के अन्नतर उनमें से कवि और कविता के अनुरूप समुचिततम पाठ का चयन कर मूल रूप से प्रकाशन किया जाना सम्पादक का दायित्व बनता है। अन्य पाठभेदों को पादटिप्पणी में प्रस्तुत करना चाहिए जिससे कि अध्येता उन पर चाहे तो विचार कर सकता है, परन्तु तार्किक दृष्टि से। केवल पाठभेदों को प्रस्तुत कर अध्येता को मूलपाठ के निर्धारण का अधिकार देने पर मूल के संरक्षण के स्थान पर उसके सम्बन्ध में अनेक नवीन भ्रान्तियों का उदय होना सम्भव है। अतः विद्वान् सम्पादक को कवि और उसकी कविता के प्रयोगों के आधार पर मूलपाठ के निर्धारण का तार्किक विधान कर ही किसी शास्त्रीय या काव्यग्रन्थ का सम्पादन कार्य पूर्ण कर प्रकाशन में प्रवृत्त होना चाहिए। इसी में ग्रन्थ के मूलपाठ की शुद्ध परम्परा अध्येताओं तक पहुंचायी जा सकती है।

3-5 ikBHksn dk fu/kkZj.k

आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत सम्पादन के सूत्रों पर विचार किया जाए तो उनको अपनाते हुए सम्पादकों ने ग्रन्थों के सम्पादन में अनेक विसंगतियों को दूर किया है। इन सूत्रों में कतिवय का उदाहरण पूर्वक विवेचन प्रस्तुत है–

1. **उपादेयस्य सम्पाठः** – संस्कृत भाषा में विरचित शास्त्रग्रन्थों या कवियों की रचनाओं के पाठभेदों में जो पाठ सर्वाधिक उपादेय हो उसको सम्पादक के द्वारा मूलपाठ माना जाना चाहिए।

   कुमारसम्भव के द्वितीय सर्ग में सभी देवता ब्रह्मा जी के पास जाते हैं तारकासुर के वध के निमित्त सेनानी के निर्माण की प्रार्थना करने के लिए –

   तदिच्छामो विभो! सृष्टं सेनान्यं तस्य शान्तये।
   कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः ।। 2.51 ।।

उपर्युक्त पद्य में प्रकाशित संस्करणों में **स्रष्टुं** पाठ स्वीकार किया गया है

परन्तु आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी द्वारा उज्जैन की कालिदास संस्कृत अकादमी से प्रकाशित संस्करण में **'सृष्टं'** पाठ स्वीकार किया गया है। यदि सृज् धातु से तुमुन् प्रत्यय के योग से निर्मित **'स्रष्टुं'** पाठ मानेंगे तो सेनानी के निर्माण का कर्तृत्व देवताओं में स्थित होगा और अर्थ होगा वयं स्रष्टुमिच्छामः। यदि क्तप्रत्ययान्त **'सृष्टं'** पाठ मानेंगे तो सेनानी के निर्माण का कर्तृत्व ब्रह्मा जी में स्थिर होगा– त्वया सृष्टमिच्छामः। सभी देवताओं को यही अभीष्ट है। इसके अतिरिक्त यदि देवता सेनानी के निर्माण में समर्थ हैं तो उन्होंने ब्रह्मा जी से सेनानी के निर्माण की प्रार्थना ही क्यों की। वे स्वयं सेनानी का निर्माण कर सकते थे।

यह पाठ तार्किक विवेचन के उपरान्त सम्पादक द्वारा ग्रन्थसंगति को बनाये रखने के लिए स्वीकार किया गया। इस पाठ को समर्थन पाण्डुग्रन्थ से मिलता है। अमेरिका स्थित हार्वर्ड विश्वविद्यालय के ग्रन्थागार में स्थित कुमारसम्भव के पाण्डुग्रन्थ संख्या 833 में यह पाठ प्रकाशित है। इसकी प्रतिलिपि उपर्युक्त कालिदासग्रन्थावली के संस्करण के प्रारम्भ में प्रकाशित है।

2. तदन्यस्य प्रतीकनम् – सम्पादक को उपादेय पाठ के अतिरिक्त पाठों का उल्लेख कर देना चाहिए। सम्पादक का दायित्व बनता है कि वह उपलब्ध समस्त पाठों को प्रस्तुत करे और उपादेय पाठ को मूल के रूप में स्वीकार करे। ऐसा करने से अन्य पाठों के औचित्य और अनौचित्य के विषय में अध्येता स्वयं विचार कर किसी तार्किक निर्णय पर पहुंच सकता है। पाठभेदों के ग्रन्थसंकेत के साथ पादटिप्पणी में देना चाहिए। पाठभेद का सम्पूर्ण सन्दर्भ भी अपेक्षित है कि वह किस पाण्डुग्रन्थ में या किस प्रकाशित संस्करण में प्राप्त होता है।

महाकवि कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तल के मंगलपद्य के चतुर्थ चरण में अनेक पाठभेद मिलते हैं –

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नः/प्रसन्नाः/प्रपन्नांस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ।।

उपर्युक्त पद्य में महाकवि कालिदास ने अष्टमूर्त्ति शिव जी से सभी के कल्याण व रक्षा की कामना की है। जल, अग्नि, काल की गति के नियामक सूर्य और चन्द्र, शब्द, पृथ्वी, वायु और यज्ञ में आहुति प्रदान करने वाली यजमान की चेतना इन आठ तत्त्वों के रूप में शिव जी विराजमान हैं।

इस मंगलाचरणात्मक नान्दीपद्य के अन्तिम चरण में– प्रपन्नः, प्रसन्नाः और प्रपन्नान् तीन पाठ मिलते हैं। प्रथम दो विशेषण बनते हैं 'ईशः' पदवाच्य शिवजी के और तीसरा पाठ बनता है विशेषण 'वः' पदवाच्य भक्त का। महाकवि ने शिवजी से सभी की रक्षा की प्रार्थना की है। प्रपन्न का अर्थ है शरणागत, परन्तु यदि शिव को प्रपन्न मानेंगे– **प्रपन्नाः ईशः वः अवतु** – तो उनसे भक्त की रक्षा करने की प्रार्थना का औचित्य सिद्ध नहीं होगा।

शरणागति ईश के प्रति भक्त में अभीष्ट है न कि ईश की भक्त के प्रति। इसी प्रकार यदि शिवजी को प्रसन्ना मानते हैं– **प्रसन्नाः ईशः वः अवतु** – तो भी उनसे रक्षा करने की प्रार्थना करने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि जो प्रसन्न है वे रक्षा अवश्य करेंगे।

इन अनौचित्यों को ध्यान में रखते हुए कालिदासग्रन्थावली के आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित संस्करण में प्रपन्नाान् को मूलपाठ स्वीकार किया गया है। 'प्रपन्नान् वः ईशः अवतु' – अर्थात् शरणागत भक्तों की ईश (शिवजी) रक्षा करें। शरणागत भक्त हैं ग्रन्थकर्ता महाकवि कालिदास, अध्येता सहृदय और अभिज्ञानशाकुन्तल का अभिनय करते समय अभिनेता। 'वः' अव्यय युष्मान्, युष्मभ्यं और युष्माकम् इन तीन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः इसका अर्थ होगा – शिवजी भक्तिपूर्वक शरणागति को प्राप्त होने वाले कवि, अध्येता और अभिनेता सभी की रक्षा करें। प्रपन्ना शब्द का द्वितीया विभक्ति बहुवचन में 'प्रपन्नाान्' रूप बनता है और 'वः' भी द्वितीया बहुवचनान्त पद 'युष्मान्' के अर्थ का वाचक है। अतः दोनों में सामानाधिकरण्य के कारण विशेषण– विशेष्यभाव सिद्ध होता है।

विचार करने पर यही अर्थ महाकवि कालिदास को भी अभीष्ट रहा होगा। पूर्ववर्ती दोनों पाठों को स्वीकार करने से उत्पन्ना होने वाले अर्थविषयक अनौचित्य उदित का भी तार्किक समाधान हो जाता है। इस प्रकार के उपादेय पाठ का मूल के रूप में स्वीकार किया जाना किसी पाण्डुग्रन्थ में इसकी उपलब्धता की अपेक्षा नहीं करता। यहां अपपाठों के उदित होने में कारण हैं लिपिकर को ब्राह्मी लिपि का समुचित अभ्यास न होना। महाकवि कालिदास के समय ब्राह्मी लिपि अभ्यास में थी।। लिपिकर द्वारा 'प्रपन्नाान्' के स्थान पर 'प्रपन्ना' या 'प्रसन्ना' इन दो अपपाठों का लिखा जाना इसी लिपिगत अभ्यास की कमी या असावधानीपूर्वक अभिज्ञानशाकुन्तल की प्रतिलिपि के लेखन का परिणाम है।

यहां कवि के मूलभाव को ध्यान में रखकर पाठनिर्धारण किया गया है। महाकवि के अन्य नाटकों में से मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय में 'वः' अव्यय का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। मालविकाग्निमित्र के नान्दी पद्य में– सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः – और विक्रमोर्वशीयम् के नान्दी पद्य में– सः स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः – इस प्रकार महाकवि ने सबके कल्याण की कामना की है।

दोनों ही नाटकों के नान्दी पद्यों में महाकवि कालिदास ने 'वः' अर्थात् हम सबके कल्याण की कामना की है। ऐसी स्थिति में महाकवि को अभिज्ञानशाकुन्तल में भी प्रपन्ना भक्त की रक्षा ही अभीष्ट होगी और 'प्रपन्नाः' और 'प्रसन्नाः' के स्थान पर 'प्रपन्नाान्' पाठ मानना अधिक उचित है।

2. स्फुटस्याख्या / स्फुटव्याख्या – व्याख्यापद्धतियों में अनेक स्थलों पर व्याख्याकारों द्वारा – **निगदव्याख्यातम्** – अर्थ स्पष्ट है या व्याख्या की आवश्यकता नहीं – ऐसा लिखा मिलता है। व्याख्याकारों को जहां अर्थ

सर्वविदित हो या लोकप्रिय हो वहां किसी प्रकार के विशेष व्याख्यान से बचना चाहिए और निगद व्याख्यातम् इत्यादि प्रयोग के माध्यम से संकेत कर आगे के पाठों पर विचार करना चाहिए।

5. समाधानम् अनाकुलम् – सम्पादक का दायित्व बनता है कि वह अविवादित समाधान प्रस्तुत करे। परन्तु उसका समाधान अनाकुल होना चाहिए।

कहीं–कहीं उपलब्ध पाठभेदों में से चयनित पाठ पाण्डुग्रन्थों में उपलब्ध हो जाता है, जिससे सम्पादक द्वारा चयनित पाठ की प्रमाणिकता की सिद्धि होती है। उदाहरणार्थ चार नाटयवृत्तियों भारती, सात्त्वती, आरभटी और कैशिकी में से चतुर्थ वृत्ति का सर्वप्रचालित पाठ है 'कैशिकी' जबकि विचार करने पर 'कौशिकी' या 'कौशकी' यह पाठ अधिक समीचीन प्रतीत होता हैं। चारों नाट्यवृत्तियों में 'भारती' शब्दवृत्ति मानी जाती है तथा अवशिष्ट तीन अर्थवृत्तियां। 'केश' शब्द से ठक् प्रत्यय करने पर कैशिकी शब्द निष्पन्ना होता है जबकि 'कोश' शब्द से ठक् प्रत्यय करने पर कौशिकी या कौशकी। कौशिकी पाठ अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि यह वृत्ति शरीर के एक अंग विशेष 'केश' से निष्पन्न न होकर सम्पूर्ण शरीर 'कोश' की प्रतिनिधिभूत वृत्ति है।

कतिपय विद्वानों ने शृंगार रस की प्रधानता होने के कारण 'कौशिकी' यह पाठ माना है जो उचित नहीं क्योंकि आचार्य भरत के अनुसार कैशिकी का जो स्वरूप स्वीकार किया गया है उसमें नृत्यगीतादि, कामोपभोगादि, हसितरुदितादि का अभिनय कोशाश्रित ही होता है न कि केशाश्रित–

या श्लक्ष्णनैपथ्यविशेषभिन्ना स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता।
कोमोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति।।
बहुवाद्यनृत्यगीता शृंगाराभिनयचित्रनैपथ्या।
माल्यालंकारयुता प्रशस्तवेषा च कान्ता च।।
चित्रपदवाक्यबन्धैरलङ्कृता हसितरुदितरोषाद्यैः।
स्त्रीपुरुषकामयुक्ता विज्ञेया कैशिकीवृत्तिः।।

कौशिकी इस पाठ को कुमारसम्भव अष्टमसर्ग के 85 वें पद्य की टीका में आचार्य वल्लभदेव ने स्वीकार किया है–

स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः शातकुम्भकमलाकरैः समम्।
मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुषसि गीतमंगलः।।

इसके अतिरिक्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारत कला भवन में संरक्षित देवनागरी लिपि में लिखित पाण्डुग्रन्थ संख्या 2034 में उपर्युक्त पद्य के साथ लिखित पार्श्वटिप्पणी में चारों वृत्तियों का उल्लेख करते हुए लिपिकर जे कौशकी यह पाठ स्वीकार किया है–

कौशिकी स्यात्तु शृंगारे रसे वीरे तु सात्त्वती।
रौद्रबीभत्सयोर्वृत्तिर्नियतारभटी पुनः।।
शृंगारादिषु सर्वेषु रसेष्वष्टासु भारती।।
कौशक्यारभटी चैव सात्त्वती भारती तथा।

चतस्रो वृत्तयो ज्ञेयास्तासु नाट्यं प्रतिष्ठितम्।।

इससे सिद्ध होता है कि अद्यावधि प्रचलित पाठ कैशिकी के स्थान पर कौशिकी या कौशकी पाठ भी प्राचीन टीकाकारों व पाण्डुग्रन्थों में प्रसिद्ध थे।

यदि लिपि की दृष्टि से विचार किया जाय तो ब्राह्मीलिपि में लिखित मूलपाठ में एक रेखा मात्र के परिवर्तन से कौशिकी या कैशिकी पाठ बन जाता है। अतः लिपिकर द्वारा असावधानीपूर्वक प्रतिलिपि करना भी इस पाठभेद के प्रचलित होने में कारण बन सकता है।

इसी प्रकार का एक उदाहरण कालिदास वाङ्मय से विचारणीय है। महाकवि कालिदास विरचित रघुवंश महाकाव्य के एक पद्य में इस प्रकार की स्थिति आती है –

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतः स्वैरगतेः स तस्याः सम्राट् समाराधतत्परोऽभूत् ।।2.5।।

पुत्रप्राप्ति की कामना से महाराज दिलीप गुरु वशिष्ठ की गौ नन्दिनी की सेवा में तत्पर होते हैं उसको तृण के आस्वादपूर्ण ग्रास खिलाते हुए, कीट इत्यादि के दंश को हटाते हुए और उनसे उत्पन्ना खुजली दूर करते हुए। राजा अव्याहत गति थे और नन्दिनी स्वैरगति अर्थात् यथेष्ट गमन करने वाली।

उपर्युक्त पद्य में प्रकाशित संस्करणों में अव्याहतैः स्वैरगतैः सः, अव्याहतस्वैरगतैश्च, अव्याहतैः स्वैरगतैः, अव्याहतस्वैरगतेश्च, अव्याहतस्वैरगतेस्स इत्यादि पाठ मिलते हैं।

इन पाठों पर विचार करने और मूल में स्वीकृत पाठ अव्याहतः स्वैरगतेः स तस्या – पर विचार करने पर स्पष्ट होता है कि इस पद्य में समुच्चयवाची चकार के माध्यम से महाकवि ने समाराधन के तृतीया विभक्ति से द्योतित समस्त प्रकारों का संग्रह किया है। अतः उसके अन्नतर तृतीयान्त पदों – अव्याहतैः और स्वैरगतैः – इन दोनों का प्रयोग अतार्किक प्रतीत होता है। अतः मूलपाठ के रूप में – अव्याहतः स्वैरगतेः यह पाठ स्वीकार किया जाना चाहिए। अव्याहतः सः– यानी राजा था अव्याहत (स्वतन्त्र) गति वाला और स्वैरगतेः तस्याः– अर्थात् स्वैरगति (इच्छानुकूल गमन) वाली थी नन्दिनी। राजा का अव्याहतगति होना अनिवार्य है। उसके गमन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए जैसा कि सामान्यतः उसकी रक्षा को ध्यान में रख कर राज्याधिकारियों द्वारा लगाया जाता है। ऐसी स्थिति में राजा सर्वत्र गमन नहीं कर सकता और स्वतन्त्र होकर गौ के समाराधन में समर्पित नहीं हो पाता। यदि राजा के गमन पर प्रतिबन्ध होगा तो गौ की सेवा स्वतन्त्र रूप से सम्भव नहीं हो सकेगी।

इसी प्रकार नन्दिनी गौ को भी स्वैरगति होना चाहिए। वह जहां चाहे वहां भ्रमण करे। उसका भ्रमण राजा दिलीप के भ्रमण से नियन्त्रित नहीं होना चाहिए। ऐसा होने पर ही उसका समुचित समाराधन राजा द्वारा किया जा सकेगा।

इसके अतिरिक्त समाराधन के समस्त तृतीया विभक्ति से द्योतित प्रकारों के 'च' इस समुच्चयवाची अव्यय के प्रयोग से महाकवि कालिदास द्वारा स्वयं समाहार कर दिए जाने पर पुनः तृतीयान्त पदों – अव्याहतैः स्वैरगतैः – का प्रयोग समाराधन के प्रकारों के रूप में किया जाना अनुचित और अतार्किक है। यह शास्त्रसम्मत भी नहीं है।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए काशीहिन्दूविश्वविद्यालय से प्रकाशित कालिदासग्रन्थावली के द्वितीय संस्करण में आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने – अव्याहतः स्वैरगतेः – यह मूलपाठ स्वीकार किया है। ऐसा मानने पर अर्थसंगति का निर्धारण हो जाता है और महाकवि कालिदास के अभीष्ट अर्थ तक हम पहुंच जाते हैं। इस पाठ को समर्थन लन्दन स्थित वेलकम ट्रस्ट में सुरक्षित रघुवंश की पाण्डुलिपि संख्या 520 से प्राप्त होता है। जहां **'अव्याहतः स्वैरगतेः'** पाठ ही लिपिकर द्वारा लिखा गया है।

4. विरोधानां परिहारः– परस्पर विरोधी पाठभेदों पर तार्किक रूप से विचार कर सम्पादक को मूलपाठ का निर्धारण करना चाहिए। ऐसा करने पर पाठभेदों के निराकरण का तार्किक आधार स्पष्ट होता है और अध्येता की मूलपाठ के प्रति श्रद्धा स्थिर होतीहै।

सम्पादक की अन्तःप्रज्ञाश्रित तार्किक विचारपद्धति पाठनिर्धारण में सहायक बनती है और ग्रन्थ के अन्तर्विरोध का समाधान करने में समर्थ होती है। इसका उदाहरण बनता है आचार्य भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र का मंगलपद्य जहाँ आचार्य ब्रह्मा जी और शिवजी दोनों को प्रणाम निवेदित करते हैं परन्तु नाट्यशास्त्र का प्रतिपादक केवल ब्रह्मा जी को बताते हैं, शिवजी के नाट्यशास्त्र के प्रयोग पक्ष के निर्माण में स्मरण भी नहीं करते–

प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ।
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम् ।। 1.1।।

प्रणाम निवेदित है पितामह और महेश्वर दोनों को। मैं नाट्यशास्त्र का प्रतिपादन करने जा रहा हूँ जिसका उपदेश ब्रह्मा जी ने किया है।

नाट्यशास्त्र में सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं ब्रह्मा परन्तु प्रयोग के प्रवर्तक माने जाते हैं शिव जी। अतः दोनों का समान महत्त्व है नाट्यशास्त्र के निर्माण में।

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के काव्यलक्षणखण्ड के अनुवाद तथा टिप्पणी सहित संस्करण के प्रकाशन में आचार्य प्रो0 रेवाप्रसाद द्विवेदी ने इस कारिका को पादटिप्पणी में दे दिया और – **ब्रह्मणा यदुदाहृतम्** – इस पाठ के स्थान पर पाठ दिया – **द्वाभ्यां यत् समुदाहृतम् –** अर्थात् ब्रह्मा जी और शिवजी दोनों के द्वारा प्रतिपादित नाट्यशास्त्र का प्रतिपादन करने जा रहे हैं, यह अर्थ किया। इस प्रकार कारिका का मूल बनता है –

प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ।
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि द्वाभ्यां यत् समुदाहृतम् ।। 1.1।।

यह पाठ किसी पाण्डुग्रन्थ में नहीं मिलता परन्तु सम्पादक द्वारा अन्तःप्रज्ञाश्रित अर्थसंगति के आधार पर उपस्थित किया गया है। सभी पाण्डुग्रन्थों का अध्ययन करना सम्भव नहीं और करने पर यह पाठ मिल भी सकता है।

3-6 lkjka'k

संस्कृत भाषा या अन्य भाषाओं में विरचित प्राचीन ग्रन्थों के संस्करणों में अनेक पाठभेद विषयक विसंगतियां आज भी प्राप्त होती हैं। इनको दूर कर मूलपाठ का संरक्षण करना प्रत्येक ग्रन्थ के सम्पादक का दायित्व बनता है। मूलपाठ के निर्धारण के विषय में जो मानदण्ड आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा निर्धारित किए गए हैं ग्रन्थ सम्पादन में संलग्न सम्पादकों को उनको अपनाना चाहिए। आवश्यकता पड़े तो अपनी अन्तःप्रज्ञा के आधार पर मूलग्रन्थ के लेखक के अभिप्राय की रक्षा करते हुए तार्किक पाठ को मूलपाठ के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। पाण्डुग्रन्थों में पाठभेदों का उपस्थित होना लिपिकर के भाषा विषयक ज्ञान की कमी या असावधानीपूर्वक प्रतिलिपि निर्माण से सम्भव है। कहीं कहीं लिपिकर द्वारा कवि के अभिप्राय को ध्यान में न रखते हुए भी नवीन पाठों का निर्माण कर दिया जाता है। समस्त पाठभेदों को देखकर उपयुक्ततम का चयन करना प्रत्येक सम्पादक का दायित्व बनता है। अतः सम्पादन का कार्य लिपि तथा भाषा के ज्ञान, सम्पादित किए जाने वाले ग्रन्थ के विषय से परिचित होने, ग्रन्थरचयिता के मूल अभिप्राय से परिचित होने, पाण्डुग्रन्थों तथा प्रकाशित संस्करणों में उपलब्ध पाठों की तार्किक विवेचना के सामर्थ्य और अन्तःप्रज्ञाश्रित तार्किक विवेचना के आधार पर निर्धारित किया जाता है।

3-7 'kCnkoyh

अन्तःप्रज्ञा – सम्पादक की प्रज्ञा, उसका विषय के तार्किक विवेचन का सामर्थ्य।

हस्तलेख – प्राचीन समय में हाथ से लिखकर तैयार की गयी ग्रन्थ की प्रतिलिपि।

लिपिकर्ता – ग्रन्थ की प्रतिलिपि करने के व्यवसाय में संलग्न व्यक्ति।

अर्थसंगति – ग्रन्थरचयिता के अभिप्राय को समझ कर मूलपाठ पर विचार करना।

पाण्डुग्रन्थ – ग्रन्थ की प्राचीन प्रतिलिपि।

डाकुमेन्टेशन – पाण्डुग्रन्थों व प्रकाशित संस्करणों में प्राप्त पाठभेदों का संग्रह।

विश्वकोशात्मक– किसी विषय का विस्तृत प्रतिपादन करने वाला विशाल ग्रन्थ।

पाठपरिवर्तन – मूलपाठ में किया गया परिवर्तन।

पुनरुक्ति – किसी विषय का अनेक बार कथन।

अनुपादेय – प्रसंग या विषय के अनुरूप न होने से स्वीकार करने योग्य न होना।

अनाकुल – सभी के द्वारा ग्राह्य। किसी को आकुल या उद्विग्न न करने वाला।

पादटिप्पणी – ग्रन्थ के नीचे दिया जाने वाला सन्दर्भ या टिप्पणी।

मंगलपद्य – ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण के निमित्त प्रस्तुत पद्य।

3-8 lUnHkZ xzUFk

1. **महाभारत,** वेदव्यास, सं. विष्णु एस. सुक्थंकर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पुणे सन् 1966
2. **नाट्यशास्त्र,** भरतमुनि, सं. रामकृष्ण कवि, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1956
3. **रामायण,** महाकवि वाल्मीकि, सम्पादित मूलपाठ जी. एच. भट्ट, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1960
4. **कालिदासग्रन्थावली** (हिन्दी अनुवाद सहित) (प्रथम भाग– काव्यखण्ड, द्वितीय भाग– नाट्य खण्ड)– सं. आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रधान सम्पादक – प्रो0 मिथिला प्रसाद त्रिपाठी, सहा. सं. प्रो0 सदाशिव कुमार द्विवेदी, प्रकाशक कालिदास संस्कृत अकादमी, विश्वविद्यालय मार्ग उज्जैन, प्रकाशन वर्ष 2008
5. **शृंगारप्रकाश (खण्ड 1 व 2), रचयिता भोजराज,** सं. आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, सहा. सं. प्रो0 सदाशिव कुमार द्विवेदी, प्रकाशक इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली, 2005
6. **साहित्यशास्त्रमुच्चय** (साहित्यशास्त्रग्रन्थ मूलप्रकाशन शृंखला– प्रथम से सप्तम भाग– 11वाल्यूम)– आचार्य दण्डी काव्यलक्षणादर्श से लेकर शोभाकरमित्र के अलंकाररत्नाकर तथा अग्निपुराण में उपलब्ध साहित्यागम इत्यदि 30 से अधिक मूल ग्रन्थों के सम्पादित मूल का प्रकाशन– सम्पादक रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रो0 सदाशिव– कुमारद्विवेदी, प्रकाशक कालिदास संस्थान, 28 महामनापुरी, पोस्ट– काहिविवि, वाराणसी 221005, 2013 से 2017
7. **नाट्यशास्त्रम् (काव्यलक्षणखण्ड),** भरतमुनि, सम्पादक तथा अनुवादक रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला तथा आर्यन बुक्स इण्टरनेशनल, नई दिल्ली, 2005

3-9 cks/k iz'u

1. प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।
2. आचार्य अभिनवगुप्त के भारतीय ज्ञान परम्परा में अवदान को निरूपित करिए।

3. आचार्य अभिनवगुप्त के सम्पादन के सूत्रों का विवेचन कीजिए।
4. प्राचीन ग्रन्थों में उत्पन्न होने वाले पाठभेदों के कारणों का विवेचन कीजिए।
5. सम्पादन के किन्हीं दो सूत्रों का सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
6. अन्तःप्रज्ञा के आधार पर पाठभेद निर्धारण के महत्त्व पर सोदाहरण प्रकाश डालिए।
7. कतिपय ग्रन्थों के सम्पादित संस्करणों का उल्लेख करते हुए सम्पादन के महत्त्व पर प्रकाश पर प्रकाश डालिए।